Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

111505

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाब यूनिवर्सिटी चण्डीगढ़

111505

111505

२६

परिशोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादक : डॉ० धर्मपाल मैनी
सह सम्पादक
डॉ० मैथिली प्रसाद भारद्वाज
डॉ० यश गुलाटी

क्रम

सम्पदाकीय
युग-कवि सुमित्रा नन्दन पन्त 3 डॉ० धर्मपाल मैनी
शोध निबन्ध
परम्परा और आधुनिकता : एक दृष्टि 7 डॉ० सियाराम तिवारी
भरत का रस-सूत्र : एक पुनर्विवेचन 12 डॉ० प्रेमकान्त टण्डन
कबीर दर्शन के स्रोत 28 डॉ० विष्णुदत्त राकेश
आलोचना का समाजशास्त्र और गजानन माधव मुक्तिबोध 35 आशा सिंह
हर्ष महाकवि ही नहीं, महान् वैयाकरण भी थे 41 शशिधर शर्मा
समाकालीन बोध और धूमिल की काव्य-चेतना 49 डॉ० हुकुम चन्द राजपाल
पृथ्वी थियेटर्स : नव मूल्यांकन 60 शशि प्रभा अत्री
अरण्य-काण्ड के धार्मिक विम्ब 69 डॉ० चन्द्र किशोर यादव
पंजाबी रामायण और रामचरित मानस 78 कु० सीता सैनी
आंध्र वाग्गेयकार श्री शिवनारायण तीर्थुलु : कृतित्व एवं व्यक्तित्व 88 श्रीमती आर० कामेश्वरी
राजनीति से मोहभंग की कविता 94 राकेश प्रेम
शासक और शासित में तनाव : स्वातंत्र्योत्तर नाटक का झुकाव 100 डॉ० दर्शन कुमार जैन
कविता में लय की सार्थक उपलब्धि 103 श्री रामदेव आचार्य
पुस्तक-परिचय
सूर की काव्य चेतना 107 श्री नरेन्द्र आर्य
लम्बी कविताओं का रचना-विधान 109 श्री गणेश दास
चिन्तन का एक सीमान्त : तुलसी दास : नये साक्षात्कार 112 डॉ० लक्ष्मी नारायण शर्मा
नीच ते ऊच कीओ मेरे सतिगुर 114 डॉ० यश गुलाटी
हस्तलेख-परिचय
चरण दास की रचनाएं 116 डॉ० बेणी प्रसाद शर्मा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

HL

PARISHODH.

1978

G. K. V.
Lib
HARDWAR

सम्पादकीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युग-कवि सुमित्रानन्दन पन्त

कवि श्री सुमित्रानन्दन पंत का पार्थिव शरीर महतत्त्वों में विलीन हो गया। प्रकृति-पुत्र प्रकृति की सनातन गोद में सदा के लिए सो गया और उसका ही एक अंग बन गया। अखण्ड सौन्दर्यमयी चेतना का आगार परम सनातन, शुभ्र, शाश्वत और भास्वर चेतनहिम में लय होकर स्वयं हिमालय बन गया। विराट हिमालय, विराट प्रकृति और विराट के सौन्दर्य के शिल्पी कवि पन्त की सौम्यतम प्रतिमा काव्य-मंदिर में सदा अवस्थित रहेगी। महत्तम काव्य-प्रतिमा के लिए आरोपित अवसान का खतरा उसी अवस्था में संभव है जब उत्कृष्ट काव्य के प्रतिमान ही बदल जाएं और उन प्रतिमानों के आधार पर उनके काव्य को अप्रासंगिक घोषित कर दिया जाए।लेकिन हमारा विश्वास हैं, जब कभी भी आधुनिक युग के सन्दर्भ में उनके काव्य का मूल्यांकन होगा, उसमें सुधीजनों को अक्षय काव्य-निधियों का आभास होगा। इसलिए यदि कहा जाए कि देहातीत होकर वे सब दिन के लिए अमर हो गए तो अधिक उचित होगा।

इस अवसर पर मुझे एक घटना याद आ रही है। प्रकृति के सौम्य कवि पंत को पढ़ने वाले पंजाब के कुछ विद्यार्थी आज से लगभग बीस-इक्कीस वर्ष पूर्व उनका क्रियात्मक परिचय पाने उन्हें प्रयाग मिलने जा पहुंचे। कोमल-भावों के कवि को भी उन्होंने वैसा ही कोमल पाया। इस भाव-साधर्म्य से उन्हें विश्वास हो गया कि कवि का जीवन ही जब वैयक्तिक अनुभूति के माध्यम से कलात्मक शब्दावली में रूपायित हो जाए तो कालजयी काव्य-सृजन होता है : और पंत का भाव-प्रवण आरम्भिक काव्य भी इसका प्रमाण है। विद्यार्थी उनसे न केवल साहित्य, अपितु वैयक्तिक जीवन सम्बन्धी प्रश्न भी पूछते रहे और वे सहज आत्मीयता से अपनी व्याख्याएं प्रस्तुत करते रहे! सभी ने अनुभव किया कि पंत का मूल कवि उनके व्यक्तित्व एवं व्यवहार की तरह ही कोमल, मधुर, मदिर, विनयशील, सौम्य, शालीन और आत्मीय है और उसकी अभिव्यक्ति खड़ी बोली के 'खड़ेपन' से बहुत दूर। उनकी मसृण-देह तथा बात-चीत की मन्द-मन्द स्निग्धता एवं संगीतात्मकता से भरपूर थी। यही उनके काव्य की अभिव्यक्ति के विषय में भी सत्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युग-धर्म पालन के प्रयत्न में पंत का कवि ज्यों-ज्यों विचारक एवं प्रौढ़ होता गया, त्यों-त्यों उनका कवित्व कम होता गया। उनका परवर्ती-काव्य युग-चेतना की दृष्टि से बना रह सकता है, पर उनका वास्तविक कवि तो आरम्भिक काव्य के माध्यम से ही अपना विशेष स्थान बनाएगा—

कहो कौन हो तुम दमयन्ती सी
तुम तरु के नीचे सोई ?
हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि ! नल सा निष्ठुर कोई ?
पीले पत्रों की शैय्या पर
तुम विरक्ति सी मूर्छा सी,
विजन विपिन में कौन पड़ी हो
विरह-मलिन, दुख विधुरा सी ?
पछतावे की परछाईं सी
तुम भू पर छाई हो कौन ?
दुर्बलता सी अंगड़ाई सी,
अपराधी सी भय से मौन !

पंत का मूल-कवि करुणार्द्र हो जब विगलित होता है, तब उसका निखरा हुआ रूप हमारे सामने आता है। जड़ में चेतन का संचार कर देना और अमूर्त्त को रूपायित कर देना—किसी ही प्रतिभावान् कवि की सृजन-धर्मिता का परिचायक होता है। इतना ही नहीं, सांस्कृतिक चेतना से उसका मधुर स्पर्श करवाकर उसे आत्मीयता प्रदान करना और भावानुकूल मधुर अभिव्यक्ति से अनायास ही हृदयंगम करा देना—कवि की कारयित्री प्रतिभा की सफलता का द्योतक है। पंत की सहज अनुभूति यहाँ इतनी सरल, स्पष्ट एवं सरस अभिव्यक्ति पा सकी हैं, जिससे सहृदय मानव आह्लादित होता ही है।

यहाँ हम पंत के काव्य का पूर्णतया विश्लेषण नहीं कर सकते, उस पर मात्र विहंगम दृष्टि डाल सकते हैं। द्विवेदी-युगीन आदर्शवादिता, संयमन में भावों का बन्धन, प्राचीन के प्रति अत्यधिक मोह, आधुनिक का अस्वीकरण, व्याकरणिक शुद्ध-भाषा के प्रयत्न में उसकी काव्य-गत गरिमा का अभाव आदि प्रमुख युगीन साहित्यिक मूल्यों को सहज ही ठुकरा कर—काव्य के नए मार्ग को प्रशस्त करने का बहुत कुछ श्रेय-अन्य छायावादी कवियों के साथ—पंत को भी प्राप्त है। अपनी मसृण, कोमल, मधुर, मदिर, संगीतात्मक शब्दावली से खड़ी बोली का 'खड़ापन' दूर करने में सम्भवतः इनका योगदान सर्वाधिक है। यदि ऐतिहासिक एवं साहित्यिक विकास के परिप्रेक्ष्य में हम इसे ठीक से देख सकें, तो यह उनकी बहुत बड़ी देन है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंत को हमने 'युग-कवि' कहा है । उन्होंने अपने कवित्व के माध्यम से न केवल अपने युग के भावों, विचारों और मूल्यों को प्रतिबिम्बित करने का ही प्रयत्न किया है, अपितु प्रशस्त-मार्ग का दिशा-निर्देश भी किया है । यह और बात है कि अपने इस सम्पूर्ण प्रयत्न में उनका कवि कितना जीवित रह सका है या प्रभावोत्पादक बन कर सामने आया है । लेकिन यह भी क्या महत्त्वपूर्ण नहीं है, कि परस्पर एकदम विरोधी लगभग सभी विचार-धाराओं को उन्होंने अपने काव्य का माध्यम प्रदान किया है, चाहे वह छायावाद हो या प्रगतिवाद, गांधीवाद हो या अध्यात्मवाद । काव्यरूपों की दृष्टि से प्रबन्ध हो या मुक्तक, प्रगीत की दृष्टि से पुरातन हो या नवीन, पाश्चात्य हो या भारतीय ; भाषा की दृष्टि से सरस हो या सपाट ; शैली की दृष्टि से भाव-प्रवण हो या शुष्क ; लगभग आधी शताब्दी के सभी तत्त्वों को युग-धर्म मानकर उन्होंने अपनी वाणी को अभिव्यक्ति दी है, अतः उन्हें 'युग-कवि' कहना उचित ही है । ऐसे कवि पंत आज हमारे बीच न रहकर भी सदा के लिए विराजमान हो गए हैं । हिन्दी-जगत् उनकी साहित्यिक गरिमा के प्रति नतशिर होकर अपना आभार-मात्र प्रदर्शन कर सकता है, ऋण-मुक्त नहीं । इसे हम दिवंगत आत्मा के प्रति अपनी भावप्रवण श्रद्धांजलि भी कह सकते हैं ।

धर्मपाल मैनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोध निबन्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० सियाराम तिवारी
हिन्दी-भवन
शांति निकेतन
(वीरभूम) प. बं.

परम्परा और आधुनिकता : एक दृष्टि

AB UNIVERSITY, HANDIGARH

'आधुनिकता' अंगरेजी के 'मोर्डनिटी' शब्द का अनुवाद है और अंग्रेजी-साहित्य की देखादेखी हिंदी-साहित्य में भी इसकी चर्चा होने लगी। हिंदी में इसकी क्या धारणा होनी चाहिए, यह निर्धारित करने के पूर्व यह देख लेना आवश्यक है कि अन्य विचारकों की दृष्टि में आधुनिकता क्या है।

नवम्बर, 1959 में श्री शिक्षायतन कॉलेज, कलकत्ता में 'आधुनिक साहित्य-बोध' विषय पर एक परिसम्वाद आयोजित हुआ था जिसमें हजारी प्रसाद द्विवेदी, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' धर्मवीर भारती, देवराज और नामवर सिंह ने भाग लिया था। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा कि "आधुनिकता के बोध के सम्बन्ध में हम जिस कठिनाई की बात करते हैं वह केवल भाषा और अर्थ की नहीं, क्षण-प्रतिक्षण बदलती हुई मनुष्य की व्यक्तिगत और सामाजिक चेतना को समझने की कठिनाई है।" इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्य में युगानुसार भाषा, वस्तु तथा जीवन-दृष्टि में जो परिवर्तन होता है वह आधुनिकता है। इस प्रकार आधुनिकता स्वयं आधुनिक न होकर एक सनातन तत्त्व हो जाएगी क्योंकि ऐसा परिवर्तन प्रत्येक जीवित साहित्य में सदा से स्वतः होता रहता है। किन्तु आगे जब वे कहते हैं कि "आधुनिकता साहित्य के प्रतीयमान रूप को स्पर्श करती है, खरोंचती है, उसके अंतर्निहित स्थिर और विकासमान धर्म को नहीं," तो बात अस्पष्ट हो जाती है। अन्यत्र अपने 'परम्परा और आधुनिकता' शीर्षक निबंध में द्विवेदी जी अधिक स्पष्ट हुए हैं। वहां उन्होंने आधुनिकता के तीन लक्षण बताए हैं —पहला ऐतिहासिक दृष्टि, दूसरा इसी संसार में मनुष्य को सब प्रकार के भयों से मुक्त करके सुखी बनाने का आग्रह और तीसरा व्यक्ति-मानव के स्थान पर समष्टि-मानव अर्थात् सम्पूर्ण मानव-समाज की कल्याण-कामना। ये बातें बहुत स्पष्ट हैं, इसमें कोई संदेह नहीं, पर विचारणीय है कि ये तत्त्व तो छायावादी-प्रगतिवादी काव्य में भी दिखाई पड़ते हैं। फिर यदि उस समय इन तत्त्वों को आधुनिकता नाम देने की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई तो आज ही इस 'आधुनिकता' शब्द से अभिहित करने की क्या आवश्यकता है? तात्पर्य यह है कि द्विवेदी जी के कथन से यह स्पष्ट नहीं होता कि साम्प्रतिक लेखन में वह कौन सा तत्त्व है जो पूर्ववर्ती किसी भी युग के साहित्य में नहीं था और जिसे आधुनिकता के अतिरिक्त किसी अन्य शब्द से अभिहित नहीं कर सकते।

धर्मवीर भारती आधुनिकता-बोध और संकट-बोध को एक बताते हुए कहते हैं कि प्रत्येक युग अपने समय में आधुनिक रहा है। आधुनिकता का यह बड़ा स्थूल अर्थ है और ऐसा अर्थ लेने पर यह चर्चा का कोई विषय ही नहीं रह जाती है। देवराज आधुनिक उसको मानते हैं जिसका जगद्बोध आधुनिक है और जो उस बोध के आलोक में नयी मूल्य-चेतना का विकास करने के लिए उत्सुक व तत्पर है। इस कथन से तो इनका मंतव्य अस्पष्ट ही रह जाता है क्योंकि फिर यह प्रश्न उठता है कि आधुनिक जगद्बोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्या है। किन्तु आगे चलकर जब वे आधुनिकता के तीन उपादान बताते हैं—जनभाषा से निकटता, भावुकता से मुक्ति और बहिर्मुखी दृष्टि, तो बात कुछ स्पष्ट होती है किंतु ध्यातव्य है कि ये उपादान हिंदी-काव्य-साहित्य के इतिहास में आधुनिक युग के पूर्व भी देखे जा सकते हैं। जनभाषा से निकटता जायसी और कबीर में देखी जा सकती है तथा बहिर्मुखी दृष्टि द्विवेदी-युगीन कविता की विशेषता है। पर न तो आज जायसी-कबीर को कोई आधुनिक मानने के लिए तैयार है और न द्विवेदी-युगीन कविता को। इसी तरह आधुनिक कविता में बहिर्मुखी दृष्टि मानना भी संगत नहीं; वह तो आत्म-चिंतनात्मक है।

दिनकर जी ने **शुद्ध कविता की खोज** में आधुनिकता पर विस्तार से विचार किया है। वे विषय में आधुनिकता न मानकर उसे देखने वाली नई दृष्टि में आधुनिकता मानते हैं और शैली के पक्ष में इस नवीन दृष्टि के प्रधान चार लक्षण निरूपित करते हैं। वे चार लक्षण हैं, आवेशमयी भाषा के प्रयोग से बचना, शब्दों की मितव्ययिता यथातथ्य वर्णन और श्रोताओं को प्रभावित करने की अनिच्छा। 'शैली के पक्ष में' कह देने के कारण इस बात की आकांक्षा शेष रह जाती है कि आखिर विषय की नवीनता क्या है किंतु इसका उत्तर उन्होंने कहीं नहीं दिया है। इसके विपरीत वे स्पष्ट कहते हैं कि आधुनिक-बोध की मांग है कि रचना में प्रवृत्त लेखक और कवि अपने कथ्य की चिंता न करें, चिंता हमेशा उन्हें इस बात की करनी चाहिए कि उनकी लिखाई कैसी हो रही है, उनका शैली-तंत्र कितना कसा हुआ, ताजा और चुस्त है। स्पष्ट है कि दिनकर जी शैली में ही आधुनिकता का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, कथ्य में नहीं। फिर शैली के जो ये चार तत्त्व हैं उनमें से अंतिम को छोड़कर शेष तीन काव्यभ-ाषा की अनिवार्य विशेषताएं हैं जो किसी भी उत्तम काव्य में दिखाई देती हैं।

'अज्ञेय' आधुनिकता को आधुनिक सम्वेदना समझते हैं और यह प्रश्न उठाते हैं कि सम्वेदना के साथ 'नई' या 'पुरानी' विशेषण लगाना कहां तक उचित है। फिर, वे आगे कहते हैं कि सम्वेदना का सम्बन्ध जैविक परिस्थिति से नहीं, साँस्कृतिक परि-स्थिति से है। अर्थात् वे मानते हैं कि साहित्य-बोध और साँस्कृतिक-बोध एक ही चीज़ है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि 'अज्ञेय' के अनुसार आधुनिकता का सम्बन्ध वर्तमान साँस्कृतिक परिस्थिति से है। यहां फिर यह प्रश्न उठता है कि साँस्कृतिक परिस्थिति केवल आज ही नहीं बदली है, इसके पहले भी इसमें परिवर्तन देखे गए हैं और उनका प्रभाव भी तद्युगीन साहित्य पर परिलक्षित होता है। तब उसको आज क्या नाम देंगे ? वस्तुतः 'अज्ञेय' आधुनिकता और समसामयिकता को एक मानते प्रतीत होते हैं।

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय भी आधुनिकता और सम-सामयिकता को एक बतलाते हुए कहते हैं कि कुछ लोग जब आधुनिकता की व्याख्या करते समय उसे समसामयिकता या पुरातनता से भिन्न और इतिहास तथा ऐतिहासिकता से विच्छिन्न क्रम स्वीकारते हैं तो उनके ग्राम्य भाव पर हंसी आये बिना नहीं रहती। आधुनिकता को इतिहास तथा ऐतिहासिकता से विच्छिन्न समझना अवश्य हास्यास्पद है, पर आधुनिकता को समसामयिकता समझना भी हास्यास्पद ही है।

रामस्वरूप चतुर्वेदी आधुनिकता और समसाम-यिकता को पृथक्-पृथक् बतलाते हुए कहते हैं कि आधुनिकता वर्तमान के संदर्भ में भविष्योन्मुख दृष्टि है और तत्पश्चात् वे आधुनिकता के पांच संघटक तत्त्व बतलाते हैं—क्षण का महत्त्व, बौद्धिकता, रागात्मक तटस्थता, नया सौंदर्य-बोध और नये नैतिक प्रतिमान। आधुनिकता को भविष्योन्मुख दृष्टि बताना, यह एक स्पष्ट और उचित बात है और आधुनिक सम्वेदना के जो संघटक तत्त्व बताए गए हैं वे भी यथार्थ और स्पष्ट हैं। अब प्रश्न यह है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिक सम्वेदना के ये बताए गए तत्त्व भविष्योन्मुख दृष्टि के परिचायक किस प्रकार हैं। यह बिल्कुल सम्भव है कि आधुनिकता के इन तत्त्वों में से सबको अथवा कुछ को भविष्य अस्वीकार कर दे। तब, इन तत्त्वों को भविष्योन्मुख दृष्टि का परिचायक मानकर आज आधुनिकता को संज्ञा कैसे दे सकते हैं ?

लक्ष्मीकांत वर्मा के अनुसार आधुनिकता देश-काल के बोध का परिचायक है और मानव-प्रगति द्वारा जोड़े गए जीवन के नए अर्थ और नए परिवेश की स्वीकृति है। वर्मा जी के इस कथन से आधुनिकता और समसामयिकता एक ही चीज़ ठहरती हैं, यद्यपि आगे चलकर उन्होंने दोनों को पृथक् सिद्ध करने के लिए बहुत प्रयत्न किया है। इंद्रनाथ मदान के अनुसार आधुनिकता एक जीवन-बोध है जिसमें प्रश्न-चिह्न की निरंतरता है, मध्यकालीन और रोमांटिक बोध का अस्वीकार है। इस कथन में दो बातें हैं—प्रश्न-चिह्न की निरंतरता और मध्यकालीन तथा रोमांटिक बोध का अस्वीकार। इनमें से दूसरी बात तो समझ में आती है, पर प्रश्न-चिह्न की निरंतरता से क्या अभिप्राय है, यह स्पष्ट नहीं होता। इनके कथन का जितना ग्रंश स्पष्ट है उससे यही प्रतीत होता है कि ये आधुनिक युग के नयेपन को ही आधुनिकता समझते हैं।

नगेन्द्र आधुनिकता के सम्बन्ध में तीन बातें करते हैं प्रथम, भूत से उच्छिन्न और भविष्य से पराङ्मुख आधुनिकता की धारणा वाग्विलास मात्र है। द्वितीय आधुनिकता के लक्षण हैं युग-बोध. परम्परा का संशोधन, विकास की आकांक्षा आदि। और तृतीय, आधुनिकता साहित्य-सर्जना की एक विधि है, कोई मूल्य नहीं। जहाँ तक पहली बात का सम्बन्ध है, यह आपत्तिजनक नहीं है। आधुनिकता ही क्यों, साहित्य-सर्जना का कोई भी तत्त्व भूत से कटकर और भविष्य से विमुख होकर अपना अस्तित्व नहीं रख सकता। अब आधुनिकता के जिन तीन लक्षणों के नाम लिये गये हैं वे विचारणीय हैं। युग-बोध का सम्बन्ध आधुनिकता से नहीं माना जा सकता, वह समसामयिकता का जनक है। परम्परा का संशोधन प्रत्येक युग-परिवर्तन में होता है। परम्परा के संशोधन-परिवर्धन से ही युग बदलता है। अतः लक्षण के रूप में इसका उल्लेख आवश्यक नहीं है। यही बात विकास की आकांक्षा के साथ है। विकास की आकांक्षा भी युग-परिवर्तन की जननी है और इसके भी नामोल्लेख की आवश्यकता नहीं है। आधुनिकता मूल्य नहीं है, यह ठीक है, पर यह विधि कैसे हो सकती है ?

इन विचारों के सम्बन्ध में तीन बातें हैं। पहली तो यह कि सबके विचार भिन्न-भिन्न हैं, इस पर किन्हीं भी दो में मतैक्य नहीं है। दूसरी बात यह कि इनमें से किसी ने भी यह बताने का प्रयत्न नहीं किया है कि उनके मत के आलोक में किस कवि को आधुनिक कहा जा सकता है। और तीसरी बात यह है कि इन सबके विचारों का उतना ही अंश पूर्ण स्पष्ट है जितने का सम्बन्ध काव्य भाषा से है।

तब आधुनिकता है क्या ? आधुनिकता भूत और और भविष्य के बीच की कड़ी है। आधुनिकता परम्परा-रूपी पर्वत के ग्रंतर से फूटी हुई वह निर्झरिणी है जो पर्वत के पाद-प्रदेश में खो नहीं गयी है वरन् मैदान में सरिता बनकर प्रवाहित हो रही है। आधुनिकता परम्परा के वृंत पर खिला हुआ वह फूल है जो आगे चलकर फल बनने वाला है।

इस स्थल पर रुककर परम्परा को स्पष्ट कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। परम्परा वह कड़ी है जो अपने आगे और पीछे, दोनों ओर से जुड़ी है। परम्परा का अर्थ अतीत नहीं है। परम्परा का अर्थ वह क्रम है जो एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, इस रूप में चला आ रहा है। परम्परा वह प्राण-धारा है जो अतीत से चली आ रही है और भविष्य में भी किसी न किसी रूप में चलती रहेगी। परम्परा प्राप्त करने का अर्थ सम्पूर्ण अतीत को प्राप्त करना नहीं है। अतीत का निरंतर कटता-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छंटता रूप ही परम्परा है और वही हमें प्राप्त होता है। इस परम्परा के संदर्भ में ही आधुनिकता का कुछ अर्थ हो सकता है। यदि ऐसी बात नहीं है तो आधुनिकता को कुछ दूसरा नाम देना पड़ेगा। परम्परा और आधुनिकता एक सनातन भाव है। व्यक्ति दोनों पैर एक साथ नहीं उठाता, एक स्थिर रखकर ही दूसरा आगे बढ़ाता है और स्थिरता तथा गतिशीलता का यह क्रम बदलता रहता है। स्थिर पग परम्परा है और बढ़ा हुआ चरण आधुनिकता है। इसी प्रकार कल की आधुनिकता आज की परम्परा है। और आज की आधुनिकता कल परम्परा बनेगी।

इससे स्पष्ट है कि आधुनिकता और समसामयिकता में अन्तर है। रचनाकार पर समकालीन गतिविधि का जो प्रभाव पड़ता है वह समसामयिकता है। ऐसा प्राय: प्रत्येक रचनाकार के साथ कुछ न कुछ और किसी न किसी प्रकार होता है। इसलिए प्रत्येक रचयिता एक हद तक समसामयिक है। इसके विपरीत रचनाकारों में आधुनिक कोई ही कोई होता है समसामयिकता का सम्बन्ध वर्तमान से और आधुनिकता का सम्बन्ध भविष्य से है। इस तरह आधुनिकता समसामयिकता से आगे बढ़ी हुई चीज़ है। कोई-कोई विलक्षण चेतना-सम्पन्न कलाकार परम्परा की गोद में बैठा हुआ भी भविष्य की आहट को सुन लेता है तो वह आधुनिक कहलाता है। भक्ति काल (1318-1643 ई०) में उत्पन्न कृपाराम अपने समय के आधुनिक थे जिन्होंने 1541 ई० में **हिततरंगिणी** की रचना कर एक शताब्दी बाद आने वाले रीतिकाल (1643-1843 ई०) को दिखा दिया था। प्रसिद्ध कृष्णभक्त कवि नन्द दास (1533-1583 ई०) ने **रसमंजरी** लिखकर, केशव दास (1555-1617 ई० के लगभग) ने **रसिकप्रिया, कविप्रिया** और **छंदमाला** की रचना कर तथा रहीम (1556-1626 ई०) ने **बरवै नायिका भेद** और **नगरशोभा** का प्रणयन कर अपनी आधुनिकता प्रदर्शित की थी। रीतिकाल में बिहारी, बाँकीदास (1781-1833 ई०) और सूर्यमल मिश्रण (1815-1868 ई०) आधुनिक थे जिनकी राष्ट्रीय चेतना भारतेंदु को पारकर बीसवीं शताब्दी की धर्मनिरपेक्ष राजनीति-अवलम्बित राष्ट्रीय चेतना को छू रही थी। द्विवेदी-युग के श्रीधर पाठक (1859-1928 ई०) और मुकुटधर पांडेय (जन्म 1895 ई०) आधुनिक थे जिन्होंने आगे आने वाले छायावाद-युग को देख लिया था। छायावाद के बृहत् चतुष्टय में से एक 'निराला' आधुनिक थे जिन्होंने **नये पत्ते** (1946 ई०) और **कुकुरमुत्ता** (1948 ई०) में नयी कविता का आभास दिया था।

जिस प्रकार आधुनिकता समसामयिकता नहीं है उसी प्रकार वह नयापन भी नहीं है। जो लोग यह मानते हैं कि बीसवीं शताब्दी के पूर्व के साहित्य में आधुनिकता की खोज निरर्थक है वे शायद यह मानते हैं कि काल स्थिर है। नयापन का सम्बन्ध वैयक्तिकता से है। प्रत्येक रचनाकार में एक प्रकार की जो विशिष्टता रहती है उसी को नयापन कहा जा सकता है। नयापन समसामयिकता भी नहीं है। किसी रचनाकार में समसामयिकता नहीं होने पर भी नयापन रह सकता है। नयापन का सम्बन्ध व्यक्तित्व से होने के कारण यह एक अनिवार्यता है।

आधुनिकता के अवस्थान के विषय में विचारकों ने बहुत कुछ कहना चाहा है, पर घूमफिर कर सब पहुंचे हैं भाषा पर ही और भाषा के सम्बन्ध में जो कहा है केवल वही स्पष्ट भी है, शेष अस्पष्ट है। इससे आधुनिकता की धारणा भाषा पर अवलम्बित ठहरती है। ऊपर कहा जा चुका है कि परम्परा के संदर्भ में ही आधुनिकता का कुछ अर्थ हो सकता है और परम्परा अपने सही अर्थ में यदि कहीं द्रष्टव्य होती है तो वह भाषा में, अत: आधुनिकता का भी अवस्थान भाषा ही हो सकती है। ऐसा होते हुए भी मैं मानता हूं कि आधुनिकता वस्तु में भी अद्रष्टव्य नहीं हो सकती। नन्ददास, केशवदास, 'निराला' आदि की आधुनिकता भाषागत और वस्तुगत, दोनों थी। इस सम्बन्ध में निष्कर्ष यही है कि इस युग में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिकता अधिक स्पष्ट होकर भाषा के क्षेत्र में ही उभरी है किन्तु वस्तु में इसकी सत्ता असम्भव नहीं कही जा सकती।

आधुनिकता के सम्बन्ध में यह विचार करना भी परमावश्यक है कि यह साहित्य की सभी विधाओं में सम्भव है या नहीं। इस सम्बन्ध में यही मानना उचित प्रतीत होता है कि आधुनिकता का सम्बन्ध केवल रचनात्मक साहित्य से है और उसमें भी कविता से अधिक। इसका कारण यह है कि आधुनिकता वस्तुत: चेतना का एक अंश अथवा सम्वेदना है और सम्वेदना की बात रचनात्मक साहित्य में ही आती है, आलोचनात्मक साहित्य में नहीं। कविता में इसका आधिक्य दो कारणों से होता है। एक तो यह कि सम्वेदना की मात्रा साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा कविता में सर्वाधिक होती है और दूसरा यह कि आधुनिकता भाषा के क्षेत्र में सबसे अधिक उभरकर सामने आती है और भाषा का ही कविता में सर्वाधिक महत्त्व भी है।

अंत में एक प्रश्न यह विचारणीय रह जाता है कि आधुनिकता को मूल्य अथवा श्रेष्ठ काव्य का निकष माना जाय अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में भारत और बाहर के विचारक एकमत हैं कि आधुनिकता मूल्य नहीं है। सचमुच आधुनिकता के लक्षण को देखते हुए इसका मूल्य नहीं माना जाना सब प्रकार से उचित प्रतीत होता है। यह सत्य है कि आधुनिकता भविष्य को देख सकने की कवि की क्षमता की परिचायक है किन्तु कवि केवल इस गुण से ही महान् नहीं होता। भविष्य-पथ को प्रशस्त करना कवि का एक गुण अवश्य है, पर न तो यह एक मात्र गुण है और न सर्वश्रेष्ठ। निष्कर्ष यही है कि आधुनिकता मूल्य अथवा श्रेष्ठ काव्य की कसौटी नहीं है, यह चेतना का एक अंश मात्र है।

आधुनिकता के सम्बन्ध में अंतिम बात यह है कि यह साहित्येतिहास का एक विचार-बिन्दु है। कोई रचनाकार आधुनिक है या नहीं, इसकी परीक्षा आज नहीं, कल होगी। आज की जो प्रवृत्तियाँ कल पल्लवित-पुष्पित हो पायेंगी, वे ही आज की आधुनिकता कही जायेंगी और कल के लिए परम्परा होंगी। आज की जो प्रवृत्तियाँ छूट जायेंगी, वे कहीं की नहीं रहेंगी। आधुनिकता को लोग ऐतिहासिक परिस्थितियों में खोजते हैं और आधुनिक युग में वैज्ञानिक उन्नतियों के फलस्वरूप जो राजनीतिक सामाजिक, सांस्कृतिक, औद्योगिक परिवर्तन हुए हैं उनसे आधुनिकता को जोड़ते हैं। यह निरर्थक प्रयास है। साहित्य में जो आधुनिकता है उसको इन परिवर्तनों से कोई प्रयोजन नहीं।

साम्प्रतिक हिंदी-कविता में आधुनिकता है या नहीं, इसके सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि यह नया अवश्य है पर आधुनिक है अथवा नहीं, इसका निर्णय भविष्य करेगा।

संदर्भ-ग्रन्थ

1. आधुनिक साहित्य-बोध (एक परिसम्वाद), श्री शिक्षायतन कॉलेज, कलकत्ता।
2. नयी कविता के प्रतिमान, लक्ष्मी कांत वर्मा।
3. समकालीन हिन्दी-कविता, रवीन्द्र भ्रमर।
4. परिप्रेक्ष्य और प्रतिक्रियाएं, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय।
5. हिन्दी नवलेखन, राम स्वरूप चतुर्वेदी।
6. शुद्ध कविता की खोज, रामधारी सिंह 'दिनकर'।
7. हिन्दी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य, सच्चिदानन्द वात्स्यायन अज्ञेय।
8. "परम्परा और आधुनिकता", हजारी प्रसाद द्विवेदी।
9. नयी समीक्षा : नये सन्दर्भ, नगेन्द्र।
10. हिन्दी-उपन्यास : पहचान और परख, स० इन्द्रनाथ मदान।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० प्रेमकान्त टण्डन
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद।

भरत का रस-सूत्र : एक पुनर्विवेचन

रस के शास्त्रीय विवेचन से सम्बन्धित प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ भरत का नाट्यशास्त्र है। रस सम्बंधी समस्त परवर्ती चिंतन का आधार भरत का रस-निष्पत्ति-सूत्र विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः है।[1] स्पष्ट है, कि सूत्र में रस की निष्पत्ति का निर्वचन किया गया है। लेकिन परवर्ती आचार्यों द्वारा की गई व्याख्याओं के विस्तार-क्रम में उक्त सूत्र मात्र रस-निष्पत्ति-परक सूत्र न रहकर रस के स्वरूप लक्षण का भी प्रकाशक बन गया। इसलिए भरत ने तो नहीं, अभिनव गुप्त ने इसे रस-लक्षण-सूत्र ही कहा है।[2]

जैसा कि 'नाट्यशास्त्र' अभिधान से स्पष्ट है, भरत का मूल विवेच्य नाट्य (रंगमंच पर नट द्वारा साक्षात् अभिनय लोकवृत्त) है। अतः, उन्होंने रंग-मंच, अभिनय और नट को सर्वाधिक महत्व दिया है। प्रेक्षक पर भी उनका ध्यान है। अपनी नाट्य-परक दृष्टि के अनुसार उन्होंने दर्शक के लिए सामाजिक या 'सहृदय' के स्थान पर (सुमनस) 'प्रेक्षक' शब्द का ही प्रयोग किया है। हालांकि अक्सर ऐसा लगता है कि नाट्यशास्त्रीय विवेचन में प्रेक्षक को जितना महत्व दिया जाना चाहिए था उतना भरत ने नहीं दिया। भरत की दृष्टि आपातत: (दार्शनिक प्रतिबद्धता से मुक्त) व्यावहारिक और वस्तुपरक प्रतीत होती है। अपनी व्यावहारिक दृष्टि के कारण भरत नाटककार और उसके सर्जक व्यक्तित्व के प्रति बहुत कम सचेत दिखाई देते हैं। शायद वे सूत्रधार को नाटककार का स्थानापन्न समझ लेते हैं। जहां उन्होंने उसका संकेत किया भी है, वहाँ उनका वह संकेत सिद्धान्त तक ही सीमित रह गया है, व्यवहार में उसका प्रतिफलन लक्षित नहीं होता। नाट्य मूलत: नट-कर्म है और नट-कर्म अभिनय व्यापार है, जिसको भरत ने सर्वाधिक महत्व दिया है। कवि कर्म को, नाट्य के सर्जनात्मक पक्ष को, भरत ने प्राय: उपेक्षित कर दिया है। कदाचित् यही कारण है कि पात्र और नट का अंतर और परस्पर संबन्ध भी भरत की दृष्टि से ओझल रहा है। परिणामस्वरूप, व्यावहारिक रूप में वह नाट्य को एक चेतन व्यक्तित्व की सर्जनात्मक कृति के स्तर पर ग्रहण न करके लोक यथार्थ के स्तर पर ग्रहण करते प्रतीत होते हैं। जहां तक रस का प्रश्न है, रस उनकी दृष्टि के केन्द्र बिंदु समग्र व्यापक नाट्य का एक तत्व मात्र है, हालांकि वह उसका अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है। उनकी रस-विषयक अवधारणा मूलतः उनकी इसी वस्तुपरक नाट्य-परिकल्पना पर आधारित प्रतीत होती है और उनके रस विवेचन को इसी परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करना उचित लगता है।

वैसे रस के विषय में भरत के मंतव्य का निश्चय कर पाना बहुत कठिन है। इसके अनेक कारण हैं: उनके सम्बद्ध विवेचन में अभिप्रेत अर्थ की अपूर्ण, अपर्याप्त प्रस्तुति है : शब्द प्रयोग में विविधता, शिथिलता और अनेकार्थता है। इसके अतिरिक्त, कहीं-कहीं तो शब्द और संदर्भ सर्वथा अव्याख्यायित छोड़ दिये गये हैं। इन सब कारणों से उनके मंतव्य के निश्चय में बाधा उत्पन्न होती है और अर्थ-निर्णय में मतभेद की गुंजाइश पैदा हो जाती है। बल्कि,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कभी-कभी तो भरत की मूल प्रेरक-दृष्टि की बनावट के बारे में भी संदेह होने लगता है।

भरत सूत्र का सीधा-सादा अर्थ है : विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरत के अनुसार रस नाट्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है, क्योंकि रस के बिना नाट्य का कोई अर्थ प्रवर्तित नहीं होता : न तो विभावादि अस्तित्व प्राप्त कर सकते हैं और न वे बोधगम्य हो सकते हैं। क्या विभावादि के सयोग और उनके संयोग से होने वाली रस निष्पत्ति के लिए कोई दृष्टान्त दिया जा सकता है ? भरत ने दृष्टान्त दिया है, और बताया है कि जिस प्रकार नाना व्यंजनों, औषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से (भोज्य) रस की निष्पत्ति होती है उसी प्रकार नाना भावों के संयोग (उपगम) से (नाट्य) रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुड़ आदि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से षाडव आदि रस बनते है उसी प्रकार अनेक भावों से मिलकर (उपगत) स्थायी भाव भी रसत्व को प्राप्त होते हैं (आप्नुवन्तीति)।

अतः, उक्त व्याख्या के अनुसार सूत्र का अर्थ हुआ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के साथ स्थायी भाव का संयोग होने से रस की निष्पत्ति होती है। लेकिन सूत्र के इस अर्थ को लेकर परवर्ती व्याख्याकारों के समक्ष अनेक जिज्ञासाएं और समस्याएं उठ खड़ी हुईं, यथा :—

1. सूत्र में प्रयुक्त संयोग और 'निष्पत्ति' शब्दों का वास्तविक अर्थ क्या है ?
2. 'संयोग' का स्वरूप क्या है ?
3. यदि विभावादि का संयोग स्थायी भाव के साथ होता है तो सूत्र में स्थायी भाव का उल्लेख क्यों नहीं है ?
4. स्थायी भाव किसका होता है ?
5. सूत्र में सात्विक भाव का भी उल्लेख क्यों नहीं है ?
6. विभावादि का परस्पर और अलग-अलग रस से क्या संबंध है ?
7. रस की निष्पत्ति का स्वरूप क्या है ?
8. रस का स्वरूप क्या है ? वह आस्वाद्य है या आस्वाद ?
9. रस का अधिष्ठान क्या है ?
10. रस का आस्वादन कौन करता है और किस प्रकार करता है ?

भरत ने 'संयोग' के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग किया है, यथा : 'उपगम' 'उपगत' और 'उपेत'। इसके अर्थ इस प्रकार हैं :—

उपगम—निकट जाना, संसर्ग या समागम होना, सहभागी होना

उपगत—निकट पहुंचा हुआ, घटित सिद्ध

उपेत—समीप आया हुआ, युक्त, सम्पन्न।[3]

इस प्रकार, उक्त तीनों शब्द प्रायः पर्यायवाची हैं। अतः, 'संयोग' का अर्थ हुआ—सामीप्य प्राप्त करना संसर्ग या समागम होना या युक्त, सम्पन्न होना। तद्नुसार सूत्र का अर्थ हुआ—जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का स्थायी भाव से संसर्ग या समागम होता हैं तब रस की निष्पत्ति हो जाती है।[4]

लेकिन व्याख्या के क्रम में भरत ने संयोग-व्यापार की परिणामी सिद्धि के लिए 'संस्कृत' शब्द का भी प्रयोग किया है, यथा :—

यथा हि नानाव्यंजनसंस्कृत अन्न भुंजाना——।[5]

अर्थात्, जिस प्रकार नाना व्यंजनों से संस्कृत अन्न को खाकर सुमनस पुरुष रसास्वदन करते हैं और हर्ष आदि को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार नाना भावों और अभिनयों से व्यक्त वाचिक, आंगिक तथा तथा सात्विक अभिनयों से युक्त स्थायी भाव का सुमनस प्रेक्षक आस्वादन करते हैं।

भरत ने कोई स्पष्टीकरण तो नहीं दिया है, लेकिन इसके अनुसार माना जा सकता है कि—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्न=स्थायीभाव

विभाव आदि=द्रव्यादि

रस=षाडव रस (भोज्य रस)

दृष्टान्त में प्रयुक्त 'संस्कृत' शब्द के कारण 'संयोग' का अर्थ उपगम, उपगत आदि के कोशगत अर्थ से भिन्न हो जाता है : जब नाना व्यंजनों का अन्न से संयोग होता है तब अन्न 'संस्कृत' भी हो जाता है, और इस प्रकार, 'संस्कृत' हुए अन्न को सुमनस पुरुष खाकर हर्षादि को प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार से, जब नाना भावों का स्थायी भाव से संयोग होता है तब स्थायी भाव 'संस्कृत' भी हो जाता है, अर्थात् उसका संस्कार—परिष्कार भी हो जाता है। यहां, इस 'परिष्कार' का आशय यह समझा जा सकता है कि 'संस्कृत' स्थायी भाव की स्थूलता-लौकिकता तिरोहित हो जाती है, वह संसर्गमुक्त और प्रत्यय रूप हो जाता है, और तब तक सुमनस प्रेक्षक के लिए आस्वाद्य हो जाता है।

अतः, 'संयोग' का अर्थ विभावादि और स्थायी भाव का एकत्रीकरण नहीं है : वह विभाव, अनुभाव, व्यभिचार का स्थायी भाव से संयोग या समागम मात्र नहीं है, बल्कि एक ऐसा समागम है जिसमें स्थायी भाव का संस्कार-परिष्कार भी हो जाता है, और तब वह रसत्व को प्राप्त करता है। यहां स्पष्ट है कि स्थायी भाव रस का आधारभूत तत्व है, बिना उसके रस अस्तित्व प्राप्त नहीं कर सकता, तथापि स्थायी भाव ही रस नहीं है, यह भी स्पष्ट है। रसत्व को प्राप्त होने के लिए स्थायी भाव विभावादि के समागम रूप एक संस्कारक प्रक्रिया से गुज़रता है। यह प्रक्रिया एक प्रकार से एक विशिष्ट रासायनिक अंतर्प्रक्रिया जैसी होती है, जिससे गुजर कर नाना भावों का समागम एक अभिनव पदार्थ 'रस' के रूप में सिद्ध होता है। इसमें सभी विभावादि उपकरण अपनी-अपनी पृथक सत्ता का विलयन कर एक नये तत्व में निष्पन्न होते हैं, जिसे रस कहते हैं। यह रस नामक पदार्थ अनेकता में एकता की सिद्धि है। जिस प्रकार अन्न, द्रव्य आदि उपकरण अलग-अलग आस्वाद्य नहीं होते, उसी प्रकार स्थायी भाव, विभाव आदि भी अलग-अलग आस्वाद्य नहीं होते। जिस प्रकार नाना द्रव्यों से संस्कृत अन्न ही आस्वाद्य होता है, उसी प्रकार नाना भावों से संस्कृत स्थायी भाव ही आस्वाद्य होता है, और इस आस्वाद्य रूप में ही उसे 'रस' कहा जाता है। इसलिए, भारत के अनुसार, 'संयोग' का अर्थ होना चाहिए—'संस्कारक समागम'।

जिस प्रकार 'संयोग' शब्द का अर्थ स्वयं भारत ने स्पष्ट नहीं किया, और उसके लिए अनेक पर्याय-वाचियों का प्रयोग किया, उसी प्रकार 'निष्पत्ति' का अभीष्ट अर्थ भी उन्होंने स्पष्ट नहीं किया, और उसके लिए भी अनेक शब्दों का प्रयोग किया। दृष्टान्त में निष्पत्ति के लिए भरत ने दो ही शब्द प्रयुक्त किये हैं :—निर्वर्त्यन्ते और 'आप्नुवन्तीति'। इनके अर्थ इस प्रकार हैं :—

(1) निर्वर्त्यन्ते : (यह 'निर्वर्त्यते' का बहुवचन है) निर्वर्त्यते का अर्थ है' : पूर्ण होना, सिद्ध होना बनना, उत्पन्न होना, आस्तित्व में ले आना, निष्पन्न होना।

(2) आप्नुवन्तीति :—प्राप्त होना।[6]

दृष्टान्त के अतिरिक्त, भावाक्षेप से 'निष्पत्ति', के लिए अन्य शब्द भी अन्यत्र भरत के द्वारा प्रयुक्त किये गये माने जा सकते हैं, यथा :—

(1) एवं भावा भावयन्ति रसाभिनयैः सह... ।[7]

अर्थात्, इसी प्रकार (विभाव, अनुभाव आदि) भाव अभिनयों के साथ मिलकर रसों को भावित (निष्पन्न) करते हैं।

(2) दृश्यते हि भावेभ्यो रसानामभिनिर्वृत्ति...।[8]

अर्थात्, भावों से रसों की 'अभिनिर्वृत्ति' देखी जाती है। उक्त 'भावित' और अभिनिर्वृत्ति के अतिरिक्त भरत ने भाव और रस के सम्बन्ध में व्यंजित, अभिव्यक्ति, उत्पत्ति, सिद्धि आदि शब्दों का भी प्रयोग किया है, यथा :—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यंजित–अभिव्यंजित

(1) नानाभावभिनयव्यंजितान वागंगसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति [9]

अर्थात्, (उसी प्रकार) अनेक भावों और अभिनयों के द्वारा व्यंजित किये गये वाचिक, आंगिक, सात्विक अभिनयों से युक्त स्थायी भाव का आस्वादन करते हैं।

(2) एवमेते काव्यरसाभिव्यक्ति हेतव एकोन पंचादशभावाः प्रत्यवगन्तव्या [10]

अर्थात्, (इस प्रकार) काव्य-रस की अभिव्यक्ति के कारण भूत ये उन्यास भाव जानना चाहिए।

(3) यदि काव्यार्थसंश्रितैर्विभावानुभावव्यंजितैरकोन पंचादशभावैः सामन्यगुणयोगेनामिनिष्पद्यन्ते रसास्तत्कथं स्थायिन......।[11]

अर्थात्, यदि काव्य के अर्थ (नाट्य-वस्तु) पर आश्रित विभानुभाव से व्यंजित उन्यास भावों से, सामान्य गुण के योग से रस निष्पत्ति होती है··।

(4) नानाभावाभिनय व्यंजितान् वागंगसत्वोपेतान स्थायिभावानास्वादयन्ति, सुमनसः।[12]

अर्थात् नाना प्रकार के भावों और 'अभिनयों के द्वारा व्यक्त किये गये वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनयों से युक्त स्थायी भाव का सुमनस आस्वादन करते हैं।

(5) इति श्री भारतीये नाट्यशास्त्रे भावव्यंजको नाम सप्तमोअध्याय :।[15]

अर्थात्, भरत के नाट्यशास्त्र का यह भाव व्यंजक नामक सातवां अध्याय समाप्त होता है।

उत्पत्ति–उत्पद्यते

(1) तदेषां रसानामुत्पत्ति वर्ण दैवत्——।[14]

अर्थात्, अब इन रसों की उत्पत्ति, वर्ण, देवता तथा उदाहरण आदि का निरूपण करेंगे।

(2) वीराच्चैवाद्मुतोत्पत्तिर्वीभत्साच्च भयानकः।[15]

अर्थात् वीर से अद्भुत और वीभत्स से भयानक की उत्पत्ति होती है।

(3) स च——उत्पद्यते।[16]

अर्थात्, वह—आदि विभावों से उत्पन्न होता है।

'निष्पत्ति' शब्द का कोशार्थ चाहे जो हो, और रस की निष्पत्ति का चाहे जो अर्थ भरत को अभिप्रेत रहा हो, उन्होंने रस की निष्पत्ति के लिए अनेक शब्दों का प्रयोग किया है—रस की निष्पत्ति होती है, सिद्धि होती है, रस बनते हैं, भावित होते हैं, रसत्व प्राप्त होता है, रस की अभिनिर्वृत्ति होती है, अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति होती है।

'निष्पत्ति' के लिए उक्त विभिन्न और विभिन्नार्थी शब्दों का प्रयोग भरत की शब्द-प्रयोग की चेतना की शिथिलता प्रकट करता है। इस प्रयोग-वैविध्य को देखते हुए 'निष्पत्ति' के सम्बन्ध में उनके द्वारा प्रस्तुत दृष्टान्त के आधार पर भी किसी निष्कर्ष पर पहुंचना बहुत कठिन है। दृष्टान्त में एक स्थान पर तो दोनों ओर 'निष्पत्ति' शब्द का ही प्रयोग किया गया है—

यथा हि नाना व्यंजनौषधिर्दव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः तथा नाना भावोपगमाद्रसनिष्पत्ति :।

इसलिए यहां निष्पत्ति के अर्थ का निश्चय नहीं हो सकता। दूसरे स्थल पर षाडव रस के लिए निष्पत्ति–व्यापार के सम्बन्ध में 'निर्वर्त्यन्ते' शब्द का प्रयोग है और नाट्य-रस के सम्बन्ध में 'आप्नुवन्तीति शब्द का। 'निर्वर्त्यन्ते' का अर्थ है—सिद्ध होते हैं, पूर्ण होते हैं, बनते हैं। और 'आप्नुवन्तीति का अर्थ है—प्राप्त होते हैं। अतः, भरत के भाष्य का अर्थ हुआ—जिस प्रकार गुड़ादि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधि से षाडव आदि रस सिद्ध होते हैं उसी प्रकार नाना भावों के संयोग से स्थायी भाव भी रस रूप में सिद्ध होते हैं, रसत्व को प्राप्त करते हैं। डा० नगेन्द्र ने निष्पत्ति के लिए प्रयुक्त 'निर्वर्त्यन्ते' के अनेक अर्थों में से बनते हैं, अर्थ को प्रस्तुत संदर्भ में उपयुक्त पाया है :[17] जिस प्रकार नाना द्रव्यादि का (अन्न से) संयोग होने पर एक नया पदार्थ, षाडव रस, बनकर तैयार हो जाता है उसी प्रकार नाना भावों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थायी भाव से संयोग होने पर एक नया पदार्थ रस (नाट्य) बनकर तैयार हो जाता है। 'अभिनिर्वृत्ति' का अर्थ भी सिद्ध या निष्पन्न होता है।

अब तीन शब्द रह जाते हैं—उत्पत्ति, अभिव्यक्ति और भावित। इन सभी शब्दों का प्रयोग भरत ने रस के संदर्भ में 'निष्पत्ति' के लिए किया है। उत्पत्ति का सामान्य कोशार्थ है जन्म, और अभिव्यक्ति का अर्थ है—प्रदर्शन। दर्शनशास्त्रीय दृष्टि से ये दोनों शब्द अत्यन्त भिन्नार्थक, बल्कि विपरीर्थाक भी हैं—अभिव्यक्ति का अर्थ है अव्यक्त वस्तु का व्यक्त रूप में प्रकट हो जाना, अर्थात् कारण में कार्य की पूर्व विद्यमानता, और उत्पत्ति का अर्थ है एक सर्वथा नूतन सृष्टि, अर्थात् कारण में कार्य का पूर्व विद्यमान न रहना, और इस रूप में 'उत्पत्ति' का संबंध असत्-कार्यवाद से जुड़ जाता है। (वैसे, उत्पत्ति की व्याख्या सत्कार्यवाद (सांख्य) के आधार पर भी की गई है।) बताया गया है कि भरत ने उत्पत्ति का प्रयोग सर्वथा नूतन सृष्टि के अर्थ में नहीं किया हैं, क्योंकि रस की स्थायी भाव सहित सभी आधारभूत सामग्री पहले से ही विद्यमान रहती है और उनके संयोग से रस की सिद्धि हो जाती है। सिद्धि का अर्थ 'निर्मिति' करते हुए कहा गया है—निर्मिति का अर्थ है विद्यमान उप-करणों के संयोग से नवरूप-रचना, जो आधारभूत उपकरणों की परिणति होते हुए भी उनसे भिन्न होती है। ......दृष्टान्त के आधार पर निष्पत्ति का भरत-सम्मत अर्थ यही बैठता है।[18] लेकिन, जैसा मैंने कहा, इतने निश्चय के साथ निष्पत्ति के भरत-सम्मत अर्थ का निर्धारण नहीं किया जा सकता। भरत ने पूरे प्रसंग को जिस ढंग से और जिस शब्दा-वली में प्रस्तुत किया है उससे उनपर न्याय-दर्शन के प्रभाव का संकेत मिलता है, और लगता है कि 'उत्पत्ति का प्रयोग उन्होंने असत्कार्यवाद के संदर्भ में किया होगा। नैयायिक कारण-कार्य सम्बन्ध मानते हैं, लेकिन कारण में कार्य की पूर्व विद्यमानता नहीं मानते। उनके अनुसार, कार्य आधारभूत सामग्री की परिणति होते हुए भी कारण से भिन्न ही नहीं, अत्यन्त भिन्न, एक सर्वथा नूतन सृष्टि होता है। नैयायिक के अनुसार कारण और कार्य (अवयव-अवयवी आदि) में अयुतसिद्ध (समवाय) सम्बन्ध होता है, जैसे तन्तु और पट अथवा मिट्टी और घट में और कारण कार्य का नियतपूर्वभावी होता है। विभावादि रस के अयुतसिद्ध नियतपूर्वभावी कारण हैं। नैयायिक गुण और क्रिया रूप असमवायि कारण की भी सत्ता मानते हैं। कारण और कार्य के बीच संबन्ध-स्थापन समवायिकारण के गुण-धर्म रूप 'संयोग' नामक असमवायि कारण से होता है। भरत सूत्र में विभावादि (अवयव और समवायि कारण) के गुण-धर्म रूप 'संयोग' (असमवायि कारण) से रस (अवयवी और कार्य) की सिद्धि होती है। इसके अतिरिक्त, नैयायिक के अनुसार, समवायि कारणों में कार्य की सिद्धि के लिए जो साधकतम, सर्वोत्कृष्ट कारण होता है उसे एक विशेष संज्ञा 'करण' दी जाती है।[19] कार्य रूप रस-सिद्धि व्यापार में 'स्थायी भाव' सर्वोत्कृष्ट और साधकतम कारण है। बहुत सभव है कि रस रूप कार्य की सिद्धि में स्थायी भाव की इस सर्वप्रधानता के कारण ही भरत ने विभावादि अन्य (अपेक्षाकृत अप्रधान) कारणों के साथ मूल सूत्र में स्थायीभाव का उल्लेख न करके अलग उसका विशिष्ट उल्लेख किया हो। भरत के सूत्र और दृष्टान्त में नैयायिक उत्पत्तिवाद के बीज विद्यमान हैं। यह सही है कि घट का आधारभूत उप-करण मिट्टी है, जो घट के पूर्व विद्यमान रहता है, और घट उसी का परिवर्तित रूप है, लेकिन घट के रूप में घट मिट्टी से अत्यन्त भिन्न, एक सर्वथा नूतन सृष्टि है। व्यावहारिक दृष्टिकोण यही है, और वस्तु-वादी भरत संभवतः भौतिक दर्शन न्याय की इसी व्यावहारिक दृष्टि से प्रभावित रहे होंगे। इसलिए निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति=नूतन सृष्टि भी किया जा सकता है, और यही अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त अर्थ प्रतीत होता है। संभव है कि भट्टलोल्लट भरत की इसी नैयायिक दृष्टि से प्रभावित हुए हों।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भरत ने 'संयोग' के स्वरूप का स्पष्टीकरण नहीं किया है, उन्होंने यह नहीं बताया है संयोग की प्रक्रिया में विभावादि में से प्रत्येक की क्या भूमिका होती है। लेकिन दृष्टान्त के आधार पर यह माना जा सकता है कि भरत रस की सिद्धि को एक क्रमिक और बहुविध सम्पन्न प्रक्रिया मानते होंगे, इसके गुण-दोष चाहे जो हों। विभावादि का स्थायी भाव से संयोग, अर्थात् संस्कारक समागम, रस-सिद्धि की एक क्रमिक-प्रक्रिया है, रस की निष्पत्ति या सिद्धि या रस रूप नूतन पदार्थ का आविर्भाव उस प्रक्रिया की पूर्णता है।

प्रश्न है कि क्या प्रस्तुत प्रसंग में भरत पर किसी दर्शन विशेष (न्याय या सांख्य) का प्रभाव मानना आवश्यक है? आवश्यक तो नहीं है, प्रसंग में प्रयुक्त शब्दों के दर्शनशास्त्रीय अर्थों से भिन्न सामान्य कोशार्थ भी ग्रहण किये जा सकते हैं, और संयोग=समागम, उत्पत्ति=(नूतन) सृष्टि, में उनके कोशार्थ ही ग्रहण किये गये हैं, लेकिन दार्शनिक ऊहापोहों के बीच रहते हुए मुनि भरत का उनसे सर्वथा अप्रभावित रह जाना अकल्पनीय लगता है। इसलिए दर्शन विशेष से प्रतिबद्ध न मानते हुए भी भरत को दार्शनिक चेतना से अनुविद्ध तो माना ही जा सकता है। उनके द्वारा प्रयुक्त 'संयोग' 'उत्पत्ति' आदि शब्द दर्शनशास्त्र के ही हैं. उनके शास्त्रीय अर्थ और कोशार्थ में यदि संगति बैठायी जा सकती है, या बैठ सकती है तो यह बहुत अच्छा है।

भरत के द्वारा प्रयुक्त एक और शब्द है—'व्यंजित'। व्यंजित का प्रयोग भरत ने दो स्थानों पर भाव के संदर्भ में और एक स्थान पर अभिनय के संदर्भ में किया है। उद्धरण 3 और 4 और 5)। व्यंजित का पारिभाषिक अर्थ है—ध्वनित। अभिनवगुप्त ने मयूराण्डन्याय अथवा घट-द्वीप न्याय के आधार पर 'अभिव्यक्ति' की व्याख्या करते हुए अभिव्यक्ति को ध्वनन-व्यापार (रूप रसाभिव्यक्ति) के अर्थ में व्यंजना-व्यापार के पर्याय के रूप में ग्रहण किया है। डा० राममूर्ति त्रिपाठी ने उद्धरण 3 में प्रयुक्त 'व्यंजित' को पारिभाषिक प्रयोग मानकर भरत के अनुसार रस की आस्वादरूपता का प्रतिपादन किया है। इसके फलस्वरूप भरत की मूलदृष्टि विषयपरक न रहकर विषयिपरक प्रतीत होने लगती है। लेकिन डा० त्रिपाठी की स्थापना अनेक कारणों से भरत-सम्मत नहीं लगती। व्यंजना शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में अर्थात् ध्वनन-व्यापार (रूप सौंदर्यानुभूति) के अर्थ में सर्वप्रथम कब हुआ? प्रदर्शित के सामान्य कोशगत अर्थ में तो इनका प्रयोग बहुत पहले से होता रहा है लेकिन अद्यावधिक शोधों के आधार पर ध्वनन-व्यापार के अभिज्ञान का सर्वप्रथम संकेत उद्भट के काव्यालंकार सार संग्रह' में मिलता है, इसके पूर्व नहीं। उद्भट का समय 750-850 ई० माना गया है।[20] पर्यायोक्त अलंकार प्रसंग में उद्भट का कथन है—पर्यायोक्त उस अलंकार को कहते हैं जिसमें कोई बात दूसरे ही प्रकार से कही जाती है, ऐसे प्रकार से, जो वाच्य और वाचक की वृत्तियों से भिन्न 'अवगम' रूप होता है।[21] उद्भट का यह श्लोक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इससे यह संकेत मिलता है कि उस समय तक वाच्य और वाचक की अभिधा और लक्षण शक्तियाँ ही ज्ञात और स्वीकृत थीं, ध्वनन-व्यापार रूप वाच्य-वाचक की व्यंजना नामक शक्ति उस समय तक ज्ञात और स्वीकृत नहीं थी। उद्भट के उक्त वक्तव्य में यह भी संकेतित है कि यदि ध्वनन-व्यापार रूप कोई शब्द-शक्ति ज्ञात या स्वीकृत थी भी तो भी उसे 'व्यंजना' अभिधान उस समय तक प्राप्त नहीं हुआ था, अन्यथा उद्भट ने 'अवगम' का प्रयोग शायद न किया होता। 'अवगम' से उद्भट का तात्पर्य ध्वनन-व्यापार ही है, क्योंकि स्वयं आनन्दवर्द्धन ने व्यंजना के लिए अन्य अभिधानों के अतिरिक्त एक स्थान पर 'अवगमन' का भी प्रयोग किया है।[22] इसलिए, भरत ने व्यंजना का प्रयोग ध्वनन-व्यापार के अर्थ में नहीं किया होगा। इसके अतिरिक्त, भरत प्रस्तुत उद्धरण में 49 भावों को व्यंजित मान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहे हैं, जिनमें 8 सात्विक भाव भी सम्मिलित हैं। लेकिन सात्विक भाव व्यंग्य नहीं होते, स्वयं भरत ने भी उनको अनुभाव रूप मान लिया है। इसलिए सात्विक भावों के लिए भी प्रयुक्त 'व्यंजित' को 'ध्वनित' के अर्थ में प्रयुक्त नहीं माना जा सकता। और फिर, उद्धरण 4 और 5 में 'व्यंजित' और 'व्यंजक' के प्रयोग से तो एकदम स्पष्ट हो जाता है कि भरत ने व्यंजित का प्रयोग ध्वनन-व्यापार के पारिभाषिक अर्थ में नहीं किया है। अत: उक्त शब्द के आधार पर भरत को अभिव्यक्तिवादी और उनके दृष्टिकोण को विषयिपरक मानना उचित नहीं है।

अधिक संभव यह है कि भरत ने अपनी व्यावहारिक, अभिनयपरक और विषयपरक दृष्टि के अनुसार व्यंजित शब्द का प्रयोग 'व्यक्त' प्रकटित या प्रदर्शित के अर्थ में किया हो। भरत का नाट्यविवेचन प्रयोग-प्रधान है, और नाट्य-प्रयोग की सिद्धि अभिनय द्वारा ही होती है। वास्तव में भरत की परिकल्पना के अनुसार समस्त नाट्य-कर्म अभिनय में ही समाविष्ट हैं। उनके भाव भी सर्वत्र चित्तवृत्ति रूप न होकर अभिनय रूप हैं। नाट्य में मनोभाव प्रदर्शित होते हैं, वे विभावानुभाव द्वारा व्यक्त अभिनय रूप ही होते हैं। नट का कार्य भावों और विचारों को नाट्य में रूपायित करना है, उसके अनुभव अभिनय रूप भाव-प्रदर्शन हैं। धनंजय के टीकाकार धनिक ने अपनी व्याख्या में भरत की भाव के सम्बन्ध में अभिनयपरक वस्तुनिष्ठ दृष्टि को सर्वथा स्पष्ट कर दिया है——

यत्तु 'रसान्भावयन्भावैः' इति 'कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भावः' इति च तत् अभिनयकाव्योः प्रवर्तमानस्य भावशब्दस्य प्रवृतिनिमित्तकथनम्।[23]

अर्थात्, '(भाव की व्युत्पत्ति दूसरे ढंग से भी की गई है)—भाव वह है जो रसों को भावित करता है या भाव वह है जो कवि के आन्तरिक भाव को भावित करता है। ये दो व्युत्पत्तियां उस भाव शब्द की की गई हैं, जो अभिनय (व काव्य का) बोधक (या प्रवर्त्तक) हैं।

अतः, उपर्युक्त विवेचन से भरत की दृष्टि की वस्तुनिष्ठता और नाट्यपरकता की ही पुष्टि होती है। इसलिए 'संयोग' और 'निष्पत्ति' के अपेक्षाकृत अधिक भरत-सम्मत अर्थ इस प्रकार माने जा सकते हैं——

संयोग—संस्कारक समागम

निष्पत्ति—सिद्धि—उत्पत्ति—प्रकटित या प्रदर्शित

और तदनुसार भरत सूत्र का अर्थ हुआ—विभावादि का स्थायी भाव से जब संस्कारक समागम होता है तब रस (रंगमंच) पर उत्पन्न हो जाता है।

अगला प्रश्न है कि विभावादि का जिस स्थायी भाव से संयोग होता है वह स्थायी भाव किसका होता है—मूल अनुकार्य (व्यक्ति) का, नायक अर्थात् नट् का, प्रेक्षक का याकि नाटककार (कवि) का? भरत के अपने विवेचन से इस प्रश्न का भी कोई स्पष्ट उत्तर नहीं मिलता। दृष्टान्त से ऐसा प्रतीत होता है कि भरत नट के स्थायी भाव का रसत्व को प्राप्त होना मानते हैं —

नानाभावाभिव्यंजितान् वांगसत्वोपेतान स्थायिभावानास्वादयन्ति......।[24] अर्थात् नाना भावों और अभिनयों के द्वारा व्यक्त किये गये वाचिक, आंगिक और सात्विक अभिनयों से युक्त स्थायी भाव का सुमनस प्रेक्षक आस्वादन करते हैं। लेकिन सप्तम अध्याय के सात्विक भाव सम्बन्धी विवेचन में भरत ने नट द्वारा अभिनीत भाव के स्वानुभव का यह कह कर स्पष्ट निषेध कर दिया है कि नट द्वारा भावों को इस प्रकार अभिनीत करना चाहिए कि वे यथार्थ की भांति प्रतीत हों। और यह ठीक भी लगता है, क्योंकि नट मूल घटनागत भाव का आश्रय आदि नहीं हो सकता, वह तो लोकवृत्त को रंगमंच पर यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने का माध्यम मात्र है। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसंग में भरत के द्वारा अपनी ओर से केवल एक ही स्पष्ट संकेत किया गया है, और सप्तम अध्याय की यह कारिका बहुत महत्वपूर्ण है——

वागंग मुखरागेण सत्वेनाभिनयेन च ।

कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते ।।

अर्थात् कवि के अन्तर्गत भाव को भावित करने के कारण भाव को भाव कहा गया हैं। यहाँ स्पष्ट ही स्थायी भाव से भरत का आशय कवि के स्थायी भाव से है। इसके अतिरिक्त, यहां भरत भाव की विषयिपरक सत्ता मान रहे हैं——भाव (विभावादि) कवि के चित्तवृत्ति रूप मनोगत भाव को भावित कराते हैं । लेकिन, स्मरणीय है कि मूल भाव का अनुभव कराने वाला कवि स्वयं नहीं होता, उसी प्रकार जिस प्रकार नट मूल भाव का अनुभवकर्त्ता नहीं होता । कवि तो लोकवृत्त को शब्द-बद्ध या नाट्य-बद्ध करता है और इस क्रम में वह मूल घटना का कलात्मक पुनर्सृजन करता है। मूल भाव का अनुभवकर्त्ता वास्तव में रामादि अनुकार्य होता है। माना जा सकता है कि भरत इस तथ्य से अवगत रहे होंगे और ऐसी स्थिति में कवि के अन्तर्गत भाव से उनका तात्पर्य स्वयं कवि के अपने स्थायी भाव से न होकर कवि द्वारा अनुकार्य के अनुभव के भाव-कल्पनात्मक, रचनात्मक अनुभव से रहा होगा। नाट्य कवि की सर्जनात्मक अनुभूति का मूर्त्त रूप है। कवि पात्र-सृष्टि के माध्यम से मूल अनुकार्य के विशिष्ट अनुभव को 'सामान्यगुण योग' से (कलात्मक रूप में) नाट्य में मूर्त्त करता है और इस रूप में कवि-निर्मित पात्र (नायक) मूल अनुकार्य का स्थानापन्न हो जाता है। नट के लिए यही कवि-सृष्टि अनुकार्य होती है, नट के समक्ष मूल अनुकार्य रामादि की सत्ता नहीं होती, मूल अनुकार्यादि नट के अनुकरण के विषय नहीं होते । अतएव, स्थायी भाव मूलतः रामादि अनुकार्य का होता है लेकिन नट की दृष्टि से स्थायीभाव सामान्यगुण योग से कवि द्वारा निर्मित पात्र का होता है और कवि की सृष्टि के रूप में वह न अनुकार्य का रह जाता है, न कवि का और न पात्र का । वह व्यक्ति निरपेक्ष सामान्य, प्रत्यय रूप हो जाता है। भरत की प्रयोग-विज्ञान परक दृष्टि में नट को एक सिद्ध प्रत्यय रूप भाव मिलता है जिसका कुशल अभिनय के माध्यम से वह रंगमंच पर प्रदर्शन करता है। इस रूप में लगता है कि भरत ने नाटककार की सत्ता को विस्मृत कर नट को ही लोकवृत्त का प्रत्यक्ष अनुकर्त्ता मान लिया है। लेकिन भरत ने भाव के उक्त सर्जनात्मक स्वरूप का कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। जैसा कि पहले कहा गया है, बार-बार यही लगता है कि उन्होंने नाट्य को एक सर्जनात्मक कृति के रूप में ग्रहण न करके उसे बहुत कुछ लोक-जीवन के स्तर पर ग्रहण किया है।

जो भी हो, उक्त प्रत्यय रूप भाव भरत के व्यावहारिक विवेचन में अभिनेय हो जाता है। विभाव अनुभाव, व्यभिचारी के साथ जब नट स्थायी भाव को चतुर्विध अभिनयरूप में रंगमंच पर प्रदर्शित करता है तब रस उत्पन्न हो जाता है। अतः भरत का स्थायी भाव अमूर्त्त और व्यक्तिनिरपेक्ष है, उसका किसी विशेष चेतन सत्ता से सम्बन्ध नहीं रह जाता है।

जहां तक रस के आश्रय का प्रश्न है, भरत का मत इस सम्बन्ध में बिलकुल स्पष्ट है—इसका आश्रय रंगमंच है, उसकी उत्पत्ति रंगमंच पर ही होती है—तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगद्रस-निष्पत्ति : । जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, भरत की प्रयोग-विज्ञानपरक दृष्टि में रंगमंच केन्द्रीय वस्तु है और भरत रस की निष्पत्ति भी रंगमंच पर ही मानते हैं, नट या प्रेक्षक में नहीं । प्रेक्षक तो रंगमंच पर उत्पन्न रस का आस्वादन करता है। इस मत के समर्थन में सुरेन्द्र बारलिंगे का कथन द्रष्टव्य है—रस को इन्होंने (भरत ने) प्रायः कहीं भी सहृदयगत नहीं बताया है । प्रत्युत स्थान-स्थान पर रसों को नाट्याश्रित दिखाया है । रस तो रंगमंच

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर विभावानुभाव तथा संचारियों के संयुक्त रूप का नाम है।[25]

उक्त संयुक्त रूप रस एक पदार्थ है। भरत ने स्पष्ट रूप में रस की पदार्थरूपता का निर्वचन किया है—रस इति कः पदार्थ : ?[26] रस रंगमंच पर उत्पन्न एक संयोजन है, विभावादि का स्थायी भाव से संस्कारक समागम रूप एक संयोजन, एक पदार्थ, जो आस्वाद्य होता है—'उच्चते' आस्वाद्यत्वात्।[27]

प्रेक्षक द्वारा रंगमंच पर उत्पन्न इसी स्थिति का आस्वादन किया जाता है। यह संयोजन, भरत की परिकल्पना में, समग्र नाट्य का एक तत्व है। हालांकि अभिनवगुप्त के अनुसार भरत के मत में रस नाट्य ही है। अतः, भरत रस का आश्रय रंगमंच है, नट या प्रेक्षक नहीं, और वह आस्वाद्य पदार्थ है, आस्वाद का विषय है, आस्वाद नहीं। रस के संबन्ध में भरत की मूल विषयपरक दृष्टि यही प्रतीत होती है। लेकिन भरत-सम्मत रस के स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद है, यहां तक कि एकदम विरोधी मत भी प्रस्तुत किये गये हैं। उदाहरण के लिए, सुरेन्द्र बारलिंगे के अनुसार यदि, 'सहृदय के आस्वाद को उन्होंने कहीं भी रस-संज्ञा नहीं दी है[28] तो डॉ० सत्यदेव चौधरी के अनुसार, "उनके रस तथा भाव विषयक समग्र विवेचन से कहीं भी ऐसा आभासित नहीं होता कि वह रस को आस्वाद न मानकर आस्वाद्य मानते हैं।[29] ऐसी स्थिति में किसी प्रामाणिक निष्कर्ष पर पहुंचना कठिन ही है। लेकिन भरत रस को आस्वाद्य ही कहते हैं। डॉ० चौधरी के अतिरिक्त डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी भी भरत के रस को आस्वाद रूप मानते हैं : 'जिस प्रकार रसनेन्द्रिय ग्राह्य 'रस' आस्वाद्य होने के कारण रस है, उसी प्रकार नाट्य-दर्शन जनित सहृदय में उदित होने वाली आनन्दात्मक मानसिक प्रतिक्रिया भी आस्वाद्य होने के कारण रस कही जा सकती हैं।[30] जैसा मैंने पहले भी कहा है, अर्थ मीमांसा में खींच-तान से तो कोई भी अर्थ निकाला जा सकता है, (लेकिन तब भरत के मूल मंतव्य को पकड़ना कठिन हो जायेगा) डा० त्रिपाठी की उक्त व्याख्या खींच-तान पर ही आधारित है—यह उन्होंने स्वयं ही स्वीकार किया है..."काव्यास्वाद तक उसे गौणी-लक्षणा से खींचा जा सकता है।[31] और इस खींच-तान के प्रति वह शायद भरत के दो कथनों से आकृष्ट हुए होंगे—(1) विभावानुभावव्यंजितैरकोन पंचाशद्भावैः, और (2) मनसा स्वादयन्ति सुमनसः। लेकिन, जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, न तो भरत के द्वारा प्रयुक्त 'व्यंजित' शब्द को पारिभाषिक प्रयोग माना जा सकता है और न रस को प्रेक्षकगत माना जा सकता है। इस स्थापना के समर्थन में धनंजय के व्याख्याकार धनिक और सुदर्शनाचार्य के भी मत प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिनमें यह स्पष्ट कहा गया है कि भरत की रसपरिकल्पना वस्तुपरक थी, वे रस को काव्यगत और अभिनयगत मानते थे, कविगत या प्रेक्षकगत नहीं।[32] इसलिए भरत के रस को आस्वादरूप मानना तर्कसंगत नहीं लगता। उनका रस शास्त्रीय नाट्य-रस है, उनकी दृष्टि वस्तुपरक है : रस रंगमंच पर उत्पन्न एक पदार्थ विशेष है जो आस्वाद का विषय है। डॉ० नगेन्द्र ने भी इसी मत का समर्थन किया है। बहुत संभव है कि काव्य के प्रसंग में रस का विवेचन करने वाले प्रारंभिक आचार्य भामह ने भरत की इसी वस्तुपरक दृष्टि से प्रेरित हो कर रसवत् अलंकार की परिकल्पना की हो। रसवत् अलंकार में विभाव के वर्णन से एक स्थिति उत्पन्न कर दी जाती है। यहां एक बार फिर यह बताना आवश्यक है कि भरत ने प्रेक्षक के लिए 'सहृदय' शब्द का प्रयोग कहीं नहीं किया है। उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द प्रेक्षक और सुमनस हैं। 'सहृदय' इनका पर्याय नहीं है। 'सहृदय' संस्कृत काव्यशास्त्र की एक सर्वथा भिन्न, विषयिपरक अवधारणा का पारिभाषिक शब्द है और अपने पारिभाषिक अर्थ में इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग आनन्दवर्धन में किया गया मिलता है।[34]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

111505

सुमनस प्रेक्षक रंगमंच पर सिद्ध रस का आस्वादन करता है, और हर्षादि को प्राप्त होता है—आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति। रस के आस्वाद की प्रकृति के सम्बन्ध में भरत का 'हर्षादि' प्रयोग भी अत्यंत विवादास्पद है। स्वयं भरत ने रसास्वाद की आनंदरूपता का स्पष्ट कथन कहीं नहीं किया है। एक मत के अनुसार 'हर्षादि' से भरत का तात्पर्य हर्ष, विस्मय, कुतूहल आदि आनंदवर्गीय अनुभूतियां हैं। इस मत को व्यापक समर्थन प्राप्त है। भरत के अपने विवेचन में भी उक्त मत की पुष्टि के लिए अनेक संकेत मिलते हैं। उदाहरण के लिए, देवताओं ने पितामह से ऐसे 'क्रीडनीयक' की मांग की थी जो देखा भी जा सके और सुना भी।[35] रजोगुण प्रधान त्रेता युग में लोक दुःख से मुक्त होकर सुख पाना चाहता था। फलस्वरूप नाट्यशास्त्र का आविर्भाव हुआ। 'क्रीडनीयक' का अर्थ है : चित्त के लिए रम्य अथवा मनोरंजन का साधन। इसके अतिरिक्त भरत के अनुसार नाट्य का प्रयोजन विश्रांति देना है : नाट्य दुःख से आर्त्त, परिश्रम से क्लांत, शोक से संतप्तजनों को समय पर विश्रांति देने वाला होगा।[36] इनसे नाट्य की आनंदरूपता का संकेत मिलता है।

नाट्यशास्त्र में नाट्य की कलात्मक प्रकृति के जो संकेत मिलते हैं उनके आधार पर भी हर्षादि के मात्र आनंदरूप होने की पुष्टि की जा सकती है। उदाहरण के लिए, ऊपर 'संयोग' का अर्थ 'संस्कारक समागम' किया गया है और बताया गया है कि समागम की प्रक्रिया में स्थायी भाव का संस्कार हो जाता है, उसकी स्थूलता-लौकिकता तिरोहित हो जाती है। इस रूप में वह प्रेक्षक के लिए मात्र आस्वाद्य ही हो सकता है (पृ० 5)। 'कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते' में भी नाट्य की सर्जनात्मकता का संकेत है। कवि के अन्तर्गत भाव का अर्थ कवि की सर्जनात्मक अनुभूति ही हो सकता है, यह भी ऊपर दिखाया जा चुका है। वैशिष्ट्य से विरहित और सामान्यगुण संपन्न कवि की सर्जनात्मक अनुभूति भी आनंदरूप ही होगी। भरत के अनुसार नाट्य त्रैलोक्य के भावों का अनुकीर्तन है।[37] अनुकीर्तन के अर्थ का स्पष्टीकरण स्वयं उन्होंने तो नहीं किया लेकिन विद्वानों के अनुसार इसका अर्थ है : कल्पना-प्रवण निर्विकल्प प्रतीति[38] अथवा विभावादि के विशेष स्वरूप को हटाकर उनके साधारणीकृत रूप का ग्रहण[39] यदि अनुकीर्तन का उक्त अर्थ भरत-सम्मत मान लिया जाय तो इसके अनुसार भी नाट्य को एकमात्र आनंदरूप ही माना जायगा। नाट्य में लोकधर्मी के अतिरिक्त नाट्य-धर्मी का विधान भी नाट्य की कलात्मक प्रकृति का संकेत है। इनके अतिरिक्त, नाट्यशास्त्र के सातवें अध्याय में एक अत्यंत महत्व-पूर्ण श्लोक प्राप्त होता है—

योऽर्थो हृदयसंवादी तस्य भावो रसोद्भवः।
शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥[40]

अर्थात्, जो अर्थ हृदय-संवादी होता है उसकी भावना रस के उद्भव में कारणभूत होती है। वह शरीर को उसी प्रकार व्याप्त कर लेता है जिस प्रकार शुष्क काष्ठ को अग्नि व्याप्त कर लेती है।

यह श्लोक अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि इसको अभिनवगुप्त ने अपनी सहृदय विषयक अवधारणा, रस की आस्वादरूपता और आनंदरूपता के समर्थन में प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत किया है।[41] अभिनवगुप्त के अनुसार 'सहृदयता' का एकमात्र लक्षण है : वर्णनीय तन्मीयभवन योग्यता, और उधर हृदय संवाद का अर्थ है—हृदय की तन्मयता; भावना का अर्थ है चर्वणा और उद्भव का अर्थ है अभिव्यक्ति। अतः, अभिनवगुप्त के अनुसार भरत के उक्त श्लोक का अर्थ हुआ—जिस अर्थ में हृदय को तन्मय कर देने की शक्ति होती है उसकी चवर्णा ही चर्वणागोचर रस की अभिव्यक्ति में हेतु होती है। रस सहृदय हृदयगत व्यापार है—चर्वणारूप व्यापार जो एकमात्र आनंदलक्षणीय होता है, और जिसकी अभिव्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हृदय को तन्मय कर देने की शक्ति से संपन्न अर्थ के साक्षात्कार से होती है। जिस प्रकार सूखेकाठ में अग्नि व्याप्त हो जाती है उसी प्रकार हृदय को एकाकार रूप में परिणत कर वह अर्थ सारे शरीर को प्रभावित करता है। इसी कारण रस-चर्वणा के अवसर पर रोमांच आदि शारीरिक विकारों का अनुभव होता है।[42] भरत के उक्त श्लोक की प्रस्तुत व्याख्या के प्रकाश में 'हर्षादि' का तात्पर्य आनंद या सवर्गीय अनुभूति ही माना जा सकता है।

भरत ने नाट्य प्रयोग के चरम साध्य रूप में जिस दैवी सिद्धि का विधान किया है उससे भी इसी मत की पुष्टि होती है। दैवी सिद्धि का आविर्भाव भाव की अतिशयता और सात्विक भावों की समृद्धि से होता है। रंगमंडप एकदम निःशब्द, प्रेक्षकों से परिपूर्ण तथा किसी प्रकार की असामान्य घटना से सर्वथा शून्य होता हैं।[43] लगता है कि दैवी सिद्धि में प्रेक्षक का हृदय सीधे प्रभावित होता है। नाट्य-दर्शन से प्रेक्षक भाव-विभोर, आनंदविभोर और तन्मय हो जाता है। भरत ने अन्यत्र कहा भी है—आस्वादयन्ति मनसा।[44] परवर्ती रस-ध्वनिवादियों द्वारा प्रतिपादित रस-स्वरूप के बीज भरत की इस दैवी सिद्धि में लक्षित किए गए हैं।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह निरापद रूप से कहा जा सकता है कि भरत के अनुसार नाट्य को देखकर प्रेक्षक की प्रतिक्रिया आनंदरूप ही होती है। इस दृष्टि से भरत विवेचित रस को रंगमंच पर उत्पन्न एक कलात्मक संयोजन कहा जा सकता है। लेकिन नाट्य शास्त्र के सत्ताइसवें अध्याय में प्रेक्षक के लक्षणों का निरूपण करते समय भरत ने कुछ ऐसी बाते कही हैं जिनके कारण उपर्युक्त सभी प्रमाण असंगत हो जाते है और लगता है कि भरत ने नाट्य को सर्जनात्मक कृति न मानकर उसे लौकिक-व्यावहारिक स्तर पर ही ग्रहण किया है। कुछ सम्बद्ध कारिकाएं इस प्रकार है :—

यस्तुष्टौ तुष्टिमायाति शोके शोकमुपेति च ।।
क्रुद्धः क्रोधे भये भीतः स श्रेष्ठः प्रेक्षकः स्मृतः ।
एवं भावानुकरणे यो यस्मिन्प्रविशेन्नरः ।।
स तत्र प्रेक्षको ज्ञेयो गुणैरेभिलंकृतः ।।[45]

अर्थात्, जो संतोष का प्रदर्शन देखकर संतोष का अनुभव करे, शोक में शोक का अनुभव करे, क्रोध में क्रोध का अनुभव और भय का अभिनय देखकर भीत हो जाए उसे श्रेष्ठ प्रेक्षक मानना चाहिए। इस प्रकार, भावों के अनुकरण के अवसर पर उसे उन गुणों पर प्रेक्षक का जिन-जिन भावों में अनुप्रवेश हो जाए उसे उन-उन गुणों से युक्त प्रेक्षक मानना चाहिए।

उक्त कारिकाओं से यह स्पष्ट में है कि भरत के नाट्य का स्वभाव लोकवृत्त से अधिक भिन्न नहीं है। उनके नाट्य का स्वरूप व्यावहारिक, लौकिक ही है, सर्जनात्मक नहीं। भरत के अनुसार, नाट्य प्रत्येक स्थिति में हर्ष या आनंद देने वाला नहीं होता—शोक के प्रदर्शन में प्रेक्षक आनंद (करुण रस) का अनुभव नहीं करता, शोक का अनुभव करता है, भय में वह भयानक रस या क्रोध में रौद्र रस के आनंद का अनुभव नहीं करता बल्कि प्रेक्षक की प्रतिक्रिया नाट्य में प्रदर्शित भाव के अनुसार सुख-दुःखात्मक होती है। अतः भरत-विवेचित नाट्य के प्रेक्षक द्वारा प्राप्त आस्वाद का स्वरूप, रस-ध्वनिवादियों की सविद्विश्रांति रूप लोकोत्तर आनंदमय प्रतीति जैसा नहीं है, बल्कि वह लौकिक व्यक्ति सम्बद्ध अनुभव के समकक्ष है।

लेकिन भरत का नाट्य एकदम लौकिक घटना भी नहीं है। वह उससे भिन्न है। भिन्नता यह है कि लोकजीवन में संभव है कि दर्शक का घटना में अनुप्रवेश ही न हो, वह तटस्थ रह जाए या अन्यथा अनुभव करे। लेकिन नाट्य में विभावादि की संयुक्त उपस्थिति, गान, वाद्य आदि के कारण प्रेक्षक का चित नाट्योन्मुखी होकर प्रदर्शित भाव में अनुप्रवेश प्राप्त करता है। अब यह दूसरी बात है कि यह अनु-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवेश प्रेक्षक को एकदम निर्विघ्न कर पाता। इसलिए हर्षादि का भरत-सम्मत तात्पर्य हर्ष, शोक, क्रोध, भय आदि सुखदुःखात्मक अनुभव माना जाना चाहिए, केवल आनंदवर्गीय अनुभव नहीं। भरत का मंतव्य यही प्रतीत होता है और यह निष्कर्ष व्यावहारिक भी है। यह स्थिति आधुनिक आलोचकों को भी अधिक ग्राह्य हो सकती है। भरत नाट्य और प्रेक्षक के बीच एक संवाद की स्थिति मानते प्रतीत होते हैं, जो अभिनवगुप्त की सत्वोद्रेकमय संविद्विश्रांति की स्थिति से बिल्कुल भिन्न है।

भरत के प्रतिपाद्य को विरूपित करने के सबसे बड़े दोषी अभिनवगुप्त हैं। उन्होंने भरत के कथनों को अपनी मान्यता के अनुरूप व्याख्यायित करके भरत की मूलतः वस्तुपरक परिकल्पना को बिल्कुल उलट दिया है। हिन्दी के विद्वानों के एक वर्ग ने भी अभिनवगुप्त का ही अनुकरण किया है। उदाहरण के लिए, 'योऽर्थो हृदय संवादी' श्लोक का अभिनवगुप्त ने जो अर्थ किया है, वह सर्वथा पूर्वाग्रहपूर्ण है। उन्होंने भावना का अर्थ चर्वणा, उद्भव का अर्थ अभिव्यक्ति और हृदय संवाद का अर्थ तन्मयी भाव करके इन शब्दों को अपने पारिभाषिक शब्द बना लिया है। भरत ने भी इन शब्दों का इन्हीं अर्थों में प्रयोग किया होगा—इसमें पूरा सन्देह है। एक 'भावना' शब्द को लीजिए। भरत ने इसका प्रयोग चर्वणा के अर्थ में नहीं बल्कि वासित और परिव्याप्त के अर्थ में किया है—यह एकदम स्पष्ट है :... "भावितं वासितं कृतमित्यनर्थान्तरम् । लोकेऽपि च प्रसिद्धम् । अहो ह्ययेनेन गन्धेन रसेन वा सवमेव भावितमिति। तच्च व्याप्त्यर्थकम्।[46] (अर्थात्, भावित, वासित और कृत ये सभी समानार्थक हैं। लोक में भी यह प्रसिद्ध है—अहो, इस गंध से और इस रस से सब कुछ भावित हो गया है। उससे भावित का अर्थ परिव्याप्त होता है।) उद्भव का अर्थ अभिव्यक्ति किया गया है, जबकि उद्भव का कोशगत अर्थ उत्पत्ति है, और भरत को उत्पत्तिवादी मानना अधिक समीचीन है, यह पीछे दिखाया जा चुका है। इसी प्रकार, यहां हृदयसंवाद का अभिनवगुप्त कृत अर्थ तन्मयी भाव स्वयं उनकी अपनी ही मान्यता से भिन्न है। तन्मयीभाव तो हृदयानुप्रवेश का अथवा हृदयसंवाद के बाद की स्थिति है—ऐसा अभिनव ने अन्यत्र स्वयं ही माना है। हृदयसंवाद वास्तव में वर्णनीय के साथ चित्तवृति का समनुरूप होता है; इसका कोशार्थ भी यही है : समनुरूपता, मेल-जोल, और व्यवहार में इसका इसी अर्थ में प्रयोग होता है, यथा—केन्द्र और राज्य के बीच संवाद की स्थिति बन गई थी। इन अर्थों के अनुसार श्लोक का भरत-सम्मत अर्थ होगा—जो अर्थ हृदय के समनुरूप होता है उसकी (नाट्य में) परिव्याप्ति से रस की उत्पत्ति होती है। हृदय के समनुरूप अर्थ (नाट्यगत) अभिनेयार्थ होता है, लोकजीवन की घटना नहीं, और वह अभिनेयार्थ जब नाट्य में व्याप्त हो जाता है तब रस उत्पन्न हो जाता है, मंच पर रस की सिद्धि हो जाती है। अतः, श्लोक नाटयार्थ की नाट्य में परिव्याप्ति और रस की रंगमंच पर उत्पत्ति का विधान करता है।

इसी प्रकार, अभिनवगुप्त की प्रेरणा से 'अनुकीर्तन की जो व्याख्या विद्वानों ने की है, वह भी भरत—सम्मत प्रतीत नहीं होती। बताया गया है कि अनुकरण नकल है, अनुकीर्तन उससे भिन्न है। अनुकीर्तन अनुभावन से भी भिन्न है। आचार्य विश्वेश्वर ने तो यहां तक कह दिया (नाट्यशास्त्र 1.107) कि भरत ने अनुभावन का खण्डन कर नाट्य को अनुकीर्तन रूप माना है। नाट्यशास्त्र की जिस कारिका के आधार पर आचार्य विश्वेश्वर ने अपना उक्त मत प्रस्तुत किया है, वह इस प्रकार है——

नैकान्तोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम् ।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्य भावानुकीर्तनम् ।।
——नाट्यशास्त्र, 1-107

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् (प्रस्तुत) नाट्क में न तो एक मात्र आप दैत्यों का अनुभावन हुआ है और न केवल देवताओं का, वरन् इसमें सम्पूर्ण त्रैलोक्य के भावों का अनुकीर्तन है।

आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार, इसमें अनुभावन तथा अनुकीर्तन रूप दो पक्ष प्रस्तुत किए गए हैं। इनमें अनुभावन पक्ष का खण्डन करके नाट्य को अनुकीर्तन रूप ठहराया गया है। .... अनुकीर्तन शब्द का प्रयोग 'नाटक के साधारणीकरण रूप अलौकिक व्यापार द्वारा सीता-रामादि के विशेष स्वरूप को हटाकर उनके साधारणीकृत रूप का ग्रहण' के अर्थ में किया गया है और अनुभावन शब्द का प्रयोग 'पदार्थ के प्रत्यक्ष दिखलाई देने वाले विशेष स्वरूप का ग्रहण' के अर्थ में किया गया है।[47]

लेकिन तथ्य यह है कि भरत ने न तो अनुकीर्तन और अनुभावन में भेद किया है और न उक्त कारिका में अनुकीर्तन की तुलना में अनुभावन का खण्डन ही किया है। कारिका में खण्डन तो इस बात का किया गया है कि नाट्य में किसी वर्ग या समुदाय विशेष की ही प्रस्तुति होती है। भरत के अनुसार नाट्य में त्रैलोक्य के भावों को प्रस्तुत किया जाता है, किसी विशेष वर्ग के भावों को नहीं। भरत के अतिरिक्त, अभिनव ने भी अनुभावन की कोई व्याख्या नहीं की और न उन्होंने अनुभावन को अनुकीर्तन से भिन्न ही बताया। अत: अनुभावन को अनुकीर्तन से भिन्न मानने का कोई आधार नहीं है। अनुकीर्तन और अनुभावन की उक्त व्याख्याओं और नाट्य को उक्त अर्थ में अनुकीर्तन रूप मानने के लिए भी कोई आधार नहीं दिखाई देता। भरत ने नाट्य को न केवल अनुभावन और अनुकीर्तन कहा है, बल्कि उसे अनुदर्शन,[48] अनुकरण और अनुचरण[49] आदि भी कहा है, और इन सभी शब्दों का प्रयोग उन्होंने पर्याय-वाचियों के रूप में किया है। इसलिए, आचार्य विश्वेश्वर का मत निराधार प्रतीत होता है। यदि भरत के अनुसार नाट्य को सुख-दुःखात्मक माना जाता है तो मानना होगा कि भरत ने उक्त शब्दों का प्रयोग अनुकरण से सामान्य अर्थ में किया है, विशिष्ट सर्जनात्मक-कलात्मक अर्थ में नहीं। ऐसे ही स्थलों पर यह प्रतीत होता है कि भरत लोक जीवन और नाट्य में कोई तात्विक अन्तर नहीं देखते। उनकी व्यावहारिक दृष्टि में नाट्य लोक जीवन से केवल इस रूप में भिन्न है कि लोक जीवन की मूल घटना का नाट्य में नट् के द्वारा यथार्थ अनुकरण किया जाता है, नाट्य मूल घटना नहीं होता। लेकिन नट मूल घटना का अनुकरण नहीं करता, उसका अनुकार्य कवि-निबद्ध लोक जीवन होता है, जो रचनात्मक होने के कारण मूल लोक जीवन से तत्वत: भिन्न होता है—इस तथ्य को भरत शायद विस्मृत कर देते हैं। भरत ने उक्त शब्दों को इसी दृष्टि से उनके सामान्य कोशगत अर्थों में ही प्रयुक्त किया होगा। भावन का कोशगत अर्थ है—उत्पादित करना या प्रकट करना, और कीर्तन का अर्थ है—वर्णन करना।[50] तदनुसार अनुभावन और अनुकीर्तन के अर्थ हुए—पीछे या बाद में उत्पादित, प्रकटित या वर्णित करना। अर्थात् नाट्य वह है जो लोक जीवन की घटना को बाद में प्रकटित या वर्णित करता है। माना जा सकता है कि भरत की परिकल्पना इस संदर्भ में इसी प्रकार की है जिस प्रकार की परिकल्पना यूनानी आचार्य प्लेटो की थी, और अनुकरण को उन्होंने उसी अर्थ में ग्रहण किया है जिस अर्थ में आचार्य प्लेटो ने ग्रहण किया था। अभिनवगुप्त ने उल्लेख किया है कि भरत के पूर्ववर्ती टीकाकारों ने अनुकीर्तन को अनुकरण रूप ही सिद्ध किया है।[51] इसलिए अनुकीर्तन को कलात्मक अनु-करण रूप नहीं माना जा सकता।

लेकिन तब संयोग की संस्कारक समागम के रूप में जो व्याख्या ऊपर की गई है, वह भी असंगत हो जाती है। कवि के अंतर्गत भाव की जो व्याख्या कवि के रचनात्मक अनुभव के रूप में की गई है, वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी असंगत हो जाती है। नाट्य के कलात्मक स्वरूप की पुष्टि में भरत के जिन संकेतों की चर्चा ऊपर की गई है, वे भी बेमानी हो जाते हैं। भरत के इस उल्लेख की कि सामान्य गुण योग से रस की निष्पत्ति होती है, कोई परिणामी सार्थकता नहीं दिखाई देती। ऐसी स्थिति में क्या रस-सूत्र के संबंध में प्राप्त उक्त निष्कर्ष विवादास्पद मान लिए जाएं? नाट्यशास्त्र का जो रूप आज उपलब्ध है उसके सम्बद्ध विवेचन में अस्पष्टता, अपूर्णता और शब्द-प्रयोग की शिथिलता के अतिरिक्त चिंतन की एक सूत्रता का भी अभाव है। इसलिए उसके आधार पर भरत की नाट्य-परिकल्पना के विषय में एक निश्चित धारणा बनाना बहुत कठिन है। सूत्र के संबंध में भी इसी प्रकार अनिश्चय की स्थिति है। यदि 'संयोग' विभावादि का स्थायी भाव से संगम है तो वह संस्कारक समागम भी है। यदि निष्पत्ति अभिव्यक्ति समकक्षी है तो वह उत्पत्ति समकक्षी भी है, यदि स्थायी भाव प्रत्यय रूप है तो वह विशिष्ट भी हो सकता है। यदि रस आस्वाद्य है तो वह आस्वाद भी हो सकता है, यदि रस का आस्वाद आनंदरूप है तो वह सुख-दुःखात्मक भी हो सकता है। यदि नाटय एक कलात्मक कृति है तो वह लोक जीवन के समकक्ष भी हो सकता है, भाव यदि विषय रूप है तो वह विषयि रूप भी है, रस का आश्रय रंगमंच है तो प्रेक्षक का हृदय भी हो सकता है। अतः भरत के रस-सूत्र को विवादास्पद मानना ही उचित है। नाट्यशास्त्र में उपलब्ध विवेचन से यह भी स्पष्ट नहीं होता कि विभावादि के संयोग, रस की निष्पत्ति का स्वरूप और रस के आस्वाद की प्रक्रिया क्या है। अतः सूत्र को अस्पष्ट और विवादास्पद मानना ही उचित है उसके आधार पर भरत की सौंदर्य-परिकल्पना की कोई सुनिश्चित व्याख्या नहीं की जा सकती। उनके सम्बद्ध विवेचनों में स्थान-स्थान पर ऐसे कथन या संकेत हैं जो व्याख्याता को दुविधा में डाल देते हैं। उनकी सौंदर्य-दृष्टि को यदि विषय-परक माना जा सकता है तो विषयिपरक और उभयनिष्ठ भी माना जा सकता है; यदि विषयपरक नहीं माना जा सकता है तो विषयिपरक भी नहीं माना जा सकता। उनके अभिमत की आप मात्र उभयनिष्ठीय व्याख्या भी नहीं कर सकते। उनके उपलब्ध कथनों में सौंदर्य की उभयनिष्ठता के जो संकेत हैं वे घालमेल का परिणाम अधिक प्रतीत होते हैं, किसी निश्चित वैचारिक सरणि की प्रस्तुति नहीं। इस स्थिति को भरत की सौंदर्यदृष्टि की विलक्षणता भी माना जा सकता है। लेकिन इसके लिए बहुत कुछ उत्तरदायी नाट्यशास्त्र के वे अंश हो सकते हैं जो भरत विरचित मूल कारिकाओं के संबंध में बाद में जोड़े जाते रहे। जो भी हो, अपने सांप्रतिक रूप में सूत्र विवादास्पद है, और नाट्य-शास्त्र के परवर्ती व्याख्याकारों के समक्ष भी वह विवादास्पद बन ही उपस्थित हुआ था। परवर्ती व्याख्याकार सूत्र की जटिल समस्या के समाधान में अपने पूरे शास्त्र-बल के साथ प्रवृत्त हुए और उनमें गहन शास्त्रार्थ हुआ। परिणाम स्वरूप रस-चर्चा का अद्भुत-अनंत विस्तार हुआ और रस ब्रह्मानंद सहोदर आत्मानंद बन गया। लेकिन व्यापक परिप्रेक्ष में भरत की सौंदर्य परिकल्पना मूलतः व्यावहारिक, नाट्यपरक और वस्तुपरक ही मानी जानी चाहिए, उनका झुकाव अन्य दिशाओं में भी लक्षित किया जा सकता है।

1. नाट्य शास्त्र, 6।33 भाष्य
2. एवं क्रमहेतुमभिधाय रस विषयं लक्षणसूत्रमाह हिन्दी अभिनवभारती, पृ० 442
3. मोनियर विलियम्स, संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी 1956 संस्करण तथा आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश
4. नाट्यशास्त्र 6।21 भाष्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

5. नाट्यशास्त्र 6।31 भाष्य
6. मोनियर विलियम्स डिक्शनरी
7. नाट्यशास्त्र 6-35
8. नाट्यशास्त्र 6-33 भाष्य
9. नाट्यशास्त्र 6-31 भाष्य
10. नाट्यशास्त्र 7-6 भाष्य
11. नाट्यशास्त्र 7-7 भाष्य
12. नाट्यशास्त्र सप्तम अध्याय का अन्त
13. नाट्यशास्त्र 6-3i भाष्य
14. नाट्यशास्त्र 7-38 भाष्य
15. नाट्यशास्त्र 7-39 भाष्य
16. नाट्यशास्त्र अध्याय 7 हास्य-रस प्रसंग
17. रस-सिद्धांत, पृ० 138
18. वही।
19. साधकतमं करणम्। अतिशयितं साधकं साधकतमं प्रकृष्टं कारणमित्यर्थ:।
—तर्कभाषा, पृष्ट 19।
20. पी० बी० काणे, हि० सं० पो०, पृष्ठ 138
21. पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां भिन्नेनावगमात्मना॥
——काव्यालंकारसारसंग्रह।
22. न हि यैवाभिधानशक्ति: सैवावगमनशक्ति:
——ध्वन्यालोक
23. दशरूपक 4-3 वृत्ति
24. नाट्यशास्त्र, 6-31 (भाष्य)
25. सौंदर्य तत्व और काव्य सिद्धांत, भूमिका, अनु० मनोहर काले
26. नाट्यशास्त्र, अध्याय 6
27. हिन्दी अभिनवभारती, पृ० 428
28. वही, भूमिका
29. रस सिद्धान्त की प्रमुख समस्याएं, पृ० 24
30. रस विमर्श, पृ० 2
31. वही।
32. (क) दशरूपक' व्याख्याकार डा० भोलाशंकर व्यास, पृ० 187-88 (धनिक के मत के लिए द्रष्टव्य)
(ख) सुदर्शनाचार्य के मत के लिए द्रष्टव्य—रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, प्रेमस्वरूप गुप्त, पृ० 222
33. रस-सिद्धान्त, पृ० 80-81
34. ध्वन्यालोक एण्ड इट्स क्रिटिक्स, डा० के० कृष्णमूर्ति, पृ० 28-29 तथा पृ० 29 की पाद-टिप्पणी
35. नाट्यशास्त्र, 1-11
36. नाट्यशास्त्र, 1-114
37. त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।
नाट्यशास्त्र, 1-107
38. डा० रघुवंश, भरत का नाट्यशास्त्र, भूमिका, पृ० 37
39. आचार्य विश्वेश्वर, हिन्दी अभिनवभारती, पृ० 190
40. नाट्यशास्त्र, 7-7
41. ध्वन्यालोकलोचन, तारावती, पृ० 64
42. वही।
43. नाट्यशास्त्र, 27-16-17
44. नाट्यशास्त्र, 6-33
45. नाट्यशास्त्र 27-54, 61-62

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

46. नाट्यशास्त्र, सप्तम अध्याय प्रारंभिक गद्यांश।
47. हिन्दी अभिनवभारती, पृ० 190
48. नाट्यशास्त्र, 4-4
49. डा० कांतिचंद्र पांडेय, स्वतंत्र कलाशास्त्र, (भाग-1), पृ० 64 के आधार पर
50. मोनियर विलियम्स, संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, 1956 संस्करण तथा आप्टे, संस्कृत-हिन्दी कोश
51. नाट्यशास्त्र, 6।3 भाष्य।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ विष्णुदत्त राकेश,
एम. ए., डी. लिट्
हिन्दी-विभाग, गुरुकुल कांगड़ी
विश्वविद्यालय हरिद्वार

कबीर दर्शन के स्त्रोत

कबीर मध्यकालीन धर्म साधनाओं के तत्त्वदर्शी सन्त थे। उनकी चिन्तनधारा का विश्लेषण करते हुए विद्वानों ने बहुत सी बातें कहीं हैं। प्रायः वैदिक, बौद्ध, सिद्ध, सूफी, वैष्णव तथा नाथ-पंथी विचारों के परिप्रेक्ष्य में उनकी चिन्तनधारा के बीज खोजे गए हैं। सांख्य-योगधारा के आगमिक अद्वैतवाद पर ध्यान न देकर कभी उन्हें अद्वैत-वेदान्ती सिद्ध किया जाता रहा तो कभी योग-वेदान्ती। रामानन्द से सम्बन्धित होने के कारण उन्हें प्रपत्ति मार्गी भक्त भी बताया गया। कबीर-वाणी के अध्येता विभिन्न उक्तियों से एकेश्वर-वाद, विशिष्टाद्वैतवाद, अद्वैतवाद, द्वैताद्वैतविलक्षण-वाद, शून्यवाद जैसे कई परस्पर विरोधी मतों को सिद्ध कर सकते हैं। पर डा० राममूर्ति त्रिपाठी इस अद्वयवाद को शुद्ध तांत्रिक मानते हैं। परमतत्त्व निरूपण, सृष्टि प्रक्रिया, आत्म-शुद्धि, सुरत शब्दयोग तथा बिन्दु-साधना जैसी चीज़ें कबीर में वेदान्त से नहीं आई। शांकर-अद्वैत के पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार देखकर अथवा विवर्तवाद और प्रतिबिम्ब-वाद के दृष्टान्तों को देखकर कबीर को तत्त्ववाद की दृष्टि शांकरवेदान्ती नहीं बताया जा सकता। उनकी भक्ति भी आनन्दरूपा स्वरूप शक्ति ही है जो स्वरूप का आस्वाद लेने के लिए स्वयं से पृथक् हुई है। कबीर वस्तुतः परमतत्त्व को अनुभवैकगम्य मानते हैं जैसा कि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने कबीर ग्रन्थ पृष्ठ 110 पर कहा हैं, अतः उनके आगमिक साधना के संस्कार परम तत्त्व को उभयात्मा मानकर उभयातीत स्थिति का खण्डन करते हैं। गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह में उद्धृत अवधूत गीता का साक्ष्य है—

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समं तत्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम्। पृष्ठ 11

अर्थात् अनुभव भेद से उसे अद्वैत, द्वैत की संज्ञा दी जा सकती है। वस्तुतः यह कथन वही करते हैं जो सम रूप द्वैताद्वैत विलक्षण तत्व से परिचित नहीं हैं। कबीर इसी चिन्तन-परम्परा में सोचते हैं अतः शांकर अद्वैत से उनकी मान्यता मेल नहीं रखती।

एक कहौं तो है नहीं दोय कहौं तो गारि।
है जैसा तैसा रहै कहै कबीर विचारि।[1]
जस कथित तस होत नहीं जस है तैसा सोइ।[2]

परमतत्त्व की साधना बेल की तरह है, कबीर का विचार है कि यह रामभक्ति रूपी बेल गोरखनाथ द्वारा उपदिष्ट हैं। द्वैत और अद्वैत इस बेल की दो नोकें हैं। आकाश तक दोनों की पहुंच हैं पर पहुंच जाने के बाद तो द्वैत और अद्वैत नहीं रहते। दोनों से विलक्षण सम तत्त्व रहता है, वही साध्य है। यह स्थिति भी अनुभवगम्य है, इसका कथन नहीं हो सकता। गोरख-वाणी में इसी आशय का पद मिलता है। नाथ योगी की साधना निरन्तर उनके सामने हैं।

राम गुन बेलड़ी रे अवधू गोरखनाथ जांणीं।
नाति सरूप न छाया जाके बिरध करै बिनपांणीं।

बेलड़िया द्वै अणीं पहुंती गगन पहुंती सेली।
सहज बेलि जब फूलण लागी डाली कूपल मेली।[3]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परमतत्त्व के लिए गगन शब्द का व्यवहार अवधूत परम्परा के प्रभाव के कारण ही हुआ है। गोरख और दत्तात्रेय अवधूत परम्परा के विचारक हैं। संतमत, गोरख, दत्त को परम्परा का प्रवर्तक मानता है अतः कबीर पर "दत्त" चिन्तन का प्रभाव स्वीकार करना चाहिए। कबीर के अनन्य भक्त संत गरीबदास ने भी संत-साधना के स्रोतों का उल्लेख करते हुए यही बात स्वीकार की है।[4] आत्मा की आकाशरूपता की भावना सिद्ध परम्परा के साधक परम्परा से करते आ रहे हैं। दत्तात्रेय जी कहते हैं—

अन्तर्हितश्च स्थिरजंगमेषु,

ब्रह्मात्म भावेन समन्वयेन।

व्याप्त्या व्यवच्छेदमसंगमात्मनो।

मुनिर्नभस्त्वं विततस्य भावयेत्॥ भागवत 11।7।42

सिद्ध साधना में यह अवस्था भाव-अभाव विनिर्मुक्त अवस्था कही जाती है। सहजाम्नाय पंजिका से अद्वयवज्र की निम्न पंक्तियों उद्धृत कर द्विवेदी जी ने जो धारणा व्यक्त की है, वह भागवत भावित है।

"तथा सोऽपि खसमस्वरूपं मनः तस्मिन्मनः क्रियते। एवं यः करोति स उत्तमः पुरुषः सहजस्वभावे रम्यते क्रीड़त इति यावत्।[5] कबीर कभी तो परमतत्त्व को सत, चित, आनन्द रूप बताकर उसका भाव रूप से कथन करते हैं—

कबीर साथी सो किया जाके सुख दुख नाहिं कोइ
हिलि मिलि ह्वै मधि अरू अंत लौ अविहड़ सदा अभंग
कबीर उस करता की सेवग तजै न संग।[6]

और कभी वृहदारण्यक (3।8।8) की शैली पर उसका अभाव रूप से उल्लेख करते हैं :—

वेद विवर्जित भेद विवर्जित विवर्जित पापरूपुन्यं।
ग्यान विवर्जित ध्यान विवर्जित विवर्जित स्थूल सुन्यां।
भेष विवर्जित भीख विवर्जित विवर्जित उयमंकरूपं।
कहै कबीर तिहुं लोक विवर्जित ऐसा तत्त अनूपं॥[7]

यह सब उस परम तत्त्व के अनिर्वचनीय विलक्षण रूप का कथन करने के लिए है। यह अतद्व्यावृत्ति की सूचनार्थ योजना है। अर्थात् वह स्वयं जैसा है, उसका कथन नहीं हो सकता। हो सकता है तो कुछ कुछ गगन शब्द से हो सकता है।[8] कबीर जैसा कि कहा जा चुका है आगमिक साधना के संत हैं अतः वह परमतत्व को शब्द रूप से अभिहित करते हैं। यह सृष्टि शब्द का प्रसाद है—शब्द रूप परमतत्व की खोज साधक को करनी चाहिए :—

शब्द स्वरूपी तैं भये किया शब्द सों मेल।
शब्द न चीन्हें बावरा फिरि खेल अहेल।
बीजक 158

भर्तृहरि ने वाक्य प्रदीप में "अनादिनिधनं ब्रह्म शब्द तत्वं यदक्षरम्" कहकर परमात्मा को शब्द रूप माना है जगत् उस परावाक् का ही विवर्त है।

व्यक्तौ स्वरूप रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तत्ते।

प्रपंचसार के टीकाकार पद्मपाद ने चेतनतत्व की चातुर्थावस्था को पर प्रणव तथा द्वितीयावस्था को अपर प्रणव कहा है। पहले बीज अंकुर सहभाव के समान शब्दार्थमय सृष्टि बीज की तरह होती है और उनका विकास एक साथ होता है। अतः उसमें क्रम नहीं दिखाया जा सकता कि कौन पहले हुआ और कौन बाद में? कबीर ने यह सब भाव इस प्रकार व्यक्त किया है—

ओं ओंकार लखै जो कोई।
सोइ लखि भेटणा न होई
पद 152

ऊंकार आदि है मूला
राजा परजा एकहि मूला।
रमैनी 44

शब्द ब्रह्म ही इस जगत् का एकमात्र कारण है। बीज का ही परिणत रूप वृक्ष है और वृक्ष को छोड़कर छाया नहीं रह सकती। इसी तरह ब्रह्म का विवर्त रूप यह जगत है और माया उससे पृथक् सत्ता नहीं रखती।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीज मद्धे ज्यों वृच्छा दरसै वृच्छा मद्धे छाया,
ज्यों नभ मद्धे सुन्न देखिये सुन्न अन्नत आकारा ।
नि:अच्छर ते अच्छर तैसे अच्छर छर विस्तारा ।।
ज्यों रवि मद्धे किरन देखिये ये किरन मद्ध परकासा ।
परमातम में जीव ब्रह्म इमि जीव मद्ध तिमि सांसा ।
स्वांसा मद्धे सब्द देखिये अर्थ सब्द के माहीं ।
ब्रह्म तें जीव मन यों न्यारा मिला सदा ही ।
आपहिं वृच्छ बीज अंकूरा आप फूल फल छाया ।
आपहिं सूर किरन परकासा आप ब्रह्म जिवमाया ।[9]

अभिनव गुप्त ने परात्रिंशिका में यह बात स्पष्ट की है कि जैसे बरगद के बीज में अंकुर, वृक्ष, फूल, फल, छाया आदि समाविष्ट रहते हैं, उसी प्रकार उस परम तत्त्व में यह सारा विश्व समाया हुआ है। यह जगत् उस परमतत्त्व का आत्म प्रकाश या अभिव्यक्ति है।

यथा न्योग्रोध बीजस्थ: शक्ति रूपी महाद्रुम:
तथा हृदय बीजस्थं जगदेतच्चराचरम् ।
का० 24-25

कबीर भी इसी सन्दर्भ में सोचते हैं—

जैसे वट का बीज ताहिमं पत्र फूल फल छाया ।
काया मद्धे बीज बिराजे बीजा मद्धे काया ।[10]

परमतत्व का जगत् के साथ क्या सम्बन्ध है, इसके बारे में वेदान्ती और आगमिक एक ही दृष्टि से सोचते हैं। एक ही तत्व रूप-भेद और नाम-भेद से जगत कहला रहा है अत: रूप और नाम भेद से भी वह नि:शेष कहां हुआ। समुद्र और समुद्र तरंग या जल और हिम का दृष्टान्त मूलतत्व और विश्व के बीच का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए दिया गया है। शांकर अद्वैत में विवर्त और प्रतिबिम्बवाद एक साथ माना गया है क्योंकि जगत् को कल्पित और आसार बताना वहां मुख्य है। आगमिक विवर्त को शक्ति का निग्रह मानते हैं वहां कर्ता इसे आनन्द के लिए लीला सृष्ट करता है। आचार्य वल्लभ आगमिक परम्परा में ही यह सिद्धान्त स्वीकार कर इसे अविकृत परिणाम कहते हैं। कबीर आगमिक परिप्रेक्ष्य में ही स्वीकार करते हैं :—

दरियाव की लहर दरयाव है जी,
दरियाव और लहर में भिन्न कोयम ।
उठे तो नीर है बैठे तो नीर है,
कहो जी दूसरा किस तरह होयम् ।
कबीर पद 14, पृष्ठ 241

पाणी ही तैं हिम भया हिम ह्वै गया बिलाय
जो कुछ था सोई भया अब कछु कह्या न जाय ।[11]

आचार्य अभिनव गुप्त ने यही तथ्य इन शब्दों में व्यक्त किया है :—

तन बोध महा सिन्धोरूल्लासिन्य: स्वशक्तय: ।
आश्रयन्त्यूर्मय इव स्वात्म संघट्ट चित्रताम् ।
तन्त्रालोक भा० 2 आ० 3 —102।103

इस निर्माण प्रक्रिया पर विचार करते हुए डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने व्याख्या दी है—"ब्रह्म का पहला विवर्त प्रणव, ऊं अथवा शब्द ब्रह्म है जिसमें पुरुष और प्रकृति, ब्रह्म और माया दोनों समाहित हैं। प्रणव का अव्यक्त स्वरूप बिन्दु है और व्यक्त स्वरूप नाद। अव्यक्त रूप में वह गणित के बिन्दु के समान है जिसका अस्तित्व तो है पर माप नहीं। इस बात को सब जानते हैं कि रेखागणित के सब आकार बिन्दुओं की वृद्धि से ही बनते हैं। नाद अथवा इच्छा या मौज का प्रकम्पन ही एक बिन्दु को अनेक में परिणत कर विश्व सृजन का कारण होता है। नाद के प्रकम्पन के सिमट कर बन्द हो जाने पर यह समस्त सृष्टि भी सिमट कर बिन्दु में समाविष्ट हो जाती है।[12]

कबीर ब्रह्म-साधना को शब्द-साधना कहते हैं—
शब्दै काया जग उतपानी शब्दै केरि पसारा ।
कहै कबीर जंह शब्द होत है भवन भेद है न्यारा ।[13]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्द रूप ब्रह्म से भेंट करने के लिए कबीर ने सुरति शब्दयोग का सहारा लिया है। सुरति आत्म-शक्ति है, चित्तवृत्तियों का अन्तर्मुख प्रवाह है। निरति निर्विकल्पक ध्यान का बोध कराती है।[14] सुरति में तीव्र दर्शन की गति है वस्तुत: वेदान्त का आत्मा ही सुरति है। सुरति का निरति में समा जाना ही साधना की पूर्णता है। अर्थात् आत्मा का स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही लक्ष्य है :—

सुरति समानी निरति में निरति रही निरधार
सुरति निरति परचा भया तब खुला स्वंभू द्वार।
क० ग्र० परचा० 22

ब्रह्म स्वरूप का रहस्योद्घाटन इसी प्रक्रिया से संभव है। निरति का अर्थ निर्विकल्प स्थिति है अत: उस स्थिति को कबीर ने गगन से उपमित किया है और सुरति को गगन बिहारी पक्षी :—

पंषि उडानी गगन कूं उड़ी चढ़ी असमान
जिहिं सर मंडल भेदिया सो सर लागा कान।
क० ग्र० परचा० 21

बाण से तात्पर्य यहां अग्र दृष्टि से है। एकाग्रता से मंडल भेदने का अर्थ चित्तशक्ति का उन्मुनी अथवा आभ्यन्तर करना है। तब अष्ट-दल कमल के सूची-विद्ध द्वार से यह सुरति पक्षी गगन रूप ब्रह्माण्ड में पहुंचता है। यहां बंकनाल से होकर वह ऊपर चढ़ती है। शून्य मन्डल या भंवर गुहा में घुसकर तब वह शब्द सुनती है। यही शब्द समस्त सृष्टि का मूल है।

जीव की मुक्तावस्था और बद्धावस्था पर भी उन्होंने विचार किया है। मुक्तावस्था में वह विदेह मुक्ति के समर्थक हैं—

हंस न बोलै उन्मनी चंचल मेल्हा मारि।
कहै कबीर भीतर भिद्या सदगुरू के हथियार।
मन लागा उनमन सो उनमन मनहिं बिलग
लूण बिलग्गा पाणियां पाणीं लूण बिलग।
क० ग्र० पदावली 16

कहै कबीर मन मनहिं मिलावा, अमर भये मुख सागर पावा। पद 43

यह देह भोगायतन है अत: इसका चिन्मयीकरण आवश्यक है। रसेश्वर दर्शन नादियों की तरह स्थूल को अमर बनाने में जड़ी-बूटी के योग को भी वह आवश्यक मानते हैं। यह संस्कार नाथों के काया-योग का ही कबीर पर है :—

कबीर जोगी बनि बस्यां षणि खाये कंद मूल।
ना जाणौं किस जड़ी थैं अमर भये असथूल।
क० ग्र० जीवनी को अंग-2

निजदेह की प्राप्ति के लिए कबीर साहब एक और उपाय बताते हैं कि आत्म-शक्ति का भेद स्तर पर उतरना बन्धन है और अभेद स्तर पर पहुंचना मुक्ति है। अत: बिन्दु या जड़ शरीर से नाद अथवा चिन्मय शरीर प्राप्त करना आवश्यक है :—

कबीर सूषिम सुरति का जीवन जाणै जाल।
कहै कबीर दूर करि आतम अदिष्टिकाल।
क० ग्र० सूषिम-1

यहां आतम अदिष्टि का तात्पर्य है स्वातन्त्र्य शक्ति से अपरिचय। स्वातंत्र्य शक्ति से ही नाना जीव और जगत् प्रकाशित होते हैं।[15] जीव भाव संकुचित भाव है। माया के आणव, मायीय और कार्म पाश हैं। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय को भेद ही उसका रूप है। मन का प्रसार ही जगत् है, स्वप्नोपम जगत् ही माया है। ब्रह्म स्वयं दर्पण है और उसमें विश्व प्रतिबिम्बित है अत: वह भासमात्र है। चित्त दर्पण या मन में स्वातंत्र्य के परिणाम स्वरूप "आतमअदिष्टि" के परिणामस्वरूप यह भासन हो रहा है। इसी को जाल समेटना और फैलाना कहकर कबीर मुक्ति और बन्धन का कारण मानते हैं। प्रत्य-भिज्ञा स्वतन्त्र शक्ति का निरूपण कर जड़, चेतन पदार्थों को आभास रूप मानती हैं। कबीर इसे मन का प्रपंच कहते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन माया तो एक हैं मायाम नहिं समाय
तीन लोक संसय परा काहि कहूं समझाय ।
बीजक 105

हठयोग प्रदीपिका (3।53) "में "एकं सृष्टिमयं बीजं एकावस्था मनोन्मनी" कहकर मन के सुस्थिर होने को लक्ष्य कहा गया है। मन की उन्मनावस्था की साधना इसी माया से बचने के लिए है। सन्तों में लय-योग यहीं काम देता है। योग तत्वोपनिषद् में "लय योगश्चितलय:" कहा गया है। कठोपनिषद् (2।3।10) में कहा गया है कि योगाभ्यास से ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि का लय ही परम गति का सूचक है :—

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसासह्
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहु: परमां गतिम् ।।

जय योग में जीवित मृत्यु का अनुभव होता है। दृढ़ भावना से वाणी का मन में, मन का प्राण में, प्राण का मृत्युभाव में, मृत्युभाव को त्रिगुण में, त्रिगुण को मूल प्रकृति में, प्रकृति को आत्मा में तथा आत्मा को अविनाशी ब्रह्म में लीन करना ही लय है। युधिष्ठिर को इसी प्रक्रिया से यह अनुभव हुआ कि यह सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच ब्रह्म स्वरूप है :—

वाचं जुहाव मनसि तत्प्राण इतरे च तम् ।
मृत्यावपानं सोत्सर्गं तं पंचतवे ह्यजोहवीत् ।
त्रित्वे हुत्वाव पंचत्वं तच्चैकत्वे जुहोन्मुनि: ।
सर्वात्मन्यजुहवीद् ब्रह्मण्यात्मानमव्यये ।
भागवत 1।15।41–42

कबीर यह प्रक्रिया सूक्ष्म होने से ऐसे ही नहीं कहते पर "दिल के दरपन में जोवै" की बात प्रत्यभिज्ञावादियों की तरह ही कहते हैं हां, काया के ब्रह्माग्नि में जलाने का संकेत कबीर करते हैं, इसी का उल्लेख भागवतकार ने किया है। भागवत-सांख्य-योग परक अद्वयवादी संहिता है :—

बसे गगन में दुनी न देखै चेतनि चौकी बैठा ।
चढ़ि अकास आसन नहिं छाड़ै पीले महारस मीठा ।
परगट कथा माहैं जोगी दिल में दरपन जोवै ।
सहस इकीस छहसै धागा निहचल नीकै पोवै ।
ब्रह्म अगिनि में काया जारै त्रिकुटी संगम जागै ।
कहै कबीर सोइ जोगेसुर सहज सुन्न ल्यौं लागै ।
क० ग्र० पद 69

आत्मा और परमतत्व के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति कबीर ने केवलाद्वैतवाद के सहारे की हैं।[16] मेरा विचार है, यह स्थिति भी कबीर को भागवत परम्परा की ही देन है। हठयोग प्रदीपिका में इसी का पोषण हुआ है :—[17]

जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी ।
फूटा कुंभ जल जलहिं समाना यह तत कथौं गयानी ।
क० ग्र० पद 44

साधो एक रूप सब माहीं ।
अपने मनहि विचारी कै देखो और दूसरो नाहीं ।[18]

शिव सूत्र भोक्तृत्व भाव से मुक्त आत्मा को शुद्ध स्वरूप में स्थित होने के कारण केवली कहते हैं। यह केवली भाव ही केवलाद्वैत है।[19]

भागवत के एकादशस्कंध के दूसरे अध्याय में राजा निमि को हरि नामक योगेश्वर ने यही उपदेश दिया है :—

सर्वं भूतेषु य: पश्येद भगवद्भावमात्मन:
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तम: । 11।2।45

शैव सूत्रों में इसे शुद्धतत्वानुसन्धान कहते हैं, पशुत्व की निवृत्ति इसी स्थिति में होती है।[20]

श्रीमद्भागवत वैष्णवागमों में मान्यग्रन्थ है। यह उक्त आत्म-साधना पर बार-बार जोर देता है। कबीर के तत्वज्ञ होते हुए भी भक्तिवादी होने का यही रहस्य है :—

आपा पर समि चीन्हिये दीसै सरब समान ।
क० ग्र० पद 5

आपहिं आप विचारिये सब कैता होई अनंदरे ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रुति भी इस तथ्य का समर्थन करती है। जैसे अग्नि आप से आप प्रकाशित होता आप मिलता तथा आप सेवा को प्राप्त है उसी तरह बोध चाहने वाले पुरुषार्थी को भी स्वयं को सामर्थ्यवान् बनाना चाहिए।

स्वयं वाजिस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं जुषस्व
महिमा ते अन्येन न सन्न शे। यजुर्वेद 29।15

एक-मुखी भक्ति कबीर को इष्ट है। वह इसे निष्काम पतिव्रता के समर्पण से उपमित करते हैं। स्वामी रामानन्द से तत्वज्ञान के साथ इस निर्मल भक्ति का वरदान भी उन्हें मिला था।

जे मन लागै एक सूं तो तौ निरवाल्या जाइ
तूरा दुइ मुखि बाजणां न्याइ तमा चै खाइ।
क० ग्र० पतिव्रता० 12

भक्ति जीव में रहने वाले आनन्दांश का ही दूसरा नाम है। अतः भाव-देह में ही इसका अनुभव हो सकता है। कबीर इसी प्रपत्तिपरता को भाव-भगति कहते हैं।

किआ जपु किआ तपु संजमो किआ बरहु किआ इसनान।
जब लगि जुगति न जानिवे भाउ भगति भगवान।[21]

कबीर के प्रपत्तिमार्ग को वायु पुराण में प्रपत्ति के उल्लिखित 6 मार्गों से जोड़ने का प्रयत्न विद्वानों ने किया है।[22] पर वैष्णवागमों में मान्य ग्रंथ अहिर्वुध्न्य संहिता (37।282,9) में इसका उल्लेख पहले मिलता है। अतः कबीर का प्रपत्ति मार्ग भी आगमोक्त है।

आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्।
राक्षिष्यतीति विश्वासी गोप्तृत्वे वरण तथा।
आत्मनिक्षेप कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।

इनके क्रमशः उदाहरण कबीर ग्रंथावली के पद 379, 374, 338, 341, 301 तथा 178 में मिल जाते हैं। बौद्ध सहजयानियों के महासुख, सूफियों के प्रेमवाद तथा नाथों की हठयोगी साधना का प्रभाव भी डा० गोविन्द त्रिगुणायत, डा० मुंशीराम शर्मा, डा० रामकुमार वर्मा तथा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रंथों में कबीर की चिन्तनधारा पर स्पष्ट किया है। मैं उनकी पुनरावृत्ति कर निबन्ध का कलेवर नहीं बढ़ाना चाहता। पर एक बात कहना चाहता हूं कबीर स्वयं अपनी भक्ति को नारदी कहते हैं। अतः उनकी भक्ति-प्रेमाभक्ति भी पांचरात्र तन्त्र पद्धति द्वारा ही सम्पुष्ट समझी जानी चाहिए। भक्ति के साधनों में उन्होंने संत की रहनी पर भी विचार किया है और यही उनके जीवन-दर्शन का मुख्य विचार-बिन्दु है।

निरबैरी निहकामता, साईं सेती नेह।
विषया सूं न्यारा रहे संतनि कौ ग्रंग ऐह।
क० ग्र० साधभाषीभूत ?

जाति पांति के बन्धनों को अस्वीकार करने में दत्तात्रेय और गोरख जैसे अवधूतों की अति वर्णाश्रमी व्यवस्था उनकी प्रेरक रही है। योगमत, आगमिक साधना, द्वैताद्वैत विलक्षण परमतत्वाद और सदाचार उन्हें अवधूत परम्परा से ही सहज भाव में प्राप्त हुआ था। बाह्याचार की व्यर्थता उन्होंने इसी तत्ववाद की तह से निकाली थी। अतः कबीर को किसी भी बौद्धिक तर्कवाद से परे समझकर चलना चाहिए। उनके निर्गुण राम अनुभवैकगम्य है, उनकी साधना अनुभव की साधना है और उनका साधक अनुभववादी। अनुभव-वाद की प्रतिष्ठा के कारण वह आगमवादी कहे जा सकते हैं; यदि कोई कहना चाहे। इसके अतिरिक्त कबीर पर अन्य प्रभावों का ग्रंकन पाण्डित्य का आरोप है, स्वभाव नहीं।

1. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय-पृष्ठ 107।
2. कबीर ग्रंथावली-रमैणी 3-पृष्ठ 230।
3. कबीर ग्रंथावली-पद 163।
4. दत्त कथी गोरखकथी सुख दे लश्याऽसोध।
व्यास कथी भीषम कथी कहैं अठारह बोध। ग० वा० आनमैं की ग्रंग 49।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

5. कबीर-पृष्ठ 76 ।
6. कबीर ग्रंथावली-अविहड़ कौ अंग-1,3 ।
7. कबीर ग्रंथावली-पद 220 ।
8. आदै गगनां अंतै गगना मधै गगना भाई-पद 44
9. कबीर-पृष्ठ 236-पद 7 ।
10. कबीर-पृष्ठ 264-पद 46 ।
11. कबीर ग्रन्थावली-परचा कौ अंग 17 ।
12. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय-पृष्ठ 132 ।
13. कबीर-पृष्ठ 268-पद 57 ।
14. तंत्र और संत-पृष्ठ 294 ।
15. स स्वयं कल्पितास्फार विकल्पात्मक कर्मभिः ।
    बध्नात्यात्मानमेवेह स्वातंत्र्यादिति वर्णितम् ॥
    तन्त्रालोक भाग 8, आ० 13।104 ।
16. कबीर और उनका पंथ-पृष्ठ 106 ।
17. अन्तः शून्योवहिः शून्यः शून्यः कुंभ इवाम्बरे।
    अन्तः पूर्णो वहिः पूर्णो पूर्णः कुंभ इवार्णवे ॥
    5।55 ।
18. कबीर-पद 141-पृष्ठ 314 ।
19. तद्विमुक्तस्तु केवली-शि० सू० 2।34 ।
20. शुद्ध तत्त्वानुसंधानाद्वा अपशुशक्तिः । शि० सू० 1।16 ।
21. संत कबीर राग गउड़ी 63 ।
22. कबीर और उनका पंथ-पृष्ठ 131 ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आशा सिंह
बी 70, आवास विकास कॉलोनी
सूरजकुण्ड, गोरखपुर

आलोचना का समाजशास्त्र और गजानन माधव मुक्तिबोध

आधुनिक हिन्दी कविता में सामाजिक वास्वतिकता को व्यापक स्वीकृति दिलाने वाले कवियों में गजानन माधव मुक्तिबोध की महत्वपूर्ण भूमिका है। उन्होंने कविता के साथ-साथ ऐसी आलोचना भी लिखी है जिसका निश्चित सामाजिक सन्दर्भ है। मुक्तिबोध के लिए साहित्य केवल निजी रागात्मक अनुभवों का प्रतिबिम्ब नहीं है बल्कि वह **सामाजिक वास्तविकता और उसके** द्वन्द्वों को चित्रित करने वाला सशक्त माध्यम भी है।[1] मुक्तिबोध की अलोचना के दो स्तर हैं। एक स्तर पर उनकी आलोचना अपनी रचना-प्रक्रिया के विश्लेषण के निमित्त लिखी गयी है, दूसरे स्तर पर उनकी आलोचना रचनाकार के मानवतावाद, कविता की नकारात्मकता, कविता में यथार्थ, साहित्य और जनता के सम्बन्ध जैसी मूलभूत चिन्ताओं को आधार बनाकर लिखी गयी है।

मुक्तिबोध ने 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध' की भूमिका में लिखा है "मैं मुख्यत: विचारक न हो कर केवल कवि हूं। किंतु आज का युग ऐसा है कि विभिन्न विषयों पर उसे भी मनो-मंथन करना पड़ता है। अपने काव्य-जीवन की यात्रा में मुझे जो चिन्तन करना पड़ा, वह विज्ञ पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर रहा हूं।"[2] यद्यपि मुक्तिबोध यही स्वीकार करते हैं कि उनकी आलोचना शास्त्रीय अर्थ में सुसंगत नहीं है पर हम उनकी आलोचना के समाजशास्त्र की सम्यक् व्यवस्था उनके आलोचनात्मक निबन्धों में ढूंढ सकते हैं।

'एक साहित्यिक की डायरी' में रचना प्रक्रिया विषयक जो संवादात्मक निबन्ध है उनमें भी मुक्तिबोध की स्पष्ट आलोचना-दृष्टि लक्ष्य की जा सकती है। कला के तीन क्षण की व्याख्या करते हुए मुक्तिबोध की टिप्पणी है—"कला का पहला क्षण है जीवन का उत्कट तीव्र अनुभव क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते दुःखते हुए मूलों से पृथक हो जाना और एक ऐसी फैंटेसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैंटेसी अपनी आँखों के सामने ही खड़ी हो। तीसरा और अन्तिम क्षण है इस फैंटेसी के शब्द-बद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की परि-पूर्णावस्था तक की गतिमानता। शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया के भीतर जो प्रवाह बहता रहता है वह समस्त व्यक्तिव और जीवन का प्रवाह होता है। प्रवाह में वह फैंटेसी अनवरत् रूप से विकसित परिवर्तित होती हुई आगे बढ़ती जाती है। इस प्रकार वह फैंटेसी अपने मूल रूप को बहुत कुछ त्यागती हुई नवीन रूप धारण करती है। जिस फैंटेसी को शब्द-बद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है वह फैंटेसी अपने मूल रूप से इतनी अधिक दूर चली जाती है कि यह कहना कठिन है कि फैंटेसी का यह नया रूप अपने मूलरूप की ही प्रतिकृति है। फैंटेसी को शब्दबद्ध करने की प्रक्रिया के दौरान जो-जो सृजन होता है—जिसके कारण कृति क्रमश: विकसित होती जाती है —वही कला का तीसरा और अन्तिम क्षण है।"[3] मुक्तिबोध इस विश्लेषण में यह मान कर चलते हैं कि जो फैंटेसी **अनुभव की व्यक्तिगत् पीड़ा** से पृथक् होती है और इस प्रकार एक दूसरे अर्थ में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्वैयक्तिक होती है वही रचना की शक्ति का कारण बनती है। मुक्तिबोध के अनुसार **संवेदित अनुभव का विस्तार**[4] ही सौंदर्य का कारण है। **भोक्तृत्व और दर्शकत्व का द्वन्द्व** मुक्तिबोध के अनुसार एक समन्वय में लीन होकर सृजन-प्रक्रिया को आगे बढ़ाता है।[5] मुक्तिबोध फैंटेसी के मर्म की जब भी चर्चा करते हैं उसके पूरे परिप्रेक्ष्य (Perspective) में देखते हैं।[6] फैंटेसी जिस भाषा के अधीन है वह मुक्ति बोध के अनुसार एक **सामाजिक निधि** है।[7] कला के तीसरे क्षण में अभिव्यक्ति **अर्थ क्षेत्र का पूरा विस्तार** उपलब्ध करती है—" कला के तीसरे क्षण में सृजन प्रक्रिया ज़ोरों से गतिमान होती है, कलाकार को शब्द साधना द्वारा नए-नए अर्थस्वप्न मिलने लगते हैं। पुरानी फैंटेसी अब अधिक सम्पन्न, समृद्ध और सार्वजनीन हो जाती है। यह सार्वजनीनता, अभि-व्यक्ति प्रयत्न के दौरान शब्दों के अर्थ-स्पन्दनों द्वारा पैदा होती है। **अर्थ-स्पन्दनों के पीछे सार्वजनिक सामाजिक अनुभवों की परम्परा होती है।** इसलिए अर्थ परम्परायें न केवल मूल फैंटेसी को काट देती हैं, तराशती हैं, रंग उड़ा देती हैं, वरन् साथ ही वे नया रंग चढ़ा देती हैं, नये भावों और प्रवाहों से उसे सम्पन्न करती हैं, उसके अर्थ क्षेत्र का विस्तार कर देती हैं।[8]

मुक्तिबोध ने **यथार्थ की गतिशीलता** की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है कि उसके तत्व परस्पर गुम्फित होते हैं। अभिव्यक्ति का विषय बनकर जो यथार्थ प्रस्तुत होता है वह भी ऐसा ही गतिशील होता है अर्थात् उसके तत्व भी परस्पर गुम्फित होते हैं।[9] यथार्थ के तत्वों की जटिल सम्बद्धता बताते हुए मुक्तिबोध अनुभूत-वास्तव का पक्ष लेते हैं। वे साहित्य के लिए साहित्य से निर्वासन आवश्यक समझते हैं।[10]—अपनी व्याख्या में वे आगे कहते हैं" हम केवल साहित्यिक दुनिया में नहीं वास्तविक जीवन में रहते हैं। इस जगत् में रहते हैं। साहित्य पर आवश्यकता से अधिक भरोसा रखना मूर्खता है।"[11] संस्कारवश या प्रवृत्तिवश साहित्य में जो एक विशेष प्रकार का **कंडीशण्ड साहित्यिक रिफ्लेक्स** होता है या बना लिया जाता है मुक्तिबोध उसके प्रति अपने सतर्क प्रश्नात्मक दृष्टिकोण का परिचय देते हैं।[12] मुक्ति-बोध का दृष्टिकोण यह है कि साहित्य में **व्यक्ति-समस्या को मानव-समस्या** बनाकर व्यापकतर पार्श्व-भूमि में उपस्थित करना चाहिए।[13] कुछ विशेष प्रकार के भाव-समुदायों को आधुनिक भाव बोध समझने की व्यक्ति-केन्द्री रुचि का मुक्तिबोध ने प्रायः विरोध किया है।

मुक्तिबोध ने कला की शक्ति को व्यापक सामाजिक भूमिका में आंकने का प्रयत्न किया है— "कलाकार चाहे जितना महान् क्यों न हो, जीवन-जगत् की तुलना में उसका अन्तर छोटा ही है। इसीलिए वह जीवन-जगत् के बिम्बों, प्रेरणापूर्ण दृश्यों, भाव विचारधाराओं के सार-सत्यों को पीता रहता है या पीते रहना चाहिए।"[44] कलाकृति में कलाकार का आत्मोद्घाटन अत्यन्त संकुचित और वायवीय अर्थ में ही सही हो सकता है।[15] इसके बाद भी मुक्तिबोध **कला** को अपने मौलिक रूप में एक **आत्मपरक प्रयास** मानते हैं। उनकी टिप्पणी है—"कला चाहे वह यथार्थवादी कला ही क्यों न हो एक आत्मपरक प्रयास है। यह उसकी विशेषता है, बहुत बड़ी विशेषता। कला न केवल एक आत्मपरक प्रयास है, वरन् उसकी अपनी एक सापेक्ष स्वतन्त्रता है। वह व्यक्ति सापेक्ष है, जीवन सापेक्ष्य है, वर्ग सापेक्ष्य और युग सापेक्ष्य है।"[16] इसी लिए मुक्तिबोध काव्य में छिट-पुट चित्रों की मांग नहीं करते, **व्यापक चित्रों की मांग** करते हैं। व्यक्ति-समस्या को मानव-समस्या में रूपान्तरित करने के क्रम में जो सन्दर्भ उपस्थित होते हैं उनपर मुक्तिबोध का पूरा पूरा-ध्यान है। वे लिखते हैं—"हमें केवल तथाकथित सौन्दर्यानुभूति के क्षणों के बाहर जाना होगा। और भाव का आधार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनने वाले ज्ञान का विस्तार करना होगा।[17] मुक्तिबोध की दृष्टि में एक **कला सिद्धान्त के पीछे** एक विशेष **जीवन दृष्टि** होती है। उस **जीवन-दृष्टि के पीछे एक जीवन दर्शन** होता है और **उस जीवन-दर्शन के पीछे एक राजनीतिक दृष्टि** भी होती है।[18] इसी राजनीतिक अर्थ में मुक्तिबोध "जनता का साहित्य" पद का प्रयोग करते हैं।[19] मनुष्य सत्ता का निर्माण राजनीति करती है, साहित्य नहीं। साहित्य सहायक शक्ति है पर उसके अपने नियम, अपने अनुशासन हैं। आज के युग में साहित्य का यह प्रयोजन मुक्तिबोध के लिए अभीष्ट है कि वह जनता के बुद्धि तथा हृदय की इस भूख प्यास का चित्रण करे और उसे मुक्ति-पथ पर अग्रसर करने के लिए ऐसी कला का विकास करे जिससे जनता प्रेरणा प्राप्त कर सके और जो स्वयं जनता से प्रेरणा प्राप्त कर सके।[20]

रचनाकार का अन्तर्जगत और उसका बाह्य-जगत्——ये दोनों एक दूसरे से **कटे हुए सन्दर्भ नहीं** हैं। मुक्तिबोध की दृष्टि में "यह अन्तर्जगत् बाह्य जगत् का आत्मकृत, संशोधित, सम्पादित, अन्तस्संस्कृत रूप है और उस क्रिया-प्रतिक्रिया की गतिमान परम्परा की उपज है, जो क्रिया-प्रतिक्रिया बाल्यकाल से बाह्य के प्रति करता आया है।"[21] लेखन के समाजशास्त्रीय सन्दर्भ पर मुक्तिबोध की मान्यता यह है कि कोई भी लेखक अपने युग से केवल प्रभावित नहीं होता वह अपने युग का अंग होता है।[3] मुक्तिबोध की विशेषता यह है कि वह साहित्य के समाजशास्त्र को भी साहित्यकार के अन्तर्जगत् से जोड़ कर देखते हैं। व्यक्ति पर तरह-तरह के दबाव पड़ते हैं। स्वभावतः वे 'साहित्यकार' नामधारी व्यक्ति पर भी पड़ते हैं। परम्परा का वहन भी समाज के दबाव का ही एक रूप है। **प्रचलित काव्य-प्रणाली से अपनी** संगति एक अन्य प्रकार का **सामाजिक दबाव** ही है। ये अप्रत्यक्ष दबाव भी साहित्य और समाज के सम्बन्ध को सक्रिय रूप में प्रभावित करते हैं। यदि इन दबावों के मूल स्रोत **मानवीय करुणा** से सम्बन्धित होंगे तो उसका साहित्य पर उपयोगी प्रभाव होगा।[23]

साहित्य के समाजशास्त्रीय पक्ष की जानकारी से मुक्तिबोध उसकी रचना प्रक्रिया और उसके शिल्प तक पहुंचते हैं। **वस्तुगत परिवर्तन का आभ्यन्तरीकृत रूप** साहित्य का आवश्यक पहलु है।[24] मुक्तिबोध जब सौन्दर्यशास्त्र, राजनीतिशास्त्र जैसे अन्य वैचारिक अनुशासनों का उल्लेख करते है तो वह मूल्य-शास्त्र के पूरे सामाजिक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हैं। इनमें से कोई भी सिद्धांत समयसापेक्ष्य है इसलिये परिवर्तनीय भी है। यहाँ मुक्तिबोध ने साहित्यिक वादों की वैज्ञानिक प्रणालियों से भिन्न कुछ सीमायें बतायी है उनकी दृष्टि में साहित्य के बाद दार्शनिक या वैज्ञानिक प्रणालियां नहीं हैं, वे केवल साहित्य के दृष्टिकोण हैं।[25] किसी भी **साहित्यिक दृष्टिकोण** को तभी महत्वपूर्ण ठहराया जायेगा जब वह **जीवन की चेतना** से परिपूर्ण हो। एक ओर बाह्य परिस्थिति के बदलने से साहित्य धारा बदलती है, दूसरी और आन्तरिक जगत् की प्रतिक्रिया से साहित्य की आन्तरिक धारा में हलचल होती है। इस प्रकार देखें तो साहित्य का समाजशास्त्र कोई स्थूल, सुनियोजित और सब समय के लिये निश्चित पद्धति नहीं है। **साहित्य का अध्ययन मानव सत्ता का अध्ययन है** इसलिये साहित्यिक आलोचना, ऐतिहासिक, समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक सौंदर्यात्मक सम्बन्धों में सामंजस्य बना सके तभी उसकी सार्थकता है।[26] आवश्यक नहीं है कि किसी ऐतिहासिक युग की कोई विशेष घटना ठीक-ठीक उसी रूप में साहित्य में उतरे पर **ऐतिहासिक विकास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया** से परे उसके मूल्यांकन की कोई सार्थकता भी नहीं है। साहित्यिक सौन्दर्य के प्रतिमान यदि नित्य काल सापेक्ष रहे है तो उसका अर्थ केवल यह नहीं है कि हमारे यहां पहले साहित्य और सौन्दर्य की जो कल्पनायें थीं उन्हें हमने अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकासशील परम्परा में अपना लिया। मार्क्सवाद की वैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार मुक्तिबोध को मान्यता है कि "**कला** यद्यपि व्यक्तिगत आधार पर होती है, किन्तु उसकी चेतना उस **वर्ग में समाहित** तथा उससे **विकसित** है जिसके भीतर रह कर कलाकार ने अपने अनुभव प्राप्त किये है।"[27]

स्थूल और सूक्ष्म के भेद की जो व्याख्या व्यक्तिवादी क्षेत्रों में की जाती है उससे भिन्न मुक्तिबोध का विश्लेषण इस प्रकार है "वस्तुतः जिसे हम सूक्ष्म कहते है वह वस्तुतः यदि '**सूक्ष्म**' है तो, **सामाजिक, ऐतिहासिक** विकास धारा का अमृत हो कर ही वह सूक्ष्म है, अन्यथा वह कुछ है ही नहीं। सामाजिक, ऐतिहासिक शक्तियां जिस प्रकार बाह्य सामाजिक ऐतिहासिक स्थिति, परिस्थिति निर्माण करती हैं, ठीक उसी तरह वे व्यक्ति के भीतर प्रवेश कर उसके 'सूक्ष्म' का निर्माण करती हैं। साहित्य की सामाजिक, ऐतिहासिक व्याख्या सूक्ष्म के रूप-स्वरूप की ही वास्तविक व्याख्या है।"[28]

वस्तु और रूप सम्बन्धी जिज्ञासायें मार्क्सवादी आलोचना के समक्ष भी रही हैं। यह समझना भ्रम है कि रूप के सम्बन्ध में कोई मार्क्सवादी आलोचना दृष्टि है ही नहीं। मुक्तिबोध ने स्वीकार किया है कि संवेदनशील कवि हृदय को, उसके आस-पास की वास्तविकता के मार्मिक पक्ष को गहरी चुनौती देते हैं। यह चुनौती दो प्रकार की होती है—तत्व सम्बन्धी और रूप सम्बन्धी। वास्तविकता यह है कि आज के कवि को एक साथ तीन क्षेत्रों में संघर्षरत् रहना पड़ता है—एक, **तत्व के लिये संघर्ष**, दो, **अभिव्यक्ति को सूक्ष्म बनाने के लिये संघर्ष** और तीन, **दृष्टि-विकास का संघर्ष**। इनमें पहले का सम्बन्ध मानव वास्तविकता के उद्घाटन से है। दूसरे का सम्बन्ध चित्रण की क्षमता से है और तीसरे का सम्बन्ध विश्वदृष्टि के विकास से है। मुक्तिबोध इस त्रिविध संघर्ष को महत्वपूर्ण मानते है।[29] साहित्य सृजन मुक्तिबोध के लिये केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं है बल्कि एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है।[30]

मुक्तिबोध की दृष्टि में साहित्य के मूल्य विचारधारा की शक्ति पर निर्भर करते है। साहित्य में प्रकट **भावदृष्टि जब ज्ञानधारा या विचारधारा से अनुप्राणित** होती है तो लेखक की **विश्व-दृष्टि** का रूप ग्रहण करती हैं।[31] प्रत्येक युग में जीवन के कुछ बुनियादी तथ्य होते हैं। उनके विश्लेषण से हम अपनी ज्ञान-व्यवस्था को ही नहीं भाव-व्यवस्था को भी विकसित करते हैं। जब तक यह भाव व्यवस्था विकसित नहीं होती, कविता की समस्या मानव समस्या का रूप नहीं ले सकती। **कला की स्वायत्तता** को इतना निविकल्प (Absolute) मान लेना कि वह **साक्षात् जीवन से विच्छिन्न** होने लगे वस्तुतः **कला का अन्यथाकरण** है।[32] अन्ततः सौन्दर्यानुभव के सूत्र वास्तविक जीवन से प्राप्त किये जाते हैं।

मुक्तिबोध ने कला में व्यक्त मानव समस्या को पहचानने के लिये ऐतिहासिक तनावों का अध्ययन किया है जो समाज के भीतर चलने वाली परिवर्तन-प्रक्रियाओं का अंग होते है।[33] **सौन्दर्य-प्रतीति** को **सामाजिक-दृष्टि** से अलग करना आजकल की कृत्रिम विभाजन-बुद्धि का परिणाम है जब तक हम **युग की मूल गतिमान सामाजिक शक्तियों से** बनने वाले **सांस्कृतिक इतिहास** को जान नहीं लेते तब तक कला या साहित्य के ऐतिहासिक मूल्यांकन की कोई सार्थकता नहीं है। केवल रूप बदल जाने से कोई साहित्य **प्रगतिशील या प्रतिक्रियावादी** नहीं हो जाता।[34] कलात्मक सौन्दर्य के मान एक विशेष मर्यादा के भीतर कलाकृति में ही निहित होते हैं किन्तु यह सौन्दर्यमानों की श्रृंखला सांस्कृतिक परम्परा से प्रभावित, प्रमाणित ओर संशोधित होती रहती है।

मुक्तिबोध ने **कला के सामाजिक संघर्ष** पर बल देते हुए **कलात्मक सौन्दर्य** की वैसी उपेक्षा नहीं की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैसी प्रायः प्रगतिवादी आलोचना में दिखायी देती है। उन्होंने कलात्मक सौन्दर्य को अपनी सौन्दर्य-शास्त्रीय और समाजशास्त्रीय दृष्टि के साथ पारिभाषित किया "कलात्मक सौन्दर्य तो वह सिंह-द्वार है जिसमें से गुजर कर ही कृति के मर्म-क्षेत्र में विचरण किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। उस मर्म-क्षेत्र में पहुंच कर, उसे पहचान कर उसके मार्ग से ही उस जीवन-जगत् तक जाया जा सकता जो है जीवन-जगत् आभ्यन्तर और बाह्य इन दोनों तत्वों से निर्मित हैं, जो जीवन-जगत् मानव सम्बन्धों, जीवन-मूल्यों, ज्ञान दृष्टियों तथा **गहन मानसिक प्रतिक्रियाओं का एक संवेदनात्मक समवाय** है, जो कलाकार के अन्त:करण में अनेक मिश्र रूपों में संचित हो कर अभिव्यक्ति-क्षणों में प्रोद्भासित हो उठता है, अपने सारे वैभव और समृद्धि के साथ। चूंकि कला कृति, मूलतः संवेदनात्मक उद्देश्यों की पूर्ति के निमित्त, कल्पना की कमियों द्वारा **जीवन की पुनर्रचना** है, अतएव हमें, अपने जीवन के ही लिये, उस **पुनर्रचित जीवन** को देखना होगा, उसकी विविधपक्षीय परीक्षा करनी हागी।"[35]

मुक्तिबोध ने अपनी आलोचना दृष्टि को विकसित करते हुए किस प्रकार रचना की अपनी विशेषता और सामाजिक चिन्ताओं में सामंजस्य स्थापित किया है इसे हम कुछ अभिप्रायों के आधार पर लक्ष्य कर सकते हैं - जैसे—सामाजिक वास्तविकता की द्वन्द्वात्मक पहचान, कला के तीन क्षण, फैंटेसी अनुभव के व्यक्तिगत के स्रोत से पृथकता, संवेदित अनुभव का विस्तार, भोक्तृत्व और दर्शकत्व का द्वन्द्व, सामाजिक निधि के रूप में भाषा की पहचान, अर्थ क्षेत्र का विस्तार, अर्थ स्पन्दनों के पीछे सार्वजनिक सामाजिक अनुभवों की परम्परा, यथार्थ की गतिशीलता, साहित्य के लिए साहित्य से निर्वासन, कंडीशण्ड साहित्यिक रिफ्लैक्स से मुक्ति, व्यक्ति समस्या का मानव समस्या में पर्यवसान, यथार्थवादी कला की आत्मपरकता की स्वीकृति, कला की सापेक्ष स्वतन्त्रता, व्यापक चित्रण की माँग, कला सिद्धान्त के पीछे जीवन दृष्टि—जीवन दृष्टि के पीछे जीवन दर्शन—जीवन दर्शन के पीछे राजनीतिक दृष्टि, रचना के अन्तर्जगत् और बाह्य जगत् की संगति, सामाजिक दबाव और मानवीय करुणा, वस्तुगत परिवर्तन का आभ्यन्तरीकरण, साहित्यिक दृष्टि और जीवन-चेतना, ऐतिहासिक विकास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया, वर्ग में समाहित और विकसित कला चेतना, 'सूक्ष्म' की सामाजिक ऐतिहासिक विकास धारा के अंगभूत तत्व के रूप में कल्पना, वस्तु और रूप का अन्तर्संगठन, कला के लिए त्रिविध संघर्ष, (तत्व के लिए संघर्ष, अभिव्यक्ति को सक्षम बनाने के लिए संघर्ष, दृष्टि विकास का संघर्ष), भाव-दृष्टि का ज्ञानधारा से अनुशासन, लेखक की विश्वदृष्टि, कला की निर्विकल्पक स्वायत्तता कला का अन्यथाकरण, सौंदर्य प्रतीति और सामाजिक दृष्टि का अभेद, युग की मूल गतिमान सामाजिक शक्तियाँ और उनसे निर्मित साँस्कृतिक इतिहास, रूप परिवर्तन 'प्रगतिशील' या 'प्रतिक्रियावादी' का निर्णायक नहीं, कलाकृति गहन मानसिक प्रतिक्रियाओं का एक संवेदनात्मक समवाय, कला जीवन की पुनर्रचना। इन धारणाओं से स्पष्ट है कि मुक्तिबोध ने देश काल की सामाजिक चेतना के सन्दर्भ में ही साहित्यिक कृति के सौंदर्य को परखने की माँग की है। यही कारण है कि वे प्रचलित प्रगतिवादी आलोचना की कमियाँ गिनाते हैं और फिर भी एक विकसित प्रगतिवादी आलोचना दर्शन का उदाहरण उपस्थित करते हैं।

1. "कल ही मैंने एक लम्बी कविता खत्म की। ---- मुझे उसकी सम्भावित लम्बाई, चौड़ाई, को देख भय सा जान पड़ा। ---- क्या उसको काट छाँट कर छोटा कर दिया जाय, या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके भीतर जो बातें, जो गुत्थियाँ, जो समस्यायें प्रकट हुई हैं, उनके चित्रणात्मक विकास के लिए अवसर और क्षेत्र प्रदान किया जाय"-एक साहित्यिक की डायरी पृ० 30

2-भूमिका, नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबन्ध।

3. एक साहित्यिक की डायरी पृ० 19

4. "यह इसलिए होता है कि दृष्टि की स्थिति मुक्त वैयक्तिकता और संवेदना की स्थितिबद्ध वैयक्तिकता का समन्वय होकर वह समन्वय अपने से उच्चतर स्थिति में पहुंच जाता है।" वही पृ० 21

5. एक साहित्यिक की डायरी पृ० 24

6. एक साहित्यिक की डायरी पृ० 24

7. वही पृ०26

8. वही पृ० 27

9. वही पृ० 31

10. "———— जो व्यक्ति साहित्यिक दुनिया से जितना दूर रहेगा। उसमें अच्छा साहित्यिक बनने की सम्भावना उतनी ही ज्यादा बढ़ जाएगी।" वही पृ० 59

11. एक साहित्यिक की डायरी पृ० 70

12. वही पृ० 102

13. "कथाकार यदि सचमुच जीवन का गहरा और व्यापक ज्ञान रखता है तो वह प्रसंग-स्थिति में बद्ध मनुष्य की संवेदनात्मक प्रतिक्रियाओं को ही महत्व नहीं देगा वरन् उस स्थिति से सम्बन्ध रखने वाले, जो वस्तु सत्य हैं उनको बनाने वाले तत्वों पर अर्थात् व्यक्ति स्वभाव की विशेषताओं, वास्तविकता की पेचीदगियों और अब तक चलते आये इन सबके विकास-क्रम पर, इन सब पर, अवश्य ही ध्यान देकर, इस प्रसंग स्थिति के वस्तु सत्य के सारे ताने बाने प्रस्तुत करेगा।" वही पृ० 108

14. नये साहित्य का सौंदर्य शास्त्र पृ० 12

15. वही पृ० 12

16. नए साहित्य का सौंदर्य शास्त्र पृ० 19

17. वही पृ० 56

18. वही पृ० 57

19. "जनता के साहित्य से अर्थ है, ऐसा साहित्य जो जनता के जीवन मूल्यों को, जनता के जीवनादर्शों को प्रतिष्ठापित करता हो, उसे अपने मुक्तिपथ पर अग्रसर करता हो। इस मुक्तिपथ का अर्थ राजनैतिक मुक्ति से लगा कर अज्ञान से मुक्ति तक है।" वही पृ० 79

20. नए साहित्य का सौंदर्य शास्त्र पृ० 80

21. वही पृ० 82

22. वही पृ० 82

23. वही पृ० 87

24. "जीवन परिस्थिति में परिवर्तन से और यथार्थ के नये नये पहलुओं के खुलने से उनके आभ्यन्तरीकरण के द्वारा लेखक का जो संवेदनात्मक वैयक्तिक इतिहास बनता है वह इतिहास पूर्ववर्ती प्रवृत्ति के कवियों से सर्वथा भिन्न होता है, अतएव इस नवीन प्रवृत्ति वालों की रचना प्रक्रिया भी बदल जाया करती है और तदनुरूप अभिव्यक्ति शैली भी।"
——नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र पृ 89

25. वही पृ० 109

26. वही पृ० 112

27. नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र पृ० 129

28. वही पृ० 142

29. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध पृ० 3

30. वही पृ० 19

31. वही पृ० 30

32. वही पृ० 36

33. वहीं पृ० 47

34. नयी कविता का आत्म संघर्ष पृ० 147

35. कामायनी एक पुनर्विचार पृ० 169

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शशिधर शर्मा, वाचस्पति
संस्कृत प्राध्यापक
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

हर्ष महाकवि ही नहीं, महान् वैयाकरण भी थे

संस्कृत के महाकवियों में श्रीहर्ष का असामान्य उदात्त आस्पद है। उनकी अमर कृति "नैषधीय-चरितम्" में भारतीय काव्यों का चामत्कारिक वैभव चरम शिखर को प्राप्त हुआ है और आलोचकों का एक वर्ग तो यहाँ तक कह बैठा कि उनके काव्य के उदयोपरान्त भारवि और माघ बिल्कुल फीके पड़ गए हैं—

उदिते नैषधे काव्ये
क्व माघः क्व च भारविः ?

श्री हर्ष केवल कवि नहीं थे, अपितु असामान्य और चतुरस्र विद्वत्ता से विभूषित भी थे। दर्शन क्षेत्र में उनके निरंकुश साम्राज्य का परिचय देने के लिए "खण्डन खण्ड खाद्यम्" का नामोल्लेख ही पर्याप्त है। स्वयं "नैषधीय चरितम्" में आस्तिक ही नहीं, नास्तिक दर्शनों के भी कोश सम्यक् उद्घाटित हुए हैं और वेदों तथा वेदांगों, सभी का अद्भुत निबन्धन किया गया है।

शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष इन छः वेदांगों में मुख्य स्थान व्याकरण का माना गया है—मुखं व्याकरणं स्मृतम्[1]। श्री हर्ष ने भी तद-नुसार ही व्याकरण सम्बन्धी विज्ञान का अपूर्व दिग्दर्शन कराया है जो न केवल चमत्कारक अपितु विभोर बना देने वाला भी है।

व्याकरण भी यद्यपि आठ प्रसिद्ध हैं। जैसे कि—

ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम्।
सारस्वतं चापिशलं शाकलं पाणिनीयकम्[2] ॥

तो कहीं आठ प्रथम शाब्दिकों का उल्लेख मिलता है[3]। तथापि, उपलब्ध व्याकरणों में पाणिनीय व्याकरण ही प्राचीनतम ठहरता है। अपनी व्यापकता तथा सर्वांगीणता के कारण शब्दानुशासनशास्त्र होने का तात्त्विक गौरव भी पाणिनीय शास्त्र ने ही पाया। फलतः यद्यपि श्री हर्ष के विश्रुत टीकाकार विद्याधर के अनुसार आठों व्याकरणों, तर्कशास्त्र, साहित्य, वेदार्थ और पुराणादि का अभिज्ञ ही श्रीहर्षीय नैषधीय चरित के सत्रहवें सर्ग की व्याख्या कर सकता है[4]। तथापि, जैसा कि अनुपद प्रकट होगा, कवि ने पाणिनि प्रणीत व्याकरण शास्त्र की ही सूक्ष्मताओं का निबन्धन करने में सविशेष रस लिया है और इस (सत्रहवें) सर्ग में तो पाणिनि मुनि का नामोल्लेख करते हुए उनके एक सूत्र का अर्थान्तर तक किया है[5]। अतः पाणिनीय व्याकरण को ही श्रीहर्ष वेदांग रूप में सारवान् समझते थे, जिसकी अपनी स्वामिता के स्थापन में उन्होंने कुछ उठा न रखा। उदाहरण रूप में निषधराज (नल) की प्रशंसा में दमयन्ती के प्रति कही गई इस उक्ति को लीजिए जिसका एक अर्थ है—"यदि सत्पुरुषों को बांटा जाए तो वह व्यक्ति (नल) प्रथम ठहरेंगे जो अपने ओजः-पूर्ण अवदानों से पृथ्वी को स्वायत्त करने में अकेले ही बहुत होंगे[6]"। पर दूसरे अर्थ में पाणिनि-व्याकरण का चमत्कार देखिये—

"यदि भली-भाँति विभक्तियों का विचार किया जाए तो वह प्रथमा विभक्ति होगी जो सु, औ, जस् रूप (एक वचन, द्विवचन और, बहुवचन के प्रत्ययों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्यबल से अनेक प्रातिपदिक शब्दों के साधन में समर्थ होगी ।[7]"

महर्षि पाणिनि के अनुसार आदेश, स्थानी (जिसके स्थान पर आदेश होता है) के सदृश हो जाता है । पर, यदि अल् (वर्ण) के आश्रय से कोई व्याकरण की विधि करनी हो तब यह स्थानिवद्भाव नहीं होता ।[8] स्वयंबर में नल का वेष बनाकर बैठे इन्द्र के सम्बन्ध में श्री हर्ष की निम्नांकित उक्ति में उपर्युक्त सूत्र का अर्थ किस वैदग्ध्य से अविकल रूप में उतर आया है जिसका अर्थ इन्द्र-पक्ष में है—

"नल न होने पर भी काम के लिए अपने को नल रूप बनाकर इन्द्र को किस प्रकार अपने सच्चे नीच रूप को धारण करना पड़ा—भले ही उसने बात बनाई खूब थी !"

पक्षान्तर में इसीका अर्थ है—

"विश्रुत व्याकरण-प्रणेता सुधी (इन्द्र) ने व्याकरण-कार्य की सिद्धि के लिए अल्विधि में निषिद्ध स्थानिवद्भाव को कैसे कर दिया ?"[9]

महान् वैयाकरण इन्द्र ने अल्विधि में स्थानिवद्-भाव कर दिया—अतः श्रीहर्ष को आश्चर्य क्यों न होता ?

अद्यतन भूतार्थ में आए लुङ् लकार में अस् धातु के स्थान में महर्षि पाणिनि के अनुसार 'भू' आदेश हो जाएगा क्योंकि आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते 'अस्' के स्थान में उन्होंने 'भू' आदेश का नियम बनाया है ।[10] दमयन्ती के स्वयंवर प्रसंग में श्रीहर्ष ने इस नियम का हृदयग्राही निबन्धन किया है । स्वयंवर में उपस्थित नरेन्द्रवृन्द का परिचय कराती हुई वाग्देवता सरस्वती विदर्भेन्द्रतनया को काशिराज का वर्णन करती हुई उनकी नगरी के सम्बन्ध में बता रही हैं—

"भीमतनये, शंकर जी की उस नगरी में पहुंच कर संसार-समुद्र का यह जन्तु (जीव) शंकर जी के सायुज्य को ही पा लेता है जैसे कि भूतकाल बोधक लुङ् लकार को प्राप्त कर 'अस्' धातु 'भू' रूप को प्राप्त हो जाती है ।

सायुज्यमृच्छति भवस्य भवाब्धियाद
स्तां पत्युरेत्य नगरीं नगराजपुत्र्याः ।

भूताभिधानपटुमद्यतनीमवाप्य
भीमोद्भवे भवतिभावमिवास्ति धातुः ।[11]

हम कह चुके हैं कि पाणिनीय व्याकरण को ही श्री हर्ष व्याकरण मानते थे। इसे 'त्रिमुनि शास्त्र' भी कहते हैं[12] क्योंकि पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि ये तीन मुनि इसके मूलाधार हैं ।

श्री हर्ष ने महाभाष्यकार का कई स्थानों पर उल्लेख किया है । कुण्डिनपुरी की तुलना उन्होंने महाभाष्य की फक्किका के साथ की है—

'फणिभाषित भाष्यफक्किका
विषमा कुण्डलनामवापिता ।'[13]

महाभाष्यकारकी उक्ति कि 'चतुर्भिश्च प्रकारै विद्योपयुक्ता भवति आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेनेति,[14]" श्री हर्ष के निम्नांकित पद्य में बड़े चामत्कारिक ढंग से उतर है—

अधीतिबोधाचरणप्रचारणै
र्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः ।
चतुर्दशत्वं कृतवान्कुतः स्वयं
न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम् ।[15]

पतञ्जलि को व्याकरण की परम्परा में शेषनाग का अवतार माना गया है । इसी लिए श्री हर्ष उन्हें 'फणी' कहकर पुकारते हैं । व्याकरण को उन्होंने फणिभद (पतञ्जलि से हुआ) शास्त्र भी कहा है । किस खूबी से—यह तो देखते ही बनता है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नल के बन्दिवृन्द प्रातः काल बोलते हुए कौए और कोयल के शब्द का वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि सवेरे कौए ने प्रश्नार्थक किम् शब्द के प्रथमा-विभक्ति के द्विवचन के रूप 'कौ' को बोलते हुए पूछा कि शेषनाग (महाभाष्यकार) के शास्त्र (व्याकरण) में 'तातङ्' आदेश के दो स्थानी कौन हैं ? कोयल का उत्तर था "तुहि"—

इह किमुषसि पृच्छाशंसि किं शब्द रूप-

प्रतिनियमितवाचा वायसेनैव पृष्टः ।

भण फणिभवशास्त्रे तातङः स्थानिनौ कौ

प्रतिविहित तुहीवागुत्तरः कोकिलोभूत् ।।[16]

बात यह है कि महर्षि पाणिनि ने आशीर्लिङ् में मध्यम पुरुष के 'तु' और 'हि' के स्थान ने 'तातङ्' आदेश का विधान किया है :—

तुह्योस्ताङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम् ।[17]

इसी के आधार पर श्री हर्ष को यह अनूठी बात सूझी। उन्होंने तो कबूतर को भी वैयाकरण बना डाला और बड़े अनूठे ढंग से। उसके घू घू शब्दमें उन्हें पाणिनि की घुसंज्ञा समझ पड़ी[18] और प्रभातवर्णन में ही उन्होंने लिखा कि कबूतर भी निश्चय ही दाक्षीपुत्र (भगवान् पाणिनि) के शास्त्र का अध्येता रहा है। रूपसिद्धि के लिए इसके द्वारा प्रयुक्त खड़िया (मिट्टी) का चिन्ह इसके गले की सफेदी के रूप में बच रहा है। पर, दैववश एक 'घु' संज्ञा को छोड़ वह सभी भूल गया।वह उस (घु) को ही घोखता रहता है और पाटी पढ़ते समय के संस्कार से सिर हिलाता रहता है—

"दाक्षीपुत्रस्य तन्त्रे ध्रुवमयमभवत्

कोऽप्यधीती कपोतः ।

कण्ठे शब्दौघसिद्धिक्षतबहुकठिनी-

शेषभूषानुयातः ।

सर्वं विस्मृत्य दैवात् स्मृतिमुषसि गतां

घोषयन्यो घुसंज्ञां ।

प्राक्संस्कारेण सम्प्रत्यपि धुवति शिरः

पट्टिकापाठजेन ।[19]

"अपवर्ग" अर्थात् जितने समय या दूरी में कार्य सम्पन्न हो जाए—उसके वाचक शब्द से पाणिनि ने "तृतीया विभक्ति" का विधान किया है—'अपवर्गे तृतीया[20]। पर, इस सूत्र का जो अर्थ श्रीहर्ष ने किया वह सदा ही रसज्ञों को गुदगुदाता रहेगा। 'अपवर्ग' का मोक्ष और 'तृतीया' का तीसरी अर्थ करते हुए उन्होंने धर्म की धज्जियां उड़ाने वाले चार्वाक के मुख से कहलाया—

उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मनः ।

अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि ।[21]

एक विभक्ति में जो समानरूप हों उनमें से एक ही बच रहता है—सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ ।[22]

श्री हर्ष ने दो स्थानों पर इसका निबन्धन किया है। प्रथम, हंस के प्रति दमयन्ती की इस उक्ति में कि आज तुम्हारे हाथों में, या तो मुझे नल की प्राप्ति होगी या फिर प्राण ही चले जाएगें इन दो का 'एक शेष' ही रह जाएगा' —

ममाद्य तत्प्राप्ति रसुव्ययो वा

हस्ते तवाऽस्ते द्वयमेकशेषः ।[23]

दूसरे, दमयन्ती के रूपनिरूपणापरायण नल के इन उद्गारों में कि हर मास अमावास्या को चन्द्रमा के सैकड़ों बिम्बों को मिटा मिटाकर विधाता ने अनश्वर शोभासम्पन्न दमयन्ती के मुख चन्द्र को एक शेष (एक बाकी बचा) रखा है—

विधोर्विधिर्विम्बशतानि लोपं

लोपं कुहूरात्रिषु मासि मासि ।

अभंगुर श्रीकममुं किमस्या

मुखेन्दुमस्थापयदेकशेषम् ।[24]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याकरण की 'अपादान'[25] संज्ञा का भी उन्होंने उपयुक्त उपादान किया। यथा—

अतिवृत्तः स वृत्तान्तस्त्रिजगद्युवगर्वनुत्।
आगच्छतामपादानं स स्वयंवर एव नः।[26]

दो से अधिक में अतिशय का बोध कराने वाले तमप् प्रत्यय का क्या ही निरतिशय निबन्धन नल की दमयन्ती के प्रति कही इस चाटूक्ति में हुआ है—

खण्डक्षोदमृदि स्थले मधुपयः कादम्बिनीतर्पणात्।
कृष्टे रोहति दोहदेन पयसां पिण्डेन चेत्पुण्ड्रकः।
स द्राक्षाद्रवसेचनैर्यदि फलं धत्ते तदा त्वद्गिरा-।
मुद्देशाय ततोऽप्युदेति मधुराधारस्तमप्प्रत्ययः॥?[27]

"यदि खाँड के चूरे की मिट्टी हो, उसे शहद रूप पानी की धाराओं वाली मेघमाला सींचे और अनन्तर दूध की खाद (दोहद) मिले, तब जो पुंड्रक (पूंडा) उत्पन्न हो यदि वह अंगूर के रस से सींचा जाए तब जो फल लगेगा, प्रिये दमयन्ती, तुम्हारी वाणी की मिठास को समझाने में उसकी अपेक्षा भी मधुर शब्द से तमप् प्रत्यय लगाना पड़ेगा अर्थात् 'तुम्हारी वाणी मधुरतम है' यह कहना पड़ेगा"!

'षण्णाम्' शब्द की निष्पत्ति जरा जटिल है। श्रीहर्ष ने इसे भी लपेट में ले ही लिया। इस प्रकार-

गत्वान्तरा नलं भैमीं नाकत्त्वं प्रवेक्ष्यसि।
षण्णां चक्रमसंयुक्तं पठ्यमानं डकारवत्॥[28]

नल के दमयन्ती परिणय में विघ्न-इच्छुक कलियुग को देवगण समझा रहे हैं कि नल और दमयन्ती के बीच एकाएक उसका प्रवेश संभव न होगा जैसे कि सन्धि के बिना डकार 'षण्णां' शब्द के मध्य अन्तर्निविष्ट नहीं हो पाता है। जिस प्रकार (षष् न आम् इस अ-संयुक्त अवस्था में) रहने वाला डकार बिना 'ण' कार-रूप विकार प्राप्त किए, सिद्ध हुए 'षण्णाम्' प्रयोग में प्रवेश नहीं पाता। अर्थात् 'षण्णाम्' ऐसा रूप नहीं बनता, उसी प्रकार नल और दमयन्ती के बीच में तुम भी बिना विकृत हुए (रूपान्तर धारण किए) प्रवेश नहीं पा सकोगे।

संस्कृत व्याकरण में 'वीर' उपपद 'हन्' धातु से 'क' प्रत्यय[29] करने पर 'वीरघ्न' और 'अच्'[30] प्रत्यय से 'वीरहण' रूप बनता है। श्री हर्ष ने एक ही श्लोक में दोनों रूपों का प्रदर्शन किया है।[31]

अस् और भू धातु का उल्लेख किस प्रकार नैषधीय चरितम् में किया गया है-यह पहले आ चुका है। ऐसे ही णिशि चुम्बने'धातु[32] का भी अर्थ-संकेतपूर्वक निर्देश हुआ है—

हन्तु मन्तुं दिनस्यास्य
वयस्येयं व्यवस्यतात्।
निशीव निशिधात्वर्थं
यदाचरति नात्र नः।[33]

नवीन और साहसिक प्रयोग श्रीहर्ष के व्याकरण-ज्ञान की विशिष्टता हैं। कृत्यप्रत्यय केलिमर् का कात्यायन ने उपसंख्यान किया है।[34] पर, इसका ऐसा सुलझा प्रयोग कोई न कर सका जैसा श्रीहर्ष ने किया। यथा—

पचेलिमं दाडिममर्क बिम्बम्[35]

एक यङन्त प्रयोग देखिए—

शचीसपत्न्यां दिशि पश्य भैमि
शक्रेभदानद्रवनिर्झरस्य।
पोप्लूयते वासरसेतुनाशा
दुच्छृंखल: पूर इवान्धकार:।[36]

निषधेश्वर के शब्दों में रात को पूर्व दिशा में फैलते हुए अन्धकार का यह वर्णन है—

'दमयन्ति, दिनरूपी बांध के नष्ट होने से ऐरावत के मदजलरूप झरने के प्रवाह के समान निर्बाध अंधेरा फैलता जा रहा है—देखो! (जैसे, बांध टूटने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से तालाब का प्रवाह बेरोक होकर बहता है, वैसे ही सूर्य अस्त हो जाने पर ऐरावतीय मद-जल के झरने के समान अन्धकार पूर्व दिशा की ओर बढ़ रहा है)। प्लुङ् सर्पणे धातु अन्धकार के फैलने को बताने के लिए उचित प्रयुक्त हुई है। यङ् उसके वेग को प्रत्यक्षवत् कर देता है।

नैषधकार लुङ्-विशेषत: कर्मणि लुङ्-के प्रयोगों में बहुत निपुण हैं। ऐसे ही णिजन्त प्रयोग भी वे खूब करते हैं। प्राशंसि, अकलि, अकारि, अवीवदत् न्यवीविशत् जैसे प्रयोग यहां से वहां तक विखरे हुए हैं।[37] ये वैदुष्यका निकष माने जाते हैं।

कविकर्म शब्द और अर्थ की रमणीयता पर ही निर्भर है। अत: माघ जैसे रससिद्ध कवियों ने भी प्रत्येक श्लोक में कोई न कोई व्याकरण चमत्कार अवश्य संजोया है, पर श्रीहर्ष तो अपने प्रत्येक पद्य में जहां नवीन अर्थ के समाहरण के लिए सावधान रहते हैं, वहां एक एक पद्य में कई व्याकरणसम्बन्धी चमत्कृतियाँ भरने के लिए भी। उदाहरणार्थ—

द्वित्रैरेव तमस्तमाल गहन—
ग्रासे दवीभावुकै—।
रुस्रं रस्य सहस्रपत्रस दसि
व्यस्राणि घस्रोत्सवः।
घर्माणां रयचुम्बितं वितनुते
तत्पिष्टपिष्टीकृत—
क्ष्मादिग्व्योम तमोघमोघ मधुना
मोघं निदाघद्युतिः।[38]

इस एक ही पद्य में 'द्वित्रै': में सामासिक प्रत्यय वैशिष्ट्य, 'भावुकै:' में कृदन्त उकञ्् की कमनीयता, 'दवीभावुकैः' और 'पिष्टीकृत' में तद्धित च्विप्रत्यय का चमत्कार है, तो 'व्यस्राणि' में चुरादिकी स्रण धातु के कर्मलुङ् का बाँकपन है। 'तमस्तमालगहनग्रासे' या 'तत्पिष्टपिष्टीकृत - क्ष्मादिग्व्योमतमोघं' सरीखे समासों की तो हमने चर्चा ही छोड़ दी है। सच बात तो यह है कि उनका प्रत्येक पद्य शब्दशास्त्रीय चमत्कार का भाण्डागार है। छोटी मोटी सूचियों का यह विषय कहां ?

हम अन्त में दो ऐसे पद्य उद्धृत करते हैं जिनकी और अभी तक आलोचकों की शब्दशास्त्रीय गांभीर्यगवेषणी दृष्टि नहीं गई है।

दमयन्ती के नयन कमलों का वर्णन करते हुए नैषधकार ने लिखा—

अपि लोकयुगं दृशावपि
श्रुतदृष्टा रमणीगुणा अपि।
श्रुतगामितया दमस्वसु
र्व्यतिभाते सुतरां धरापते।[39]

हंस नल से निवेदन कर रहा है कि पृथ्वीपते ! दम की बहिन दमयन्ती के मातृकुल तथा पितृकुल वेद-प्रसिद्ध होने से परस्पर शोभित होते हैं:, दोनों नेत्र भी कानों तक पहुंचने अर्थात् निरतिशय बड़े बड़े होने से शोभा पाते हैं; और शास्त्रों में सुने तथा किसी सुन्दरी में देखे गए सभी समुचित गुण भी लोगों द्वारा सुने जाने से परस्पर शोभा पाते हैं !

यहां 'वि' और 'अति' उपसर्गपूर्वक 'भा' धातु से सिद्ध लट् प्रथम पुरुष की 'क्रियाव्यतिभाते प्रयुक्त की गई है। एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन में 'व्यतिभाते' यह एक ही रूप बनता है, अत: अकेली ही यह क्रिया तीनों वचनों में प्रयुक्त लोकयुगं (एकवचन), दृशौ (द्विवचन) एवम् रमणीगुणाः (बहुवचन) कर्तृपदों के साथ सम्बद्ध हो रही है। 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे'[40] इस पाणिनीय नियम के अनुसार 'वि+अति' उपसर्गों के साथ 'भा' धातु का 'परस्पर विनिमय' अर्थ होता है। फलत: इसका गूढ़ अर्थ होगा— दमयन्ती का मातृकुल लोक प्रसिद्ध है अत: मातृकुल की इस प्रसिद्धता को इसके पितृकुल ने स्वीकार किया। तथा दमयन्ती का पितृकुल भी लोकप्रसिद्ध है। अत: पितृकुल की प्रसिद्धि को इसके मातृकुल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने स्वीकार किया। अर्थात् दमयन्ती के सम्बन्ध से उसके मातृ और पितृ दोनों कुल शोभा पा रहे हैं। यह सादृश्य है श्रुतिगामिता अर्थात् लोक प्रसिद्धता के कारण।

उसके दोनों नेत्र कानों तक पहुंच रहे हैं। अत: (श्रुतिगामी; कानों तक फैला) होने के कारण इसका दाहिना नेत्र बांए के सदृश और बांया दाहिने के सदृश (विशाल) है।

शास्त्रों में सुने गए एवं महिला-रत्नों में देखे गए उच्च गुण भी दमयन्ती में ही सुने गए (श्रुति-गामी) हैं। फलत: सुने गए दमयन्ती के गुणों की श्रुतगामिनी शोभा को उसके तथा विध दृष्ट गुणों ने लिया और तादृश देखे गए गुणों की कान्ति को उसके श्रुत गुणों ने। अर्थात्, सुने गए दमयन्ती के गुण जैसी शोभा पाते हैं उसमें देखे गए गुण भी वैसी ही। भाव यह कि सुने या देखे गए सम्पूर्ण स्त्रीगुण दमयन्ती में विराजमान हैं। यह सारा विराट् वैभव 'श्रुति-गामितया व्यतिभाते' इन दो पदों पर आधारित है।

व्याकरण में अ ए ओ को गुण कहा जाता है[41]। अवर्ण से अच् परे रहते गुण एकादेश होता है[42]। ऐसे ही, अक् (अ. इ. उ. ऋ. लृ) से सवर्ण अच् परे रहते पूर्व पर के स्थान में दीर्घ एकादेश होता है[43]; सकर्मक धातुओं से लकार कर्ता और कर्म में होते हैं ओर अकर्मकों से भाव और कर्म में;[44] अनीयर् तव्य, तव्यत् आदि कृत्यसंज्ञक प्रत्यय होते हैं[45]। सरस्वती का वर्णन करते हुए सिद्ध सरस्वतीक कवि ने इसी लिए लिखा कि पट्ट सूत्र की लम्बाई से किए (अर्थान्तर में गुण, दीर्घ, भाव प्रत्यय और कृत्प्रत्ययों के) विस्तार को धारण करती हुई और शब्द परम्परा को करने वाली अर्थात् बजती हुई, व्याकरण पक्ष में राम, पाक आदि शब्द समूह को सिद्ध करने वाली (सरस्वती की करधनी) व्याकरण शास्त्र से बनी थी।

उपेन्द्र: महोदार: आदि पदों में गुण; दैत्यारि. श्रीश: इत्यादि में दीर्घ, भूयते आदि में भाव, और कर्तव्यं, करणीयम् आदि में कृत् प्रत्यय हुआ करते हैं। और, असन्दिधभावेन व्याकरणशास्त्र ही राम रमा हरि आदि यच्च यावत् शब्दों की सिद्धि करता है।

करधनी (काञ्ची) शब्द करती है. अत: कवीश्वर ने शब्दशास्त्र से ही उसका निर्माण किया। फिर व्याकरण वेदों का मुख ठहरा-अत: उसका शब्द करना उचित ही है। इधर, सरस्वती वाग्देवता ओर शास्त्रों की अधिष्ठात्री देवी हैं। अत: उनकी काञ्ची भी साधारण चीजों से न बनी होकर शब्दानुशासन अर्थात् व्याकरणशास्त्र से ही बननी उचित थी। फलत: नैषधकार द्वारा निबद्ध व्याकरण चमत्कार केवल पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए नहीं, अपितु प्रसंगानुरूप और अतिशय सटीक है।

इस विहगावलोकन से हम कह सकते हैं कि श्री हर्ष दिग्गज दार्शनिक या कवि ही नहीं—धुरीण वैयाकरण भी थे। उनके व्याकरण के प्रयोग या उल्लेख एक तरफ प्रौढ़ता के लिए तो दूसरी ओर अनूठेपन और अछूतेपन के लिए सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में अनुपम हैं; और देखने की बात तो यह कि औचित्य की कसौटी पर भी प्राय: खरे हैं। इस सम्बन्ध में वे पूर्व ओर परवर्ती सभी कविवरों को निष्प्रभ कर रहे हैं। यह ठीक ही कहा गया है कि—

'जायन्ते कति जज्ञिरे कति
जनिष्यन्ते कतीह क्षितौ।
स्रष्टारो नितरामिदन्तु कविभि
र्निर्मत्सरै: कथ्यताम्।
आपूर्वापर दक्षिणोत्तरहरित्-
साहित्यसिंहासन-
स्वीकारेह पराक्रमं भजतु क:
श्रीहर्ष सूरे: पर:।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1. पाणिनि शिक्षा-42
2. पाणिनीय परिचय:-श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी प्रणीत। चौखम्भीय महाभाष्य भूमिकात्मक-1954, पृष्ठ 6।
3. वही।
4. अष्टौ व्याकरणानि तर्कनिवहः साहित्यसारो नवो।

   वेदार्थावगतिः पुराणपठितिर्यस्यान्यशास्त्राण्यपि॥
   नित्यं स्युः स्फुरितार्थ दीपविहताज्ञानान्ध काराण्यसौ।
   व्याख्यातुं प्रभवत्यमुं सुविषमं सर्गं सुधीः कोविदः।

   Oriental Instt. Baroda MSS. No. 9 Follio. 278.
5. नैषधीय चरितम्-17।70
6. क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता
   व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया।
   या स्वौजसां साधयितुं विलासै
   स्तावत्क्षमा नामपदं बहुस्यात्॥

   नैषधीय चरितम्-3-23।
7. वही
8. स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ-अष्टाध्यायी 1।1।50
9. स्वं नैषधादेशमहो विधाय
   कार्यस्य हेतोरपि नानलः सन्।
   किं स्थानिवद्भावमधत्त दुष्टं
   तादृक् कृतव्याकरणः पुनः सः।

   नैषधीय चरितम् 10।136।
10. अस्तेर्भूः-अष्टाध्यायी 2।4।52।

    'नैषध परिशीलन' के विद्वान् लेखक ने इस सूत्र के प्रसंग से लिखा है—"व्याकरण के अनुसार आर्धधातुक प्रत्यय के कार्यकाल में अस् धातु को भू आदेश हो जाता है। यह न केवल अस्पष्ट है, अपितु अशुद्ध भी है। प्रकृत सूत्र में अष्टाध्यायी सूत्र 2-4-35 से 'आर्धधातुके" पद की अनुवृत्ति हो रही है—जिसका अर्थ ही वहाँ पर "आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते" है। बालमनोरमाकार ने स्पष्ट किया है—

    'अस्धातोर्भूभावः स्यादार्धधातुके प्रत्यये परे इत्यर्थः। सिद्धान्त कौमुदी बालमनोरमा तत्त्वबोधिनी मोतीलाल ब० प्रकाशन, पृ. 291।
11. नैषधीय चरितम् 11।17।

    'अद्यतनी' यह कौमार व्याकरण में लुङ् लकार की संज्ञा है। अतः उत्तरार्धके सम्बद्ध अंश का 'नैषध परिशीलनकार' द्वारा यह अर्थ कि "जिस प्रकार अद्यतन भूत अर्थ में अस् धातु भू धातु का स्वरूप बन जाती है," व्याकरण परम्परा के अज्ञान के कारण ही है। श्लोकों में 'अद्यतनभूते लकारे' न कहकर 'अद्यतनीम्' कहा गया है। प्रसिद्ध टीकाकार नारायण के शब्दों में-'अद्यतनीति लुङ् विभक्तेः कौमाराणां संज्ञा-पृ. 359।
12. संख्या वंश्येन-2।1।19 का उदाहरण भट्टोजि दीक्षितने "त्रिमुनि व्याकरणस्य" दिया है।
13. नैषधीय चरितम् 2।95।
14. पातञ्जल महाभाष्य 1।1।1।
15. नैषधीय चरितम्-1।4(A Critical Study of Sriharsha's Naisahdhiya-caritam (pp. 16.) में पद्य के प्रथम पदकाच्छेद

    अधीति,बोधा.(Bodha), चरण-(Carana) रूप में किया गया है परन्तु उचित छेद 'बोध' है। द्र. प्रकाश पृ० 4।
16. नैषधीय चरितम् 19।60।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

17. अष्टाध्यायी 7।1।53।
18. दाधाघ्वदाप्-अष्टाध्यायी 1।1।20। अर्थात् दाप्‌दैप् के अतिरिक्त दा एवं धा सदृश धातुओं की 'घु' संज्ञा होती है।
19. नैषधीय चरितम्।19।61।
20. अष्टाध्यायी-2।3।6।
21. नैषधीय चरितम्-19।70।
22. अष्टाध्यायी-1।2।64।
23. नैषधीय चरितम् 3।82।
24. वही-7।59।
25. ध्रुवमपायेऽपादानम्-अष्टाध्यायी-1.4.24
26. नैषधीय चरितम् ।9।118।
27. वही 21।153।
28. नैषधीय चरितम् 17।.51।
29. मूलविभुजादित्वात् कः-प्रकाश; पृ० 551।
30. अमनुष्यकर्तृके च-चकारवचनादच्। जीवातु संस्करण पृ० 16।36।
31. तेनादृश्यन्त वीरघ्ना। ननु वीरहणोजिनाः। इति।
32. धातुक्रमांक: 1025, अदादि आव्प.
33. नैषधीयचरितम् 20।54।
34. केलिमर उपसंख्यानम्।
35. नैषधीय चरितम् 22।14।
36. वही 22।26।
37. मुहृद्धर डॉ० अ० न० जानी ने श्रीहर्ष के विशिष्ट व्याकरण प्रयोगों की एक लघु सूची बनाई है। A Critical Study of Shri Harsha's Naisadhiya-caritam-App. 7 इधर, अब तक अलक्षित प्राय प्रयोग वैशिष्ट्य की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए हमारा लघु दिग्दर्शन है।
38. नैषधीय चरितम्। 19।63।
39. वही 2।22
40. अष्टाध्यायी 1।3।14।
41. अदेङ् गुणः। पाणिनीयसूत्र 1।1।2।
42. आद्गुणः। वही 6।1।87।
43. अकः सवर्णे दीर्घः। वही 6।1।102।
44. लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः। वही 3।4।69।
45. तव्यत् तव्यानीयरः। वही 3।1।96।
46. असंशयं सा गुण दीर्घ भाव-
    कृतां दधाना विततिं यदीया।
    विधायिका शब्द परम्पराणां
    किं वाऽरचि व्याकरणेन काञ्ची॥
    नैषधीय चरितम्-10।77.
47. विश्वेश्वर भट्ट Tanjore XIX, P. 2556

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० हुकुमचन्द राजपाल
गुरुनानकदेव विश्वविद्यालय
अमृतसर

समकालीन बोध और धूमिल की काव्य-चेतना

नये काव्य-आन्दोलन के गण्यमान्य कवियों में धूमिल, का नाम पिछले दशक से लिया जाने लगा है, विशेषकर मृत्यु-पश्चात् से तो इन्हें हिंदी कविता का सही-सार्थक कवि प्रतिष्ठित किया जाने लगा है। धूमिल की आड़ में अनेक आलोचकों ने अपना धंधा गर्म कर लिया-पाठ्य-कवि बनाकर कवि के प्रति श्रद्धांजलि के साथ ही नये कवियों के संरक्षक बन बैठे। स्थिति यहां तक आ पहुंची कि भारतीयता एवं भारतीय जन-जीवन का कवि मार्क्सवादी घेरे में बंद किया जाने लगा तथा खींचातानी से उसे इन्हीं सिद्धान्तों का कवि प्रतिष्ठित किया गया। परन्तु रचना पर आरोपित मूल्यों-सिद्धान्तों का डंका अधिक समय तक नहीं बजा करता। डा० रमेश कुंतल मेघ, जो धूमिल को मार्क्सवादी कवि-शब्द जादूगर और न जाने किन विशेषणों से विभूषित करते थे –को अंततः कहने पर विवश होना पड़ा कि कवि धूमिल मार्क्सवादी सिद्धान्तों को सही रूप में समझ नहीं सका। वे आलोचक जो धूमिल विशेषांक (आलोचना) में उन्हें महान् कवि स्थापित कर चुके हैं- पुनः बौखलाया कवि मानने लगे। दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति तब आई जब धूमिल की कविताओं को बिना समझे-कवि से मांग की जाने लगी तथा नंदकिशोर नवल को धूमिल पर विशेष लेख लिखना पड़ा—'बौखलाये हुए आदमी का संक्षिप्त एकालाप'।

वस्तुतः किसी भी 'वाद' 'आन्दोलन' अथवा सिद्धान्त का आलोचक जब कभी किसी कृतिकार से अपने अनुरूप सिद्धान्तों में विश्लेषित की चेष्टा करता है तभी वस्तुस्थिति से पलायन होने लगता है। मुझे आश्चर्य तब होता है जब ऐसे तथाकथित मार्क्सवादी आलोचक झंडा तो मार्क्सवादी का उठा लेते हैं पर भारतीय जन-जीवन की समस्याओं को समझना नहीं चाहते। कोई भी बुद्धिजीवी अथवा जागरूक व्यक्ति मार्क्स के सिद्धान्तों का विरोध नहीं कर सकता। वर्ग-चेतना एवं अर्थ-समस्या से कोई भी समाज अथवा देश पृथक नहीं रहा सकता। हमारे यहां मार्क्स से पूर्व इस प्रकार की चेतना जन-जीवन में व्याप्त थी—भारतीय संतों एवं मनीषियों ने सही जीवन के सिद्धान्त निरूपित करते हुए जो संदेश दिये थे-विशेषकर मध्ययुग के संत कवि तो करनी और कथनी एवं समान व्यवहार पर बल देते थे। मार्क्स की चेतना उनके अपने देश के लिए उपादेय हैं—हमारे लिए भी उपादेय है पर हमें अपनी समस्याओं, जीवन व्यतीत करने के तौर तरीकों से दृष्टि-ओझल नहीं करनी होगी। आंतरिक रूप से किसी मत-धर्म से सम्बद्ध व्यक्ति मार्क्सवादी हो सकता है-भारतीयता में पूर्ण-निष्ठा एवं आस्था रखने वाला मनुष्य भारतीय दृष्टि से सच्चा मार्क्सवादी है। केवल मार्क्स के सिद्धान्तों का लेबल लगा लेना—करनी में उसके सर्वथा विपरीत आचरण करने वाला मार्क्सवाद का सबसे बड़ा शत्रु है। इसलिए मात्र मार्क्स तथा लेनिन के सिद्धातों का अध्ययन कर लेना पर्याप्त नहीं—उन्हें भारतीय परिवेश के अनुरूप प्रयुक्त करना होगा। यही स्थिति किसी कवि को किसी एक वाद (घेरे) में आबद्ध करने पर होती है। उसकी रचनाओं का सही मूल्यांकन नहीं हो पाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने विशेष लेख में नंदकिशोर नवल ने धूमिल की कविता का विश्लेषण कम किया है—आरोपण अथवा अपेक्षा अधिक । हम लेखक के अध्ययन से तो प्रभावित हैं—15 अगस्त 1947 के पश्चात् का भारतीय इतिहास सही रूप में उन्होंने प्रस्तुत करते हुए कवि धूमिल से कुछ मांग की है । लेखक हमारी दृष्टि में कवि के प्रति पूर्वाग्रही है—यही कारण है कि इनकी 'मोची राम' कविता का उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझता । हमारी दृष्टि में इस कविता को धूमिल की श्रेष्ठ एवं प्रतिनिधि रचना माना जाना चाहिए । धूमिल की रचनाओं में समस्याओं का दिग्दर्शन हम आगे कराएंगे । यहां इस सम्बन्ध में इतना कहना पर्याप्त होगा कि कवि धूमिल को पूंजीवाद—समाजवाद आज़ादी तथा जनतंत्र में चुनाव के महत्त्व का बोध था या नहीं—इसका ज्वलन्त प्रमाण उनकी कविताओं में द्रष्टव्य है । 'संसद से सड़क तक' काव्य-संग्रह का नाम अपने आप में कवि-लक्ष्य की पुष्टि करता है । किसी प्रकार की मान्यताओं । सिद्धान्तों अथवा आरोपित मूल्यों का बखान या प्रतिष्ठा करना कवि का मन्तव्य नही रहा । हमारी दृष्टि में धूमिल ने स्वतन्त्र भारत के इतने बड़े अन्तराल को भोगा है—समझा है—जन सामान्य की समस्याओं का सही रूप जानने का प्रयत्न किया है तथा इन समस्याओं को सार्थक वक्तव्यों के रूप में अभिव्यक्त करना चाहा है । धूमिल की सपाट-बयानी के आधार पर अनुभूति की तीव्रता अथवा मूल-चेतना का प्रश्न तो उठाया जा सकता पर कवि की 'समझदारी' का प्रश्न वेमानी है । कवि का लक्ष्य सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करना नहीं होता है । धूमिल ने नई शब्दावली, नये अन्दाज़ तथा नई शैली में संसद से सड़क तक की स्थिति के कुछेक प्रसंगों—सन्दर्भों की भावात्मक अभिव्यक्ति की है । इसमें कहीं-कही कवि की अभिरुचि-अध्ययन तथा अनुभव का प्रभाव अवश्य रहा है पर तथाकथित भारतीय नेताओं पर उसका तीखा व्यंग्य भी है—उसे मात्र निराश अथवा बौखलाया कवि स्वीकारना एकाँगी दृष्टिकोण होगा । धूमिल प्रत्येक घटना, समस्या स्थिति एवं प्रसंग की तह तक पहुंचने का यत्न करता है फिर उसके सम्बन्ध में सार्थक वक्तव्य देता है क्योंकि वह सही कविता को पहले 'सार्थक वक्तव्य' मानता है ।

नये कवियों में धूमिल ही ऐसे कवि हैं जिनकी रचनाओं में 'कविता' की सार्थकता प्रतिपादित की गई है । कविता क्या है ? स्वरूपगत तथा मूल्यगत अर्थवत्ता, कविता की भाषा, मुहावरों, बिम्बों, प्रयुक्त शब्दों सम्बन्धी कहीं-कहीं वक्तव्य दिए गए हैं । कहीं-कहीं उसकी खीझ, झुंझलाहट एवं व्यंग्य-बोध की सहज प्रतीति हो जाती है । सड़क से संसद तक पहुंचने तक के मार्ग से कवि भलीभाँति परिचित है—यही कारण है कि वह किसी अंधेरे में या प्रकृति सौन्दर्य में स्वयं को खोना नहीं चाहता—उसका काव्य-जगत् वर्तमान की समस्याओं पर केन्द्रित है-विद्रूपता अथवा असौन्दर्य में भी सौन्दर्याभिव्यक्ति इन कवियों का उपक्रम रहा है । धूमिल की कविताओं में आए वक्तव्य—उनकी सहज अनुभूतियां हैं । सपाट होते हुए भी उनमें काव्यात्मक प्रभावोत्पादकता का यथासम्भव निर्वाह हुआ है ।

कविता सम्बंधी कथन :—'संसद से सड़क तक' काव्य संग्रह की अधिकांश कविताओं में कवि ने अपनी रचना-प्रक्रिया की ओर संकेत किया है । इस प्रकार के संकेतों से जहां धूमिल की काव्य-चेतना का परिचय मिलता है वहां उसके शिल्पगत नवीन प्रयोगों को भी देखा जा सकता है । "...मेरी कविताएं / अंधेरा और कीचड़ और गोश्त की / खुराक पर जिन्दा है ।" (पृ० 29) "—मेरी कविता इस तरह अकेले को / सामूहिकता देती है और समूह को साहसिकता / इस तरह कविता में शब्दों के ज़रिये एक कवि अपने वर्ग के आदमी को समूह की साहसिकता से भरता है...।"(पृ० 3-आलोचना अंक 33) "अब उसे मालूम है कि कविता / घेराव में / किसी बौखलाए हुए आदमी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का / संक्षिप्त एकालाप है।" (पृ० 10), "इस वक्त जब कि कान नहीं सुनते हैं कविताएं / कविता पेट से सुनी जा रही है।" "कविता में जाने से पहले मैं आपसे ही पूछता हूं / जब इससे न चोली बन सकती है / न चोंगा / तब आपै कहो—/ इस ससुरी कविता को जंगल से जनता तक/ढोने से क्या होगा" (पृ० 66-67) "कविता / शब्दों की अदालत में / मुजरिम के कठघरे में खड़े बेकसूर आदमी का / हलफनामा है / क्या यह व्यक्तित्व बनाने की—/ चरित्र चमकाने की—/ खाने कमाने की। चीज़ है? ना, भाई, ना, / कविता—/ भाषा में। आदमी होने की तमीज।" (पृ० 91) तथा "एक सही कविता-पहले / एक सार्थक वक्तव्य होती है।" (आमुख)

उपर्युक्त उद्धरण धूमिल की सही कविता सम्बंधी टिप्पणियां हैं। मुक्तिबोध की भांति, 'सही की तलाश' न कर आत्म-निर्णय पर सही को अपनाना है—सही को उद्घाटित करता है। यहाँ प्रस्तुतीकरण का अन्दाज यथार्थ है, बिलकुल 'सही' पर अवलम्बित है। धूमिल का कहना है कि उसकी कविता—सार्थक वक्तव्य तथा हलफनामा है। कुछ भी सही तथा सार्थक आप अपने में कवि के सम्पूर्ण रचना-संसार का आधार-बिन्दु है। साथ ही धूमिल मात्र कविता फैशन अथवा मनोरंजन के लिए कहता—अपने अन्दर के दर्द, खीझ, आक्रोश, अनास्था इत्यादि को यथार्थ रूप में सार्थक वक्तव्य रूप में कहता है। उसकी वैयक्तिक चेतना में सामूहिक—बोध है तथा सभी में साहस लाने का उपक्रम करना चाहता है। साथ ही उसका विश्वास है कि उसकी कविताओं का मर्म सभी नहीं समझ सकते। पाते। कुछ ऊपरी धरातल पर कविता को पढ़कर छोड देते हैं—यहीं वह व्यंग्य एवं आक्रोश का प्रहार करने से भी नहीं चूकता। अत: कहा जा सकता है कि धूमिल की कविता वक्तव्य, हलफ़नामा एवं एकालाप होते हुए भी सोद्देश्य है। उसकी सड़क से संसद तक की यात्रा—उसकी काव्य-यात्रा-विविध सोपानों की व्यंजक है। धूमिल प्रत्येक स्थिति की तह तक जाने के बाद किसी वक्तव्य को सार्थक अभिव्यक्ति प्रदान करता है।

धूमिल की कविताओं को ऊपरी धरातल पर देखने से उसका नाट्य-रूप तो स्पष्ट हो जाता है पर आन्तरिक संवेदना का कहीं-कहीं अभाव खटकता है। सीधी-सपाट शब्दावली में दिए वक्तव्य काव्यात्मक संवेदना को उद्घाटित नहीं करते। दूसरे शब्दों में कहें तो धूमिल की कविता अन्तर का स्पर्श न कर मात्र स्थिति का स्थूल दृश्य उपस्थित करती है। उसका बोध वास्तविक बोध तक ही सीमित रहता है उसमें भावना (अनुभूति) का संस्पर्श नहीं होता। वह सपाट इतनी अधिक हो जाती है कि बहिर्मुखी रचना प्रतीत होने लगती है। इस प्रकार के कई दोष साठोत्तरी कविता पर लगाए जाते रहे हैं—धूमिल पर भी यह दोषारोपण होना स्वाभाविक है पर आज का कवि किसी प्रकार का आरोपण नहीं करना चाहता—वह सीधी सपाट अभिव्यक्ति में विश्वास रखता है। यही कारण है कि नयी कविता के पश्चात् की कविता को 'विचार कविता' का नाम दिया जाता है। पर धूमिल को विचारक कवि नाम नहीं दिया जाना चाहिए क्योंकि उसने धरातल यथार्थ अपना कर भी अनेक ऐसी स्थितियां उद्घाटित की हैं जिनसे पाठक भाव-विभोर भले ही न हो पर भाव-विह्वल अवश्य होता है। उदाहरणार्थ 'कविता' की कुछ पंक्तियां द्रष्टव्य है :—

"एक सम्पूर्ण स्त्री होने के पहले ही
गर्भाधान की क्रिया से गुजरते हुए
उसने जाना कि प्यार
घनी आबादी वाली बस्तियों में
मकान की तलाश है
लगातार बारिश में भीगते हुए
जाना कि हर लड़की
तीसरे गर्भपात के बाद
धर्मशाला हो जाती है और कविता
हर तीसरे पाठ के बाद।" (पृ० 9)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धूमिल की सम्पूर्ण कविता में अनेक प्रसंग एवं सन्दर्भ गुम्फित हैं जबकि कवि उन सब का स्पष्ट उल्लेख करना नहीं चाहता। वस्तुत: वही आलोचक एवं पाठक इनकी रचनाओं से न्याय कर सकता है जो कविता के प्रत्येक शब्द, वाक्यांश, वाक्य, वक्तव्य, एकालाप को समझने के साथ-साथ उनमें निहित स्थिति (कवि), को आत्मसात् करता चले। केवल सपाट अथवा बहिर्मुखी चेतना अथवा गलत बयानी का कवि कह देने से सम्यक् मूल्यांकन नहीं किया जा सकेगा। जैसे कि हम पहले संकेत कर चुके हैं कि धूमिल अथवा किसी अन्य कवि की रचनाओं का विश्लेषण करते समय उसमें प्रतिपादित सिद्धान्त तो ढूंढे जा सकते हैं पर अपेक्षा करना न्यायोचित न होगा। कवि-लक्ष्य दृष्टि-ओझल नहीं होना चाहिए। हां, समीक्षक को देखना यह चाहिए कि धूमिल इतने बड़े स्थल में जिस स्थिति को उद्घाटित कर रहा है—उसमें उसे कहां तक सफलता मिली हैं? होता इसके विपरीत है। समीक्षक अपने आगे लगे 'सम' को हटा देते हैं—शेष आरोपण रह जाता है। यही कारण है कि धूमिल का सही मूल्यांकन नहीं हो पाया है। एक वर्ग मात्र प्रशंसक बन कर रह गया है—दूसरा वर्ग कवि को प्रत्येक दृष्टि से असफल मानता है। नवल धूमिल को 'सिनिसिज्म' के अन्तर्गत रखता हुआ उद्घोषणा करता है—

"धूमिल निम्न-पूंजीवादी मनोवृत्ति के कवि हैं। निम्न पूंजीवादी-वर्ग के पास कोई सुसंगत विचार नहीं होती, वह पूंजीवादी समाज में मजदूर वर्ग की शक्ति को स्वीकार नहीं करता, वह सामाजिक विकास के वस्तुगत नियमों से अपरिचित होता है, और वह परिस्थिति का आत्मपरक मूल्यांकन करता है और वह दुस्साहसिकता और निराशा के बीच डोलता रहता है।"

('धरातल'—सम्पादक अयोध्यानाथ अंक 1, पृ० 39)

धूमिल मार्क्सवादी थे या नहीं—उन्होंने इस विचारधारा के प्रति अपनी आस्था प्रकट की या नहीं पर इस चिन्तन के पोषक उसे निम्न पूंजीवादी मनोवृत्ति का कवि प्रतिष्ठित करने में किंचित् भी नहीं सहमे। वस्तुत: धूमिल की अधिकांश कविताएं उत्पीड़ितों के जीवन का वास्तविक चित्र उभारती हैं—कथन में आरोपण एवं छिपाव कम है पर प्रहार तीक्ष्ण है। नि:सन्देह उनकी कविता का विषय निम्न वर्ग अथवा उच्च वर्ग के पात्र हैं—निम्न वर्ग के पात्रों के आधार पर उसे निम्न पूंजीवादी अथवा सिनिक् नहीं माना जा चाहिए। 'मोचीराम' में वर्ग-चेतना तथा उनकी मनोवृत्ति को वर्गीय आधार पर चरितार्थ करते हुए तीखा व्यंग्य-प्रहार है। अन्य कविता में प्रयुक्त शब्द धर्मशाला 'गर्भाधान', 'मकान की तलाश' समस्याओं के विविध आयाम हैं—यही इनकी रचनाओं का आधार है। प्रत्येक कविता में व्यक्ति, जाति, वर्ग, देश विशेष की समस्या को उजागर करना कवि का लक्ष्य रहा है। संसद से चलकर सड़क तक जो कुछ उसे झकझोरता है—वह उसे सूक्तियों का आधार ग्रहण कर अभिव्यक्त करता चलता है। धर्मशाला से अभिप्राय आम धर्मशाला की चर्चा करना नहीं है सामूहिक स्थिति व्यंजक है, उसका साधिकार इस्तेमाल किया जाने लगता है। लगातार बारिश में भीगते हुए व्यक्ति की मन:स्थिति का उद्घाटन भी हुआ है। प्यार-रूपी मकान की तलाश में उसकी धर्मशाला जैसी स्थिति हो जाती है। धूमिल के सम्बन्ध में गोबिन्द उपाध्याय का निम्न कथन उचित प्रतीत होता है :—

"धूमिल की जागरूकता ऐसी थी कि गांव-घर, मुहल्ले, अगल-बगल के किसी आम-खास व्यक्ति की जुबान से निकली बात को अपनी कविता में संजोते थे। उनकी आम आदमी की मानसिकता से जुड़ने के उत्कट प्रयास में यह स्वाभाविक प्रक्रिया थी। उनकी कविताओं में समाज के साधारण जनों की मनोभावना, दुख-दर्द, कसक, वैचारिक अभि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यंजना खूब सजीवता से उभरती है।' (आलोचना-अंक 33, पृ० 67) तथा' उनकी सामाजिक मानसिकता उनकी कविताओं में बेहतर उतरी है। जीवन के अनेकानेक अन्तर्विरोधों, विसंगतियों तथा आडम्बरों को उभारना, उनका पर्दाफाश करना उनके कवि-कर्म का एक अंग दीखता है।''

अतः धूमिल की कविताओं को सपाट, बहिर्मुखी घोषित कर संवेदनात्मक स्थितियों का सर्वथा अभाव मानना—एकांगी दृष्टि-बोध है। 'संसद से सड़क तक' की अधिकांश रचनाओं से ऐसे उद्धरण दिए जा सकते हैं जो वक्तव्य या एकालाप होते हुए भी संवेद्य हैं। यथा :—

मेरे पास उत्तेजित होने के लिए /
कुछ भी नहीं है /
न कोक शास्त्र की किताब /
न युद्ध की बात /
न गद्देदार बिस्तर /
न टांगें, न रात /
चाँदनी /
कुछ भी नहीं /
बलात्कार के बाद की आत्मीयता /
मुझे शोक से भर देती है /
मेरी शालीनता मेरी जरूरत है /
जो मुझे अक्सर नंगा कर देती है /

'पतझड़' कविता काव्यात्मक स्थिति-बोध की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। मौसम, वृक्ष-वसंत एवं पतझड़ का प्रतीकात्मक अर्थ-ग्रहण करता हुआ कवि भाव-विह्वल हो उठता है। ''ठीक यहीं से / रिश्तों का फालतूपन उभरता है / परिचय की सतहों पर / फैल जाता है गाढ़ा अन्धकार / आत्मीयता-/ नीयत की हरजाई तुकबन्दियों में / खो जाती है / किसी / डरे हुए पेड़ के इशारे पर / हरियाली / झुकते हुए अंधड़ के सामने / कुछ तिनके फेंककर / वक्त की साज़िश में / शरीक हो जाती है।'' (पृ० 64)

व्यंग्य-बोध

धूमिल का काव्य-लोक व्यंग्य-बोध के चारों ओर चक्कर लगाता है। प्रत्येक महत्वपूर्ण वक्तव्य (एकालाप) में कवि किसी न किसी विशेष संदर्भ को उद्घाटित करना चाहता है। यही कारण है कि कविता के सही एवं सार्थक रूप में शब्दों, भाषा, रूप, विषय, पैठ (समझ), बोध की चर्चा करता है वैसे व्यक्ति (पुरुष-स्त्री) के सही रूप को उद्घाटित करने के लिए उसने बलात्कार, नग्नता, गर्भपात के साथ के योनि, जूती, चोली, लूप, कोकशास्त्र, गन्दी बस्ती, वेश्यावृत्ति इत्यादि का उल्लेख किया है। मासिक धर्म, बलात्कार, सहवास के पश्चात् शोक की स्थिति का वर्णन भी हुआ है—इन सब के मूल में कवि का व्यंग्य एवं खीझ निहित है। वह किसी प्रकार की सहानुभूति अथवा ऊपरी करुणा का प्रदर्शन नहीं करता—व्यंग्य अवश्य करता है—तीखा प्रहार करता है, भले ही व्यभिचारी हो, नेता हो या तथाकथित साहित्यिक हो-सभी को धूमिल का व्यंग्य-प्रहार सहना पड़ता है। 'मोचीराम' कविता का केन्द्र-बिन्दु व्यंग्य-बोध है। इस दृष्टि से इसे सर्वोत्कृष्ट रचना माना जा सकता है। मोचीराम कवि की व्यंग्याभिव्यक्ति का सार्थक माध्यम है। जब वह कहता है—'न कोई छोटा है / न कोई बड़ा / मेरे लिए, हर आदमी एक जोड़ी जूता है/ जो मेरे सामने मरम्मत के लिए खड़ा है।'' ''आजकल/कोई आदमी जूते की नाप से बाहर / नहीं है।'' (पृ० 41) —स्पष्ट है कि प्रत्येक की दृष्टि पेशे पर केन्द्रित है। वर्ग-भेद से कवि ऊपर उठना चाहता है। मोचीराम अपने पेशे (कार्य) के प्रति वफादार है—हर रोज तरह-तरह लोग उसके पास जूता मुरम्मत कराने के लिए आते हैं, उसके अपने वर्ग (छोटी जाति) के लोग भी। अधिकांश लोगों का उसके प्रति व्यवहार ठीक नहीं होता—कुछ पैसे देने में झगड़ते हैं। जूते के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माध्यम से भिन्न-भिन्न जाति एवं संस्कारों के लोगों का पर्दाफाश करते हुए धूमिल कहीं-कहीं व्यंग्य-प्रहार भी करता है।

मोतीराम जूतों को भली भांति पहचानता है। "यहां तरह-तरह के जूते आते हैं। आदमी की अलग-अलग नवैयत / बतलाते हैं / सबकी अपनी-अपनी शक्ल है / अपनी अपनी शैली है/ मसलन एक जूता है / जूता क्या है—चकातयों की थैली है / इसे एक चेहरा पहचानता है /...'बाबू जी। इस पर पैसा क्यों फूंकते हो ?/ ... कैसे आदमी हो, / अपनी जाति पर थूकते है'। (पृ० 42) सामान्य जाति के संस्कारगत भावों का सम्यक् निरूपण उद्धरण की अन्तिम पंक्तियों में किया है।

धूमिल ने जूते के माध्यम से मध्यवर्गीय लोगों का प्रदर्शन चित्रित किया है, अच्छा खासा व्यंग्य-प्रहार भी। इस वर्ग के लोग अपने से छोटे पर किस प्रकार गुर्राते हैं—पैसे देते समय उनकी नानी मर जाती है, काम करवाते समय वह हिटलर का नाती होता— जूते का यह भी ठीक कर—चमका भी दो, पर उसका हिटलर पैसे से नाट जाता है और स्वयं को 'शरीफ' घोषित कर कुछ सिक्के उसके आगे डाल चल देता है। प्रायः मध्यवर्गीय लोगों की प्रवृत्ति इसी प्रकार की रही है—जूता तो एक उदाहरण एवं माध्यम है—उनके प्रत्येक कार्य में दिखावा है। कवि का व्यंग्य भी कम नहीं है—"ओफ्फ ! बड़ी गर्मी है "रुमाल से हवा करता है, मौसम के नाम पर बिसूरता है/ सड़क पर' आतियों जातियों को/ बानर की तरह घूरता है / गरज वह घण्टे भर खट वाता है।" (पृ० 43) मनोवृत्ति का सही चित्रण किया गया है।

मोचीराम पेशे से भले ही जूतियों की मुरम्मत करता रहा है पर उसकी परख पैनी है—वह एक चिंतक की भाँति विश्लेषण करता है (भले ही कवि का चिंतक-रूप है) उसे पेशे पर लगी चोट कील की तरह सालती है। तभी कहता है—"असल बात तो यह है कि कि जिन्दा रहने के पीछे / अगर सही तर्क नहीं है तो/राम नामी बेचकर या रण्डियों की / दलाली करके रोजी कमाने में / कोई फर्क नहीं है और यही वह जगह है जहाँ हर आदमी / अपने पेशे से छूटकर / भीड़ का टमकता हुआ हिस्सा बन जाता है।"(पृ०44) धूमिल इस कविता में वर्ग एवं अर्थ-समस्या से भलीभांति परिचित प्रतीत होता है—उसके निजी अनुभव सही हैं—विवशता का बोलबाला है। इसलिए मोचीराम सरीखे लोग सब कुछ जानते हुए "वे हर अन्याय को चुपचाप सहते हैं / और पेट की आग से डरते हैं। जबकि मैं जानता हूं कि 'इनकार से भरी हुई एक चीख' / और 'एक समझदार चुप'/ दोनों का मतलब एक है—/भविष्य गढ़ने में, 'चुप' और चीख'/अपनी-अपनी जगह एक ही किस्म से/ अपना-अपना फर्ज अदा करते हैं।" (पृ०-46)

धूमिल का व्यंग्य पैना और तीक्ष्ण होता है--दिखने में भले ही सहज लगे। वही वह कहकर 'संत और सिपाही में / देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य कौन है।" (पृ० 12) "शहर की समूची पशुता के खिलाफ / गलियों में नंगी घूमती हुई / पागल औरत के 'गाभिन पेट' की तरह/सड़क के पिछले हिस्से में/ छाया रहेगा पीला अंधकार ।...तुम चुप रहोगे और लज्जा के साथ / उस निर्थक गूंगेपन से सहोगे—/ यह जानकर कि तुम्हारी मातृभाषा / उस महरी की तरह है, जो/महाजन के साथ रातभर / सोने के लिए / एक साड़ी पर राजी है।" (पृ० 15)

धूमिल का व्यंग्य (खीझ) मध्यवर्गीय लोगों पर जरूर है पर कहीं-कहीं सहानुभूति भी स्पर्श करता है। देश के तथाकथित शराफत के ठेकेदारों और राजनीतिज्ञों पर तीखा व्यंग्य प्रहार किया है। वह जनतंत्र, तिरंगा, पंचवर्षीय योजना, पंचशील' सफेद टोपी, संविधान, समाजवाद ("मगर मैं जानता हूं कि देश का समाजवाद,/ मालगोदाम में लटकती हुई/ उन बाल्टियों की तरह है जिस पर आग लिखा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है / और उनमें बालू और पानी भरा है—पृ० 139) में कवि का व्यंग्य मुखर हुआ है जनतंत्र में कवि की आस्था नहीं है। 'शहर में सूर्यास्त' में वह जनतंत्र को सिरकटे मुर्गे' की तरह मानता है। काव्य-नायक के शब्दों में और हवा में एक चमकदार गोल शब्द / फेंक दिया है—'जनतंत्र'/ जिसकी रोज सैंकड़ों बार हत्या होती है / और हर बार / वह भेड़ियों की जुबान पर जिंदा है।" (पृ० 48)

'नक्सलबाड़ी' तथा 'पटकथा' कविताओं में धूमिल का व्यंग्य-बोध राजनीति से संबंधित अधिक है। नक्सलवाड़ी आंदोलन की असफलता से कवि क्षुब्ध हैं क्योंकि इसके मूल में वे स्वार्थान्ध, व्यवस्थापंथी लोगों का विरोध मानता है। ऐसे वर्णनों में व्यंग्य के साथ विद्रोही स्वर भी ध्वनित होता है यथा:—"वह एक खुला हुआ है कि आदमी/ ... दायें हाथ की नैतिकता से / इस कदर मजबूर होता है / कि तमाम उम्र गुजर जाती है मगर गांड/ सिर्फ, बाँया हाथ धोता है/" (पृ० 73) भारतीयों की मनोवृत्तियों से धूमिल भली भाँति परिचित है—उसे पता है कि नित्य अन्याय, पक्षपात एवं भूख का सामना करना पड़ेगा। इस लिए चुनावों से पूर्व वह नेताओं द्वारा दिए आश्वासनों के बल पर जीने का प्रयत्न कर लेता है, पर स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं। देशभक्ति व्यवस्था-भक्ति बन जाती है—सभी कुर्सी से चिपकने का अवसर खोजने में व्यग्र हैं। देश, देशवासियों के उत्थान-विकास की अपेक्षा स्वयं का हित मुख्य मानते हैं। उन्हें केवल आश्वासन देने आते हैं—लोगों को इसी आश्रय पर जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी जाती है। वर्तमान को विस्मृत कर भविष्य की काल्पनिक खुशहाली का आश्वासन कवि के व्यंग्य में प्रकट हुआ है। "अब कोई बच्चा/ भूखा रहकर स्कूल नहीं जायेगा / अब कोई छत बारिश में/ नहीं टपकेगी / अब कोई आदमी कपड़ों की लाचारी में/ अपना नंगा चेहरा नहीं पहनेगा / अब कोई दवा के अभाव में/ घुट घुट कर नहीं मरेगा / अब कोई किसी की रोटी नहीं छीनेगा / कोई किसी को नंगा नहीं करेगा / अब यह जमीन अपनी है / आसमान अपना है। जैसे पहले हुआ करता था।" (पृ० 110)

कवि के व्यंग्य-बोध की विशेषता इस बात में है कि उसमें तीखापन तो है पर बौखलाहट कम है। पटकथा में धूमिल ने मीठे व्यंग्य प्रहार किए हैं। लोकनायक को संबोधित करता हुआ है कि लोग उन्हें आई बार नेता चुनते रहे ताकि देश को सही दिशा मिलती रहे पर विश्वशांति एवं पंचशील के सूत्रों में सब लिखित रूप में रह गया। "समझाता रहा/ मैं खुद को/ समझाता रहा— 'जो मैं चाहता हूं—/वही होगा। होगा—आज नहीं तो कल / मगर सब कुछ सही होगा/" (पृ० 111)—'सही' शब्द का व्यंग्य-बोध स्पष्ट है कि अब उसे सुधार की कोई आशा नहीं रह गई है क्योंकि प्रान्तों में कुछ राजनीतिक परिवर्तन होने पर उसे सिर्फ टोपियाँ बदली दिखलाई देती हैं। अतः यह कहना उचित है कि धूमिल की कविता मात्र स्थिति उद्घाटित नहीं करती वरन् कहीं-कहीं प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष-स्वरूप खीझ एवं व्यंग्य व्यक्त करती है। व्यंग्य-बोध कवि के युग का सही-जागरूक, चिंतक, नागरिक होने का दावा करता है / यदि कवि आज जीवित होता तो……/

समस्या बोध :—धूमिल सही अर्थों में 'समस्या का कवि है। देश की प्रत्येक समस्या को उसने अनुभव करना चाहा है—कुछ से उसे स्वयं गुजरना भी पड़ा है (आलोचना में प्रकाशित धूमिल के पत्रों से स्पष्ट है)। अपने आस-पास की दैनिक स्थितियों एवं समस्याओं के प्रति वह जागरूक है। 'कविता' शीर्षक में यदि एक सम्पूर्ण स्त्री होने की समस्या है जो कि 'लड़की' से धर्मशाला बन चुकी है। 'पतझड़' कविता में धूमिल ने बेकारी समस्या पर गहरा आघात किया है। देश-प्रेम की वास्तविकता धूमिल ने जानी है तभी तो कहता है कि 'आदमी का भ्रम और देश-प्रेम बेकारी की फटी हुई जेब से खिसक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर बीते हुए कल में गिर पड़ता है।" (पृ० 65) भूखा-बेकार व्यक्ति शैतान तो बन सकता है—विद्रोही और बागी बन सकता है पर उसमें देश-प्रेम किसी स्तर का होगा—यह विचारणीय है। कवि धूमिल नवयुवकों रोजगार-दफ्तर से निकलते देखता है तथा वे कहते सुनाई पड़ते हैं—"इस देश की मिट्टी में / अपने जांगर का सुख तलाशना/ अंधी लड़की की आँखों में / उससे सहवास का सुख तलाशना है।" (पृ० 65) "तुमने भी सुना है/ तुमने क्या सुना है ?" कहकर इस रोग की व्यापकता की घोषणा की है।

'पटकथा' तो सामाजिक एवं राजनीतिक समस्याओं का काव्यात्मक लेखा-जोखा है। कवि की समस्या यह है कि सब कुछ अस्त-व्यस्त होते हुए भी 'सामान्य' चल रहा है-कहीं कोई हलचल नहीं, कोई परिवर्तन नहीं/ देशभक्ति, समाजवाद, शांति के अर्थ ही बच रहे हैं—कार्यान्विति एवं व्यवहार में सब कुछ विपरीत है। 'व्यवस्था' के प्रति उसका रोष कुछ तीखा है। "मैं रोज देखा हूं कि व्यवस्था की मशीन का / एक पुर्जा गरम होकर अलग छिटक गया है और / ठंडा होते ही/ फिर कुर्सी से चिपक गया है/ उसमें न हया है न दया है ... मैंने हरेक को आवाज दी है /हरेक का दरवाजा खटखटाया है/मगर बेकार मैंने जिसकी पूंछ / उठाई है उसको मादा/पाया है।/ वे सबके सब तिजोरियों के दुभाषिये हैं।" (पृ० 138-39) रचना का अन्त धूमिल की मानसिक खिन्नता, घृणा, तथा संशय का चरम है। वह देश की समस्याओं से स्वयं को घिरा पाता है। तभी सोचता है—"मेरे सामने वही चिरपरिचित अंधकार है / संशय की अनिश्चयग्रस्त ठंडी मुद्राएं हैं/ हर तरफ/शब्दवेधी सन्नाटा है।/दरिद्र की व्यथा/ की तरह / उचाट और कूंधता हुआ / घृणा में/डूबा हुआ सारा का सारा देश / पहले की ही तरह आज भी / मेरा कारागार है।" (पृ० 14.)

• 'यौन-समस्या' धूमिल की कविताओं में नये ढंग से प्रस्तुत हुई है। वे किसी प्रकार का प्रणय-प्रसंग नहीं उभारते और न ही नारी के रूप-अंगों के उभार से मांसल सौन्दर्य को व्यंजित करते हैं वरन् यौन' का चित्रण इनमें विवशता के रूप में आया है--उसमें अबोधता का भाव हो सकता है जैसा कि हम 'लड़की' से 'धर्मशाला' की चर्चा में कर चुके हैं। इसी प्रकार धूमिल ने ऐसे अनेक वक्तव्य दिए हैं जो कि देश में फैली दुष्प्रवृत्तियों का पर्दाफाश करते हैं। कवि बलात्कार सरीखे कुत्सित कृत्य का उल्लेख (संकेत) मात्र कर पाठक को विवश करता है कि वह इसकी तह तक पहुंचे। 'जनतंत्र के सूर्योदय में, 'कविता में कवि ने शहर की समूची पशुता के खिलाफ गलियों में नंगी घूमती हुई पागल औरत के 'गाभिन पेट' को उपमान के रूपमें प्रयुक्त किया है। इससे बढ़ कर किसी देश की दुर्दशा क्या हो सकती है? समस्या का चरम तब आता है जब पागल औरत पर दया न कर संभोग करने का उपक्रम होता है। ऐसी यौन विकृतियों का यथार्थ चित्रण करने वाले कवि का सौंदर्य-बोध कैसा है ? विचारणीय है। यही कारण है कि सौंदर्य (एइस्थेटिक) की चर्चा न कर असौंदर्य (अगली-एस्थेटिक) बोध का महत्त्व निरूपित किया जाता है। धूमिल का यह बोध अपने में अनेक समस्याओं को आत्मसात् किए है।

समस्याबोध के अन्तर्गत धूमिल ने भाषा-समस्या की भी सांकेतिक अभिव्यक्ति की है। सन् 1967 का भाषा-आंदोलन ऐतिहासिक तथ्य है—उत्तर तथा दक्षिण में इसकी तीव्र प्रतिक्रियाएं भी हुई थी वस्तुतः भारत में भाषा समस्या है ही नहीं—कुछ स्वार्थी लोग भोली-भाली जनता की, भाषा के नाम पर, दुष्वृत्तियों को जगाते हैं—तभी 'वाद' उठता है जो 'विवाद' का रूप धारण कर पृथकता की नींव का कार्य करता है। धूमिल मात्र कवि-कर्मी नहीं है वह देश की सभी समस्याओं में स्वयं को भागीदार मानता है—यही कारण है कि उसका काव्य अन्तर्मुखता की अपेक्षा बहिर्मुखता पर स्थित है। 'भाषा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की रात' कविता में धूमिल ने भाषा-समस्या का चित्रण किया है। कवि ने भाषा-आंदोलन को 'दो मुंह विषधर' कह कर उत्तर तथा दक्षिण दोनों पक्षों के लोगों के लिए इसे हानिकर घोषित किया है। ऐसी समस्याओं एवं आन्दोलनों में बनिया वृत्ति वाले (सहमति की भाषा वाले) लोगों को काफी लाभ होता है। कवि ने तथाकथित भाषा-विवाद को फैलाने वाले लोगों की नब्ज पकड़ ली है। वे भूख की समस्या से मुक्ति पाने के लिए भाषा-समस्या का प्रसार एवं प्रचार करवाते हैं ताकि लोग इक्ट्ठे न हो सकें—एक समस्या (भूख की) को लेकर। तभी कहा गया है—"चन्द चालाक लोगों ने/जिनकी तरफ भक्षी जीभ ने पसीने का स्वाद चख लिया है)/ बहस के लिए भूख की जगह / भाषा को रख दिया है/ उन्हें मालूम है कि भूख से / भागा हुआ आदमी भाषा की ओर जायेगा / उन्होंने समझ लिया है कि /एक भुक्खड़ जब गुस्सा करेगा, अपनी ही अंगुलियां/ चबायेगा।" (पृ० 95)

धूमिल इस प्रकार की समस्याओं के समाधान-हेतु 'आदमी' को सही करने पर बल देता है। 'आदमी' इकाई रूप में सही होने पर समाज एव देश की अधिकांश समस्याएं स्वयमेव हल हो जावेंगी। इतना ही नहीं कवि धूमिल 'प्रौढ़-शिक्षा' कविता में युगानुरूप बदलने की प्रेरणा देता हुआ कहता है— "गीली मिट्टी की तरह—हाँ-हाँ-मत करो/तनो/ अकड़ो / अमरबेलि की तरह मत जिओ / जड़ पकड़ो / बदलो—अपने-आपको बदलो / यह दुनिया बदल रही है/ और यह रात है, सिर्फ रात···/इसका स्वागत करो/यह तुम्हें/शब्दों के नये परिचय की ओर लेकर/चल रही है/(पृ० 53)। समस्या का यथासमय समझना और उसका मुकाबला करने हेतु-तत्पर रहना—यही जीवन की—सही आदमी की तलाश है।

संशय-बोध :—

धूमिल की अधिकांश कविताएं स्पष्ट सपाट, होने के बावजूद तीव्र व्यंग्य प्रहार भी करती हैं। कहीं-कहीं कवि ने व्यक्ति के सशंकित मन को भी उद्घाटित करना चाहा है। 'सच्ची बात' में सत्य को उद्घाटित करते समय कवि कहता है कि "वैसे हम समझते हैं कि सच्चाई / हमें अक्सर अपराध की सीमा पर/छोड़ आती है/आदतों और विज्ञापनों से दबे हुए आदमी का/ सबसे अमूल्य क्षण सन्देहों में/ तुलता है।" (पृ० 82)

'पटकथा' में संशय-बोध की व्याप्ति स्पष्ट है। संशय के दोनों रूपों को प्रस्तुत रचना में देखा जा सकता है। पहला रूप वह है जिसे हमने ज्ञान-विवेक अथवा जिज्ञासा के रूप में माना है। दूसरा इसका मनोविकारी विनाशक रूप है। धूमिल काव्य-नायक के रूप में सोचता हुआ कहता है कि...हमारा संशय/हमें कौंचता था/हम उत्तेजित होकर/ पूछते थे—ये क्या है ?/ऐसा क्यों है ?" (पृ० 112)—वस्तुत: संशय का सप्रश्न रूप ज्ञानोपार्जन का मूल उत्स है/इसके अभाव में ज्ञान-वृद्धि संभव ही नहीं। दूसरे रूप में कवि का काव्यनायक चारों ओर के वातावरण (परिवेश) से संतप्त है—उसे लगता है वह कहां आ गया है ? तभी सोचता है—"हर तरफ ऊब थी/ संशय था/ नफ़रत थी/ मगर हर आदमी अपनी जरूरतों के आगे असहाय था। उसमें/ सारी चीजों को नये सिरे से बदलने की/ बेचैनी थी, रोष था ; लेकिन उसका गुस्सा/ एक तथ्यहीन मिश्रण था :/ आग और आंसू और हाय का।" (पृ०-121) संशयात्मक पैर नयी स्थितियों की ओर अग्रसर होते युग का बोध स्पष्ट हो जाता है। आग आँसू तथा हाय इन तीनों शब्दों में धूमिल ने तथ्यहीन मिश्रण में बहुत बड़े तथ्य को उद्घाटित करना चाहा है। आग से क्रोध (आक्रोश), आँसू से दुख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा हाय से पीड़ा की पराकाष्ठा का चित्र खींचा है।

वस्तुत: 'पटकथा' में स्वतंत्रता-पश्चात् की राजनीति ,समाज नीति एवं अर्थ नीति को उजागर करते हुए कवि व्यंग्य-प्रहार भी करता है। यह व्यंग्य स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म अधिक है। काव्य नायक की 'हिन्दुस्तान' से भेंट अपने आप में व्यंग्य की सूक्ष्म स्थिति का प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जा सकता है। इस हिन्दुस्तान में आज मनुष्य के चारों ओर चरित्रहीनता, भीषणता, व्यभिचारिता एवं असत्यता का बोलबाला है। ईमानदारी का मीलों दूर कहीं नामों-निशान नहीं रहा। समाजवाद का नारा खोखला पड़ चुका है। 'पूंजीवाद' के प्रति धूमिलका व्यंग्य द्रष्टव्य है—'यद्यपि यह सही है कि मैं/कोई ठंडा आदमी नहीं हूं/मुझ में भी आग है/मगर वह/भभककर बाहर नहीं आती/क्योंकि उसके चारों तरफ चक्कर काटता हुआ/एक/एक पूंजीवादी दिमाग है/जो परिवर्तन तो चाहता है/मगर आहिस्ता-आहिस्ता/कुछ इस तरह कि चीजों की शालीनता बनी रहे।'' पृ० 126-7) तथा ''मगर में जानता हूं कि मेरे देश का समाजवाद/ मालगोदाम में लटकी हुई/उन बाल्टियों की तरह है/जिन पर 'आग' लिखा है / और उनमें बालू और पानी भरा है।'' (पृ० 139)

जैसा कि संकट-बोध की चर्चा में हम स्पष्टत: स्वतंत्रता के बाद की स्थिति को उद्घाटित करते समय 'थोथावाद' के यथार्थ धरातल का उल्लेख कर चुके हैं। 'कथनी और करनी' में स्पष्टत: अन्तर आ चुका है। चुनाव से पूर्व लोगों को बड़ी-बड़ी योजनाओं और आशाओं की शोभा-प्रदर्शनी दिखलाई जाती है—पश्चात् वही होता है जो हम गत पच्चीस तीस वर्ष से देख रहे हैं। यही कारण है कि धूमिल की दृष्टि में चुनाव असंख्य रोगों का एकमात्र इलाज है। वह इस चुनाव की वास्तविकता से भली भाँति परिचित है—तभी व्यंग्यात्मक प्रहार करता है। इतना ही नहीं उसे तो प्रत्येक दिशा में यही दिखलाई देता है—''मूढ़ता की हरी-हरी घास लहरा रही है/जिसे कुछ जंगली पशु/खूंद रहे हैं/ लीद रहे हैं/ चर रहे हैं'' (पृ० 131) धूमिल का व्यंग्य अत्यंत तीखा है—सीधी मार करता है—वह अहिंसा को एक सत्तारूढ़ शब्द का गला काटते हुए देखता है—ईमानदारों का अपनी चोर जेबें भरना तथा विवेकशील लोगों का चापलूसों के तलवे चाटना इत्यादि व्यंग्य-प्रहार की चरम स्थितियां कही जा सकती हैं। वस्तुत: 'पटकथा' में तो कवि वास्तविक स्थिति के बोध से तीक्ष्ण-गहन व्यंग्य-प्रहार करता है— इसमें कहीं-कहीं उसका क्षोभ, आक्रोश भी व्यंजित हुआ है।

व्यंग्य-बोध की दृष्टि से 'मोचीराम' कविता विशेष उल्लेख्य है। इसमें मोचीराम के माध्यम से सामयिक युग की वास्तविकताओं को नाटकीय ढंग से उजागर किया गया है। मोचीराम प्रत्येक आदमी की पहचान जूते से करता है—उसकी दृष्टि में कोई छोटा या बड़ा नहीं है—बस एक जोड़ी जूता है जो मरम्मत के लिए खड़ा है। प्रस्तुत कविता की विभिन्न स्थितियों की यहां चर्चा कर हम पुनरावृत्ति नहीं करेंगे—वस्तुतः इस रचना में व्यंग्य-बोध सार्थक एवं सूक्ष्म ढंग से किया गया है। ''बीस साल बाद', कवि 1970' तथा 'कुत्ता' ; इत्यादि कविताओं में भी व्यंग्यात्मक प्रहार हुए हैं। धूमिल का व्यंग्य-बोध क्षणिक चुहुल ही पैदा नहीं करता वरन् पाठक को बौद्धिक स्तर पर सोचने को विवश करता है, इसकी समाविष्टि सार्थक है।

निष्कर्ष स्वरूप हम कह सकते हैं कि धूमिल की कविताएं भारतीय जन-जीवन की यथार्थ स्थिति को उद्घाटित करने में सक्षम हैं। कवि से किसी विशेष वर्ग की चेतना की मांग करना अथवा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धान्तों के अर्थ न समझने वाला घोषित तभी किया जाने चाहिए जब स्वयं रचयिता ने कहीं ऐसा दावा किया हो। धूमिल की दृष्टि सही कविता के प्रति रही है और वह उसकी समाविष्टि सार्थक वक्तव्य में मानता है। मार्क्सवादी चेतना के प्रतिकूल होना, चुनाव का अर्थ न समझना, निम्न पूंजीवादी मनोवृत्ति का होना या ग्राम्य चेतना का अभाव खोजना व्यर्थता बोध के सूचक है। निःसन्देह कहीं-कहीं की खीझ-बौखलाहट के कारण अनुभूति का स्थान तर्क या व्यंग्य-प्रहार की सपाट बयानी ने ग्रहण कर लिया है पर 'मोचीराम' सरीखी महत्वपूर्ण रचनाएं प्रत्येक दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। भारतीय जीवन की समस्याओं के विविध पहलू कवि ने उद्घाटित किए हैं—कुछेक संकेत रूप में वर्णित हैं। हम किसी भी आधार पर धूमिल को निराश अथवा निम्न पूंजीवादी मनोवृत्ति का कवि नहीं मानते। वह समस्याओं के प्रति सजग कवि है—उसे किसी की चिन्ता नहीं—निर्मम हो वह प्रत्येक स्थिति समस्या की तह पर पहुंचने का उपक्रम करता रहा है तथा अवसरानुकूल तथाकथित पूंजीपतियों एवं राजनेताओं पर तीखा व्यंग्य प्रहार करने में भी नहीं चूका। स्वतंत्रता-प्राप्ति से अब तक की यथार्थ अनुभूति का समर्थ कवि धूमिल माना जाना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शशिप्रभा अत्री
द्वारा श्री विश्वनाथ अत्री
अध्यक्ष, अर्थशास्त्र विभाग
यूनिवर्सिटी कालेज, कुरुक्षेत्र,

पृथ्वी थियेट्रर्स : नव-मूल्यांकन

आज जब हिन्दी नाटक एक महत्त्वपूर्ण मोड़ पर पहुंच कर नये रास्ते का अन्वेषण कर रहा है तो उसके विकास-क्रम का जटिल संघर्ष हमें उन ऊबड़-खाबड़ रास्तों की ओर भी खींचता है जहां से गुज़र कर आज हम नाट्य शब्द की खोज तक पहुंचे हैं और जहां से जाने-अनजाने सहज रूप से नाट्य-विकास की दिशाओं के संकेत मिलते रहे हैं। वर्तमान सदैव अतीत को नकारना चाहता है परन्तु अतीत से कट कर वर्तमान का अस्तित्व भी क्या है ? सम्भव है आज का औसत दर्शक 'देवयानी का कहना है', 'आधे-अधूरे', 'लहरों के राजहंस', द्रौपदी' तथा 'पैर तले की जमीन', जैसे नाटकों के सम्मुख पृथ्वी-थियेट्र्स को मान्यता तक देने से इन्कार कर दे परन्तु वास्तविकता यह है कि समसामयिक महत्त्व-पूर्ण नाटकों के स्तर तक पहुंचने के लिए हिन्दी नाटक को एक लम्बा सफ़र तय करना पड़ा है और इस विकास-क्रम में पृथ्वी-थियेट्र्स का योगदान निस्सन्देह है।

हिन्दी रंगमंच के इतिहास में पृथ्वी-थियेट्र्स का निर्माण एक महत्त्वपूर्ण घटना है। अपने युग में जितनी लोकप्रियता पृथ्वी थियेट्र्स को मिली उतनी शायद ही किसी अन्य थियेटर को मिली हो। पारसी थियेटर को साहित्यिक रुचि के लोगों ने कभी भी सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा मगर पृथ्वी थियेटर्स एक ऐसा थियेटर था जिसे साहित्यिक और सामान्य, दोनों प्रकार की रुचि वाले लोगों ने न केवल पसन्द किया अपितु पृथ्वी थियेट्र्स के नियामक पृथ्वीराज को श्रद्धा की दृष्टि से भी देखा। 15 जनवरी, 1944 की सुबह पृथ्वी थियेटर की स्थापना हुई और इस शुभारम्भ के समय पं० नारायण प्रसाद 'बेताब' ने इसका नामकरण किया। 'बेताब' जी ने कहा था—"पृथ्वीराज जी नया युग हैं, नया जमाना। घिसी-पिटी लकीरों पर तो आप चलियेगा नहीं। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के कितने अनुवाद किए जा चुके हैं। एक मैं भी कर दूंगा, तो क्या बात बनी ? बात इसी में है कि आप इसे आज के युगानुसार नये ढंग से पेश कीजिए।"[1] और इन्हीं शब्दों के प्रति आभार प्रकट हुए पृथ्वीराज आगे चलकर कहते हैं कि इसी के फलस्वरूप "मैं पृथ्वी-थिट्येर्स के अन्य खेलों द्वारा देश की भिन्न-भिन्न जटिल समस्याओं को सादा और सरल सेटों पर अंकित करने में उन खेलों के लेखकों का कुछ हाथ बंटा सका, उन्हें कुछ प्रेरणा दे पाया कुछ विचारों का आदान-प्रदान करने योग्य बन सका।[2]

श्री पृथ्वीराज कपूर के इस कथन में कितनी सच्चाई निहित है, इस पर आगे विचार किया जायेगा। परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि श्री पृथ्वीराज कपूर ने आर्थिक घाटा सह कर भी इस थियेटर को चलाने के लिए दमतोड़ मेहनत की। 'पृथ्वी-थियेट्र्स' के विघटन की कहानी, रंगमंच को यथासम्भव चलाने के लिए आर्थिक अभाव की कहानी है। क्योंकि "सारे जीवन की भांति रंगमंच भी एक भारसाम्य के ऊपर जीवित रहता है; उसका पेट भी भरना होगा; उसके प्राण भी बचाने होंगे और प्रेम भी बिखेरना होगा। बिना खर्च के थियेटर नहीं होता और जब उसका खर्च दर्शक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खुशी-खुशी न देना चाहेंगे और न दे सकेंगे, तब तक रंगमंच का भविष्य अंधकारपूर्ण होना अनिवार्य है।"[3] यह वक्तव्य पृथ्वी थियेटर्स पर पूरी तरह से लागू होता है। परन्तु अर्थाभाव के बावजूद भी पृथ्वीराज ने जो कुछ किया, वह निस्सन्देह स्तुत्य है। 1944 से लेकर 1960 तक के सोलह वर्षों में पृथ्वी थियेटर्स को जो शानदार ख्याति मिली, वह रंगमंच के इतिहास में एक युगान्तकारी परिवर्तन था।

जहां तक रंगमंच की व्यावसायिकता का प्रश्न है तो 'पृथ्वी थियेट्र्स' व्यावसायिक होते हुए भी उस अर्थ में व्यावसायिक नहीं था जिस अर्थ में पारसी रंगमंच था। पारसी रंगमंच के सामने धनोपार्जन ही मुख्य ध्येय था। धन को केन्द्र-बिन्दु बनाकर ही उनका नाटक और प्रस्तुतीकरण सफल था अर्थात् धन था केन्द्र-बिन्दु और उसके चारों ओर की परिधि में घूम रहे थे निर्देशक, नाटककार, अभिनेता आदि। लेकिन पृथ्वीराज पारसी-रंगमंच की सीमाओं से पूरी तरह परिचित थे और उन कमज़ोरियों से ऊपर उठने का उन्होंने हर सम्भव प्रयत्न किया। उनकी नाट्यशाला और प्रदर्शन-शैली मनोरंजन के निम्न-स्तर और व्यवसाय की स्थूलता को कहीं भी छू नहीं पायी।

'पृथ्वी-थियेट्र्स' में न तो पारसी रंगमंच की सी तड़क-भड़क थी और न चमत्कार दिखाने वाले अतिरंजनापूर्ण दृश्य। अति नाटकीयता की अपेक्षा पृथ्वीराज ने अभिनय में स्वाभाविकता और सजीवता को महत्त्व दिया। श्री लक्ष्मीशंकर व्यास के कथनानुसार—"अभिनय प्रारम्भ होने पर एक अभिनव प्रकार का झंकार-वाद्य बजने लगता। यह ध्वनि पहले तो पास में ही ध्वनित होती है, किन्तु बाद में क्रमशः दूरागत होती जाती है।"[4] दृश्यों की स्वाभाविकता के विषय में वे लिखते हैं—"यदि रात्रि का दृश्य है तो स्वाभाविक अन्धकार के साथ आकाश में चन्द्र और तारे भी उसी सजीवता के साथ चमकते एवं प्रकाश विकीर्ण करते दिखाई पड़ते हैं। उसी प्रकार प्रभात और ऊषा के प्राकृतिक प्रकाश एवं बाल-रवि की अरुणिमा की क्रमशः विस्तृत एवं विकीर्ण होती प्रकाश किरणें पृथ्वीराज के रंगमंच की उत्कृष्टताओं में हैं। घर की दीवारों के रोशनदान तथा वातायनों से सूर्य एवं चन्द्र की प्रकाश-किरणों की आयोजना दर्शक को विस्मय-विमुग्ध कर देती है।"[5] इससे स्पष्ट है कि पृथ्वीराज ने पारसी रंगमंच की अतिरंजनापूर्ण शैली की उपेक्षा करते हुए यथार्थमूलक स्वाभाविक शैली को अपनाया। पारसी रंगमंच पर अश्लील चेष्टाओं आदि भाव-भंगिमाओं के प्रदर्शन के विरुद्ध पृथ्वीराज ने कलात्मक सौन्दर्य को महत्त्व दिया। 'कलाकार', 'दीवार', 'आहुति', और 'पठान' में तीन दृश्य-बन्धों में ही पूरा नाटक रूप लेता है। पारसी रंगमंच की तरह बार-बार दृश्य परिवर्तन यहां नहीं किया जाता। "एक एक दृश्य में दो पात्रों तथा अभिनय के इतने सुसम्बद्ध और क्रमबद्ध प्रसंग उपस्थित होते हैं जिनसे कथानक का निरन्तर विस्तार तो होता रहता है परन्तु दर्शक को यह पता नहीं चलता 'कि यह एक ही दृश्य के अन्तर्गत हो रहा है।"[6] दर्शक और रंगमंच के बीच की दूरी को समाप्त करके स्वाभाविक वातावरण द्वारा नाट्यानुभूति को तन्मयता की इस चरम स्थिति तक ले जाना निश्चय ही उल्लेखनीय है।

पृथ्वीराज ने रंगमंच और नाट्यकला के प्रति पारसी थियेटर से कितना भिन्न और स्तरीय दृष्टिकोण अपनाया इसे स्पष्ट करने के लिए पृथ्वी थियेटर की निम्न घटना का उल्लेख असंगत न होगा। पेशावर में एक बार पारसी रंगमंच पर हरिश्चन्द्र का प्रदर्शन हो रहा था। पृथ्वीराज भी उस समय दर्शकों की श्रेणी में बैठे हुए थे और मुहम्मद हयाद जो कि उस समय के प्रसिद्ध 'एक्टर' माने जाते थे, तारामति का अभिनय कर रहे थे। "नाटक के अन्तिम दृश्यों में तारामति अपने पुत्र रोहित की लाश को हाथों में उठाये हुए श्मशान में दाखिल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुई, इतने में दर्शकों में से आवाज़ उठी 'पखतून' (ग़ज़ल सुनाओ)। इस आवाज़ के उठते ही मंडप में हर तरफ पखतून', 'पखतून' का शोर होने लगा। चुनांचे तारामति ने रोहित की लाश को रख दिया, और आगे बढ़कर पश्तो भाषा की एक इश्किया ग़ज़ल सुनाने लगी।[7] शायद इस घटना ने पृथ्वीराज जैसे भावी कलाकार को कहीं गहरी ठेस पहुंचायी। इसके बाद जब शिमला में 'पठान' के प्रदर्शन के समय अचानक यह 'पखतून' शब्द फिर उनके कानों में पड़ा तो उन्हें अत्यन्त क्षोभ हुआ और दुःखी मन से परदा गिरा दिया। इन दोनों घटनाओं के मूल में निर्देशकों की भिन्न-भिन्न दृष्टि, कला के प्रति उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है परन्तु इन दोनों घटनाओं के बीच की कड़ी पृथ्वीराज कपूर ने नाटक और रंगमंच के प्रति दर्शकों के दृष्टिकोण को बदलने की भरपूर चेष्टा की, यह असंदिग्ध है। कला का अर्थ उन्होंने सस्ते मनोरंजन के रूप में न लेकर उसे जीवन से भी जोड़ने का प्रयास किया।

पृथ्वीराज ने अपने थियेटर में आठ नाटकों का प्रस्तुतीकरण किया, जिनमें से 'शकुन्तला' को छोड़-कर लगभग सभी को शानदार सफलता मिली। पृथ्वीराज के ये नाटक प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से नितान्त सफल रहे, इसका कारण एक यह भी है कि उनमें राजनैतिक चेतना और साम्प्रदायिक अखण्डता का आभास सर्वत्र मिलता है। इसलिए एक ओर तो नाटकों में व्यापक, उदार दृष्टिकोण की झलक थी दूसरी ओर थी पृथ्वीराज की मंत्रमुग्ध कर देने वाली अभिनय-प्रतिभा, इन दोनों के मणि-कांचन संयोग से रंगमंच ने एक बार उन्नयन की चरम सीमा को छू लिया। क्योंकि निस्सन्देह प्रस्तुतीकरण की सफ-लता नाटक की उत्कृष्टता और अभिनय की बारी-कियों पर अधिक निर्भर है परन्तु शारीरिक-सौन्दर्य भी किसी सीमा तक प्रभावित करता है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। और पृथ्वीराज के विषय में तो श्री वृन्दावन लाल वर्मा लिखते हैं—"श्री पृथ्वीराज कपूर की देह का गठन और मांस-पेशियों का बलिष्ठ उभार इतना सुन्दर और मोहक लगा कि यूनानी और रोमन चित्रों के शरीर सौन्दर्य से श्री कपूर के नाक-नक्शे, गांठ-गठीलेपन और हृष्ट-पुष्ट, प्रबल एवं सानुपात अवयवों की तुलना करते मैं अघा नहीं रहा था।"[8] जबकि सभी नटकों में प्रमुख भूमिकाएं पृथ्वीराज ने स्वयं निभायी तो उनमें पारसी थियेटर का सा सस्तापन आने का प्रश्न ही नहीं उठता था।

'शकुन्तला' की असफलता के बाद 'दीवार' का प्रदर्शन पृथ्वी थियेटर की लोकप्रियता की कसौटी सिद्ध हुआ। प्रस्तुतीकरण के समय इसका आरम्भ एक गीत "हम एक थे, हम एक हैं, हम एक रहेंगे।' से होता जिसकी प्रथम पंक्ति ही अपने आप में महत्त्वपूर्ण होते हुए पारसी रंगमंच के गीतों को कहीं पीछे छोड़ जाती है। प्राय: एक ही सैट पर सारा नाटक दिखाया जाता है। ज़मींदार की चौपाल का दृश्य बहुत ही स्वाभाविक है। दृश्य-योजना इस प्रकार से है कि सामने दायें और बायें दो सीढ़ियां ऊपर को जाती हैं। ऊपर एक बालकनी दिखाई पड़-ती है जिसके दरवाज़े में से उसके दोनों छोटे और बड़े भाई के कमरे स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं, जहां वे रहते हैं। नाटक में तीनों प्रमुख भूमिकाएं (अनपढ़ के रूप में, उदार ज़मींदार के रूप में, और विदेशी रमणी के सम्पर्क में शिक्षा प्राप्त करके अनुदार आधुनिक शराबी जागीदार' के रूप में) स्वयं पृथ्वी-राज ने ही निभायी हैं। प्रदर्शन में 'दीवार' की प्रतीकात्मकता से विषय वस्तु की व्यंग्यात्मकता और भी अधिक स्पष्ट रूप से उभर कर आयी है।

'पठान' में भी एक ही दृश्यबन्ध अर्थात् खान-साहब के मकान का अहाता है। "रंगमंचीय कौशल आदर्शात्मकता से युक्त है। अहाते के सामने एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोल-सा बुर्ज है जिस पर चढ़कर शत्रु की गतिविधि का निरीक्षण किया जा सकता है। बायीं ओर अन्दर ज़नानेखाने का दरवाज़ा दिखाई देता है जिसके बाहर एक ऊंचा सा चबूतरा है। दायीं ओर बड़ा किवाड़ है जो बाहर गली में खुलता है।"[9] इसी दृश्यबन्ध पर सारा नाटक रूप लेता है। प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से 'दीवार' और 'पठान' नाटक पृथ्वी-थियेटर के सबसे सशक्त और सफल रहें हैं। इसमें 'पठान' का अभिनय भी स्वयं पृथ्वीराज ने किया है। 'पठान' के नाटक के नाट्यशिल्प की प्रशंसा श्री चन्द्रभान ने इस प्रकार की है—The whole play 'Pathan' is arranged only in one setting which gives the idea of completenes and nowhere unnaturalness is found,"[10]

इसके अतिरिक्त 'ग़द्दार' और 'आहुति' रूप-विधानकी दृष्टि से कमज़ोर होने के करण रंगमंच पर अधिक प्रभाव नहीं छोड़ पाये। 'कलाकार', 'पैसा' और 'किसान' का नाटकीय पक्ष दुर्बल है।

पृथ्वी थियेटर के सभी नाटकों में जहां कहीं भी नृत्य और गीत आदि का समावेश हुआ है, वे सभी संगत और कथ्य से जुड़े हुए हैं। प्रदर्शन की दृष्टि से इन सभी गीतों और नृत्यों का उद्देश्य कहीं भी पारसी रंगमंच की तरह मात्र मनोरंजन या धनोपार्जन नहीं रहा। पृथ्वी थियेटर के सभी नाटकों के प्रस्तुतीकरण से यह बात तो पूरी तरह से स्पष्ट हो जाती है कि पृथ्वीराज पारसी रंगमंच की प्रदर्शन सम्बन्धी कमज़ोरियों से पूरी तरह अवगत थे और अपने रंगमंच पर उनके निराकरण के प्रति वे अन्त तक सजग रहे। थियेटर में प्रदर्शन के दौरान दर्शकों की अनुशासनहीनता उन्हें कदापि सह्य नहीं थी। हाल में प्रदर्शन के समय पूर्ण-शान्ति के लिए कई बार गर्मी में बिजली के पंखें भी बन्द करवा दिये जाते थे और इसके बावजूद भी यदि दर्शक सांस रोके हुए बड़े ही तन्मयभाव से नाटक देखते रहते थे तो प्रदर्शन की सफलता का इससे बड़ा प्रमाण क्या होगा ? "वे ट्रकों में नाटकों के पर्दे, साज-सज्जा तथा सामान को भरकर अपनी 90 व्यक्तियों की कम्पनी लेकर दूर-दूर नगरों में गये। उन्होंने देश के विभिन्न भागों में 2500 प्रदर्शन किये। उनका थियेटर किसी एक क्षेत्र का नहीं था। वास्तव में पृथ्वी थियेटर 'अखिल भारतीय थियेटर' था।"[11] इतने लोगों के साथ सारे भारत में घूमने के बावज़ूद भी पृथ्वी थियेटर में पारसी रंगमंच की तरह भ्रष्टाचार नहीं था। पृथ्वीराज ने प्रत्येक दृष्टि से पृथ्वी थियेटर को जनजीवन से जोड़ने और पारसी रंगमंच के निन्दनीय प्रभाव से ऊपर उठाने की कोशिश की। इस लिए उनके नाटक भी पारसी रंगमंच की तरह रोमांटिक और छिछले न होकर तत्कालीन सन्दर्भ से जुड़े हुए थे। पृथ्वीराज के अतिरिक्त उनके सहयोगी पात्रों में अज़रा, ज़ोहरा सहगल, श्रीराम, सुदर्शन सेठी, शम्मीकपूर और प्रेमनाथ का नाम प्रमुख है। इन सबने थियेटर को जीवित रखने के लिये पृथ्वीराज को पूरा सहयोग दिया। किन्तु फिर अर्थभाव के कारण इस थियेटर का अस्तित्व लड़खड़ाने लगा।

अन्त में अर्थाभाव की जटिल स्थिति में पृथ्वीराज ने थियेटर का सारा सामान गिरवी रख दिया क्योंकि 20 हज़ार रुपये मासिक खर्च बर्दाशत करना कोई मामूली सी बात नहीं है। "महान् अभिनेता और निर्देशक होने पर भी पृथ्वीराज को किराये के 'ऑपेरा हाउस' में अपने नाटकों का प्रदर्शन करना पड़ा-वह भी सप्ताह में दो दिन सवेरे के शो में नाटक-प्रदर्शन के बाद तुरन्त ही स्टेज से सब भारी साज-सज्जा को हटाना पड़ता था, क्योंकि उसमें तुरन्त फिल्मों के प्रदर्शन के लिए सफेद पर्दा लगाना होता था। नाटक के पश्चात् कभी-कभी पृथ्वीराज स्वयं अपना सिर झुकाये आंखे मूंदे प्रवेश द्वार पर झोली फैलाकर खड़े हो जाते थे।"[12] परन्तु जब अथक परिश्रम और चन्दा इकट्ठा करने के बावजूद भी रंगमंच न चल सका तो हारकर पृथ्वीराज को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थाभाव के कारण 1960 में इस थियेटर को बन्द करने की घोषणा करनी पड़ी।

इस प्रकार पारसी-रंगमंच के ह्रास के पश्चात् पृथ्वी थियेटर का विघटन एक हृदयविदारक घटना है और वह भी अर्थाभाव के कारण, जबकि पृथ्वी-थियेटर्स' के सभी नाटकों का प्रदर्शन स्तरीय, सुरुचिपूर्ण और सार्थक था। पारसी-रंगमंच के प्रदर्शनों की स्थूलता की उपेक्षा का भाव अब पृथ्वी-थियेटर की प्रत्येक गतिविधि में मौजूद था, इस दृष्टि से ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में पृथ्वी थियेटर का महत्व नि:सन्देह उल्लेखनीय है।

पृथ्वी थियेटर के नाटकों के प्रस्तुतीकरण से इतना तो स्पष्ट है कि यह रंगमंच पारसी रंगमंच की अपेक्षा एक स्वस्थ और नवीन दृष्टिकोण लेकर आया। इस थियेटर ने अपनी अभिजात्य प्रदर्शन-शैली द्वारा जनरुचि में परिवर्तन लाने और नाट्य-कला को ऊंचा स्थान दिलाने की भरपूर कोशिश करते हुए, अपार यश अर्जित किया। परन्तु एक महान् अभिनेता, निर्देशक और लेखक के रूप में पृथ्वीराज की लोकप्रियता एक ऐसे प्रश्न को जन्म देती है जो स्तरीय नाटक और आलोचना के विभिन्न धरातलों पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कुछ लोगों ने पृथ्वीराज को 'नाट्याचार्य'[13] और 'भारत के सबसे बड़े हिन्दी रंगमंच के अधिष्ठाता'[14] कहा है और एक महोदय ने तो भारत में यथार्थवाद का जन्म ही 'पृथ्वी-थियेटर्स' से माना है।[15] परन्तु प्रश्न यह उठता है कि क्या वास्तव में ही पृथ्वीराज नाटककार को कोई प्रेरणा दे सके या हिन्दी रंगमंच को कोई नई दिशा दे सके? यदि गहराई में जाकर इन प्रश्नों के उत्तर की खोज की जाये तो सर्जनात्मक स्तर पर हिन्दी रंगमंच के सन्दर्भ में पृथ्वी-थियेटर्स किसी सीमा तक सन्देहास्पद होगा।

विचारणीय यह है कि पृथ्वी थियेटर एक व्यावसायिक रंगमंच था और आधुनिक रंगदृष्टि के परिप्रेक्ष्य में व्यवसाय से अभिप्राय मात्र धन-प्राप्ति से नहीं है। इस विषय में श्री नेमिचन्द्र जैन के विचार महत्त्वपूर्ण हैं: "व्यावसायिकता वास्तव में जीवन के प्रति उस दृष्टिकोण में निहित है जो प्रत्येक वस्तु के विनिमय मूल्य पर सबसे अधिक बल देता है। एक बार दृष्टिकोण ग्रहण कर लेने पर महत्त्व इस बात का नहीं रहता कि बदले में मिलने वाली वस्तु क्या है—वह धन भी हो सकता है, सामाजिक मर्यादा और ख्याति भी, व्यक्तिगत प्रभुता और राजनैतिक सत्ता भी।"[16] और यही दृष्टि पृथ्वी-थियेटर की विकास प्रक्रिया के मूल में भी कहीं सूक्ष्म रूप से विद्यमान थी। यह बात और है कि पारसी रंगमंच की व्यावसायिक दृष्टि में और पृथ्वी-थियेटर्स की व्यावसायिक दृष्टि में भेद है। परन्तु पृथ्वीराज सृजन के स्तर पर हिन्दी रंगमंच को कोई नई दिशा दे सके अथवा नहीं, इस विषय में उत्तर लगभग नकारात्मक है। अन्यथा वे कृतियां ('पठान' 'दीवार, पैसा' आदि) जो किसी समय जन-मानस पर पूरी तरह छा गई थी, आज कहां लुप्त हो गई? इस विषय में डॉ० धर्मवीर भारती का कथन उल्लेखनीय है: "कहते हैं कि पृथ्वीराज के रंगमंच को सिनेमा खा गया। लेकिन यूं तो समय शेक्सपीयर और कालिदास के रंगमंच को भी खा गया, लेकिन वे कृतियां तो आज भी हैं और उनमें निहित कला-बीज नये-नये रंगमंचों को जन्म देते रहते हैं। फिर पृथ्वी रंगमंच की वे कृतियां कहाँ गई? उनमें किस तत्त्व की कमी थी जो हमने उन्हें भुला दिया और इतनी जल्दी? लगता है पृथ्वी थियेटर्स में सब कुछ था सिर्फ एक चीज़ नहीं थी, यानी नाटक।"[17] इसके इलावा जो कुछ भी था, वह पृथ्वीराज की अभिनय-प्रतिभा पर आधारित था।

नाटक देखने के बाद सब कुछ भूल जाता था और दिमाग पर छाये रहते थे केवल पृथ्वीराज। पृथ्वीराज को उन प्रदर्शनों में से हटा दीजिये, नाटक का सम्पूर्ण ढांचा धराशायी हो जायेगा, क्योंकि पृथ्वी-रंगमंच के नाटक केवल पृथ्वीराज के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखे जाते थे। एक ही चरित्र (पृथ्वीराज) को ध्यान में रखकर नाटक का संघर्ष क्रमशः आगे बढ़ता है। परिणाम-स्वरूप एक व्यक्ति को तो ऊपर उठने के पूरे अवसर प्रदान किए जाते हैं परन्तु दूसरे पात्रों की अभिनय-प्रतिभा का विकास अवरुद्ध हो जाता है। साथ ही एक ही व्यक्ति को केन्द्र-बिन्दु बनाकर लिखी गई नाट्यकृतियों में एक प्रकार की जड़ता-सी, ठहराव-सा आ जाता है और बहुमुखी प्रतिभाओं के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से सर्जनात्मक स्तर पर पृथ्वीराज का व्यक्तित्व रंगमंच के प्रेरक और मार्ग-दर्शक की अपेक्षा बाधक सिद्ध हुआ।

पृथ्वी-थियेटर में सर्वप्रथम सन् 1944 में पं० नारायण प्रसाद 'बेताब' कृत शकुन्तला नाटक का प्रदर्शन किया गया और यह असफल रहा। इसका कारण एक ओर तो नाटकीय तत्त्वों का अभाव था और दूसरी ओर नाटक की ऐतिहासिकता और साहित्यिक सौन्दर्य की सर्वथा उपेक्षा हुई। 'शकुन्तला' के प्रस्तुतीकरण के विषय में स्वर्गीय बलराज साहनी का कथन था —"पृथ्वी थियेटर्स के उस प्रोडक्शन में कालिदास की स्पिरिट प्राय: गायब थी।"[18] इसमें दुष्यन्त हैं पृथ्वीराज और शकुन्तला हैं अज़रा मुमताज। परन्तु सारे नाटक में अज़रा प्रेमिका के भावों को कहीं भी स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं कर पायी और उसके मुंह से 'अनुसुइया' और 'प्रियंवदा' का उच्चारण भी ठीक न हो पाता था। सबसे अधिक आश्चर्य तब होता है जब दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला को न पहचानने पर शकुन्तला उसे गालियां देने लगती हैं। इससे अधिक नाटक की आत्मा को ठेस और क्या पहुंचायी जायेगी?

परन्तु इसके बावजूद भी जब पृथ्वीराज अपने भाषणों में यह सिद्ध करने की कोशिश करते कि आज तक या तो हिन्दी में नाटक लिखे ही नहीं गये और यदि लिखे भी गये हैं तो वे सब 'कूड़ा करकट' हैं। वास्तव में वे ही हिन्दी रंगमंच के 'नियन्ता और अग्रदूत" हैं, तो हिन्दी रंगमंच के अधिष्ठाता का प्रश्न अपनी तीव्रता के साथ उभर कर आता है। इस विषय में श्री लक्ष्मी नारायण लाल का मत महत्त्वपूर्ण है। उनका कथन है : "इस संस्थान (पृथ्वी थियेटर) का रूप हिन्दी की सारी साहित्यिक परम्पराओं से निरपेक्ष, सबसे निस्संग, अपने आप में पूर्ण होने का दावा है। निरपेक्ष रहना और फिर भी उसी का पिता होने का दावा करना, पृथ्वीराज का यह कोरा अहंकार है, और हिन्दी के पक्ष से इसकी वह हीन ग्रन्थि है जिसके मूल में यह सत्य विद्यमान है कि हिन्दी का अपना कोई रंगमंच नहीं है।"[19] वास्तव में रंगमंच की मूल इकाई नाटककार है क्योंकि "समस्त सम्भावनाओं और नाट्य-स्थितियों का स्रष्टा वही है। वही उत्स है, लक्ष्य है, मूल है, अन्य इकाईयां मात्र साधन हैं, अवयव हैं।"[20] अत: पृथ्वीराज रंगमंच के अधिष्ठाता के रूप में कहीं भी नहीं आते।

जहाँ तक रंगमंच के लिए नाट्यलेखन में प्रेरणा देने का प्रश्न है तो "कलाकार" के पहले दो अंक रामानन्द सागर द्वारा तथा तीसरा अंक स्वयं पृथ्वीराज द्वारा लिखा गया है। परन्तु न केवल कलात्मकता की दृष्टि से अपितु विशुद्ध नाट्य-शिल्प की दृष्टि से भी 'कलाकार' का तीसरा अंक एकदम असफल है। इसे देखकर श्री बलराज साहनी के ये शब्द संगत जान पड़ते हैं :—"पृथ्वीराजमें अहंभाव काफी है, और अपने देश और अपनी भाषा के साहित्य का अध्ययन भी उसका आज तक अधूरा है।"[21] इसी अधूरे अध्ययन के कारण पृथ्वीराज ने इस गलत धारणा को पोषित करना चाहा कि वे न केवल नाटक लेखक और प्रेरक हैं किन्तु हिन्दी रंगमंच के 'नियन्ता' भी हैं। जहां वे अभिनेता के रूप में अत्यन्त सफल थे वहीं साहित्य के क्षेत्र में उनकी उक्त धारणा अतिरिक्त अहंभाव का परिणाम प्रतीत होती है। "अलग-अलग रहकर अहंकार पल सकता है, व्यवसाय सिद्ध हो सकता है; पर साहित्यिक रंगमंच का निर्माण कभी नहीं हो सकता।"[22]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दी के प्रति उनका दृष्टिकोण उपेक्षाभाव को लिये हुए था। अपने प्रदर्शनों में हिन्दी लेखकों को आमन्त्रित करके कहीं अप्रत्यक्ष रूप से वह यह भी कहना चाहते थे कि 'नाटक इसे कहते हैं जो मैंने लिखा हैं' जबकि वास्तविकता इसके विपरीत थी। रंगमंच की मूल इकाई अर्थात् स्तरीय नाट्यसृजन का वहां एकदम अभाव था। पृथ्वी थियेटर्स में प्रस्तुतीकरण के समय नाटक के संवाद एकदम दर्शक को अपने प्रभाव में लेकर जोश तो दिला सकते थे किन्तु सृजन के स्तर पर उनका महत्त्व संदिग्ध था। फिर पृथ्वी थियेटर की व्यावसायिकता उसे राजनैतिक और सामाजिक स्तर पर तो ख्याति दिला सकी परन्तु साहित्यिक क्षेत्र में उनका योगदान प्रायः जनरुचि के सुधार तक सीमित रह गया। हिन्दी नाटक के प्रतिमान और अन्वेषण का जिक्र करते हुए, पृथ्वी थियेटर्स के सन्दर्भ में श्री नेमिचन्द्र जैन का मत इस प्रकार है "निस्सन्देह, पृथ्वी थियेटर और जन नाट्य संघ के प्रभाव में लिखे गये और खेले गये नाटकों का स्तर बहुत नीचा है, बल्कि नहीं के बराबर है। उनकी अपील मुख्यतः या तो राजनैतिक है या उद्देश्यपरक मनोरंजन-प्रधान। मानव-जीवन या स्वभाव या स्थिति के किसी गहरे और सार्थक आयाम की कोई तलाश उनमें न हो सकती थी और न है। फिर भी हिन्दी नाटक में फिर से प्राण-प्रतिष्ठान होने का बहुत बड़ा श्रेय इन्हीं दोनों घटनाओं को है, क्योंकि उन्होंने नाटक को रंगमंच से जोड़ा और उसे निरे मनोरंजन के प्रकार से उठाकर एक सामाजिक सार्थकता प्रदान की।"[23]

इसमें सन्देह नहीं कि इन विख्यात लेखकों और समीक्षकों (धर्मवीर भारती, लक्ष्मी नारायण लाल, नेमिचन्द्र जैन) के कथन में सत्यता झलकती है, परन्तु इसके बावजूद भी पृथ्वी थियेटर्स के योगदान के प्रति एकदम नकारात्मक दृष्टिकोण नहीं अपनाया जा सकता। उसे (पृथ्वी रंगमंच को) एक दम उपेक्षित दृष्टि से देखना उसके साथ अन्याय करना होगा। पृथ्वी थियेटर के नाटकों के सामाजिक और राजनैतिक चेतना का मूल्यांकन केवल धनोपार्जन के सन्दर्भ में नहीं किया जा सकता, अपितु उन नाटकों में समकालीन चेतना के उग्र स्तर ने यह सिद्ध कर दिया है कि नाटक का सृजन सदैव उसके समकालीन दर्शकों के लिये होता है। पारसी रंगमंच के अतिरंजन में उलझा हुआ दर्शक-मन बौद्धिक स्तर की चरम ऊंचाई को एकदम कैसे छू सकता था? जबकि आज का हिन्दी नाटककार भी नाटक के प्रति जनरुचि को परिष्कार करने और नाटक को मनोरंजन के स्तर से ऊपर उठाने के लिए सतत प्रयत्नशील है। पृथ्वी रंचमंच के नाटकों में मनुष्यता के धरातल पर राष्ट्रीय एकता को अखण्ड रखने के स्तुत्य प्रयास परिलक्षित होते हैं। इसके अतिरिक्त पृथ्वी-थियेटर्स पारसी-रंगमंच से ऊपर उठाने तथा हिन्दी रंगमंच को एक नई दिशा में ले जाने के लिये पृथ्वी रंगमंच का योगदान उल्लेखनीय है। 'कलाकार' में उन्होंने भौतिक ऐश्वर्य और कला के बीच कलाकार के मन के द्वन्द्व को रूप देने की कोशिश की है (यह बात और है कि वे इसमें कहाँ तक सफल हो पाये हैं) इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उनका ध्यान केवल स्थूल राजनैतिक समस्याओं की ओर ही अधिक था। इसके साथ ही यह भी महत्त्वपूर्ण है कि जिस वातावरण में स्वतन्त्रता से पूर्व (सन् 1944 में) पृथ्वी रंगमंच की स्थापना हुई थीं, तब परिस्थितियां ही इतनी जटिल थी कि राजनैतिकता की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी और जैसा कि समय की अपेक्षा थी, देश की अखण्डता के लिये साम्प्रदायिकता का विरोध पृथ्वीराज के नाटकों में स्पष्ट परिलक्षित होता है। अतः कला के क्षेत्र में सृजन का मूल्यांकन करने से पहले तत्कालीन परिस्थितियों का मूल्यांकन अधिक आवश्यक है क्योंकि उन्हीं के माध्यम से कला अपने सही उद्देश्य का अन्वेषण करती है। इस दृष्टि से पृथ्वीराज के नाटकों में राजनैतिकता का पुट कोई आलोचना का विषय नहीं है जबकि नाटक तो समकालीन स्थितियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सम्प्रेषण का सबसे सशक्त माध्यम है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुतीकरण के स्तर पर भी पृथ्वी रंगमंच की उपलब्धियां उल्लेखनीय है। 'दीवार' की प्रतीकात्मकता में विषय वस्तु की व्यंग्यात्मकता बड़े तीखे ढंग से उभर कर आयी है। प्रदर्शन के समय मंच पर दृश्यबन्धों की योजना भी महत्त्वपूर्ण है। रंगसज्जा अत्यन्त सादी और स्वाभाविक होती थी जो पारसी रंगमंच की तुलना में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन था। 15 जनवरी, 1963 को जब स्वर्गीय पृथ्वीराज को उनका अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया तो उस अवसर पर स्वयं उनके शब्द पृथ्वी थियेटर्स पर भी लागू होते हैं :—

"मेरा विश्वास है नाटक कला और रंगमंच की उन्नति का युग आयेगा, मैं तो उसके आगमन के लिये मार्ग को स्वच्छ करने का प्रयत्न कर रहा हूं।"[24] उनके प्रयत्नों से आगामी हिन्दी रंगमंच की पृष्ठभूमि तैयार हुई, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

अतः हिन्दी-नाटक की विकास-यात्रा का नवमूल्यांकन इस तथ्य का स्पष्ट संकेत देता है। पृथ्वी रंगमंच का योगदान, अपनी समस्त सीमाओं के बावजूद भी, हिन्दी रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पृथ्वीराज ने स्वयं घाटा सहकर भी इस रंगमंच को यथासम्भव चलाया और भावी रंगकर्मी को चिन्तन की एक नयी दिशा दी—यह हिन्दी रंगमंच की उपलब्धि ही नहीं उसके लिये गौरव का विषय भी है।

1. धर्मयुग, 19 नवम्बर, 1972 पृ०23।
2. वही, पृष्ठ 23
3. नटरंग—4. ले०'हमारा व्यावसायिक रंगमंच मोहित मुखोपाध्याय, पृ० 19-20
4. पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० 303' ले. 'पृथ्वीराज-रंगमंच और नाट्यादर्श'।
5. वही।
6. पृथ्वी राज कपूर अभिनन्दन ग्रन्थ' पृ० 304 ले०पृथ्वीराज-रंगमंच और-नाट्यादर्श' लक्ष्मी शंकर व्यास।
7. पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन ग्रन्थ' पृ० 310, ले० 'पृथ्वीराज और नाट्यकला,' बलराज साहनी।
8. पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० 29, ले०-'नाट्याचार्य श्री पृथ्वी राजकपूर से भेंट का एक संस्मरण'।
9. पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन ग्रन्थ। आशानन्द वोहरा विद्यार्थी के लेख से उद्धृत। पृ० 337
10. The Indian Theatre, Page 174
11. पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन ग्रन्थ, ले०-'पृथ्वी थियेटर्स' बलवन्त गार्गी, पृ० 343।
12. पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० 343 ले०-'पृथ्वी-थियेटर्स'-बलवन्त गार्गी।
13. पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० 336, 'राष्ट्रीय रंगमंच और पृथ्वी थियेटर्स'—आशानन्द वोहरा
14. वहीं, पृ०347 ; 'पृथ्वी-थियेटर्स-यथार्थ की कसौटी पर' —बलबीर।
15. वही, पृ० 182; 'बीसवीं शताब्दी की प्रमुख प्रेरक प्रवृत्तियाँ'-कुमारशील।
16. कल्पना, जनवरी 1957, पृष्ठ—26
17. 'पश्यन्ती', पृष्ठ 110
18. पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० 314।
19. आलोचना, वर्ष 4, अंक 4, 1955, पृ०-113
20. वही, पृ० 112

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

21. पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० 311 ।

22. आलोचना, वर्ष—4, अंक 4, 1955, पृ० 113 ले० 'हिन्दी रंगमंच के पिता ! ।'—लक्ष्मीनारायण लाल ।

23. आलोचना, विशेषांक, भाग 17, जुलाई–सितम्बर, 1967, पृ० 89

24. 'पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन—सप्त' : श्याम नारायण पाण्डेय, पृथ्वीराज कपूर अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० 7

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० चन्द्र किशोर यादव
उप प्रधानाध्यापक
उच्च विद्यालय, खैरा
भागलपुर ।

अरण्यकाण्ड के धार्मिक बिम्ब

विषय-दृष्टि से 'मानस' के अरण्यकाण्ड में अधोलिखित धार्मिक बिम्ब उपलब्ध होते हैं :

1. गुणनिधान शंकर का वन्दनापरक बिम्ब :

तुलसी ने शंकर को धर्म-रूपी वृक्ष का मूल कहकर उन्हें परम धार्मिक, विवेक-रूपी समुद्र को आनन्द देने वाला कहकर उन्हें विवेकशील, वैराग्य-रूप कमल का सूर्य कहकर उन्हें वैराग्यवान्, पाप-रूपी घोर अंधकार को मिटाने वाला कहकर उन्हें सर्वथा निष्पाप, तीनों तापों को हरने वाला कहकर उन्हें त्रितापहर्त्ता एवं मोह-रूपी घन-समूह को छिन्न-भिन्न करने के लिए आकाश से उत्पन्न पवन स्वरूप कहकर उन्हें सर्वथा निर्दोष रूप में बिम्बित किया गया है । यह बिम्बमयता अपने प्रकृतरूप में धार्मिक है । यथा :

मूलं धर्मतरोर्विवेक जलधेः पूर्णेन्दुमानन्ददं
वैराग्याम्बुजभास्करं ह्यघघनध्वान्तापहं तापहम्
मोहाम्भोधर पूगपाटनविधौ स्वःसम्भवं शंकरं
वन्दे ब्रह्मकुलं कलकशमनं श्रीरामभूपप्रियम् ॥

2, श्री राम के चरण-कमल के भजने का बिम्ब ।

तुलसी ने अपने स्तोत्र की भक्तिपरक पंक्ति में अत्रि मुनि के द्वारा भगवान् श्री राम का तन्मयता पूर्ण भजन करवाया है । यहाँ कवि की दृष्टि श्री राम के श्री चरणों की ओर है, फलतः चरण कमल के प्रति अनन्य भाव से समर्पित होने का बिम्ब प्रकृष्टता से उद्भूत हुआ है । तुलसी ने भक्तवत्सल कृपालु परमेश्वर को नमस्कार करते हुए श्री राम को निष्काम पुरुषों को अपना उत्कृष्ट धाम प्रदान करने वाले कहकर बिम्बधर्मिता सर्जित की है जो शुद्ध धार्मिकता के कारण सम्प्रेष्य बन पड़ा है :

भजामि ते पदांबुजं अकामिनां स्वधामदं ।[2]

3. आवागमन-रूपी समुद्र के मंथन-क्रम में श्री राम का मन्दराचल-रूपी बिम्ब :

अत्रि मुनि के श्री राम के प्रति प्रार्थना-स्तोत्र में श्री राम को मन्दराचल के रूप में बिम्बित किया गया है । श्री राम संसार-रूपी समुद्र को मथने के लिए मन्दराचल हैं । मन्दराचल की कथा पुराण-साहित्य की कथा है । अतएव यहां मिथकीयता का आभास भी है । प्रस्तुत सन्दर्भ में आवागमन से मुक्ति प्राप्ति का संकेत निर्दिष्ट होने के कारण धार्मिक बिम्बमयता को उचित स्थान प्रदान किया गया है । यथा :

निकाम श्यामसुन्दरं । भवांबुनाथमंदरं ॥[3]

4. श्री राम के चरण-कमल सेवकों का संसार रूपी समुद्र में गिरने से बचने का बिम्ब :

तुलसी ने यहाँ मत्सररहित और तर्क-वितर्क हीन व्यक्ति (भक्त) का बिम्ब प्रस्तुत किया है । साथ ही श्री राम के चरण-कमल का बिम्ब भी उद्भूत हुआ है । प्रभु की भक्ति भक्त को संसार-रूपी समुद्र में पतित होने से बचाती है । यहाँ भी भक्ति का क्रियारूपपरिणामी बिम्ब प्रत्यक्ष होता है । यथा :

त्वदंघ्रि मूल ये नराः । भंजति हीन मत्सराः ॥
पतंति नो भवार्णवे । वितर्क वीचि संकुले ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

5. श्री राम जी के यश का बिम्ब :

श्री राम चरित मानस में तुलसी के आराध्य श्री राम के यश का अभूतपूर्व बिम्बन हुआ है। गोस्वामी जी ने इसे अमूल्य बनाने में धार्मिकता का सहारा लिया है। यहां श्री रामजी के सुन्दर यश को कलियुग के समस्त पापों का नाश करने वाले के रूप में बिम्बित किया है। यह सुयश मन को दमित करने वाला और सुख उपलब्ध कराने वाला है। यह बिम्ब अपनी मूल प्रकृति में धार्मिक है। यथा :

कलिमल समन दमन मन राम सुजस सुखमूल ।[5]

6. श्री राम-रूप ब्रह्म, लक्ष्मण-रूप जीव के मध्य माया-रूप में सुशोभित श्री सीताजी का बिम्ब:

ब्रह्म और जीव के बीच माया के रूप में सम्मूर्तित जानकीजी के बिम्बीकरण में कवि की धर्मप्रियता बड़े ही अनोखे ढंग से चित्रित हुई है। वन में परिभ्रमण करने वाली श्री राम, लक्ष्मण एवं सीता की त्रिमूर्ति के बिम्बत्व में ब्रह्म-रूप श्री राम, जीव-रूप लक्ष्मण एवं माया-रूप सीता की चित्रमयता काव्य के सौन्दर्य को खुलकर प्रकट कराने वाली है। तुलसी ने अपनी वैभिन्नयपूर्ण दृष्टियों से धार्मिकत्व के निर्वाह में अपनी सजगता का परिचय दिया है। यथा :

उभय बीच श्री सोहइ कैसी।
ब्रह्म जीव बिच माया जैसी ।।[6]

7. श्रीराम के मुख-रूपी कमल के रस का मुनि शरभंग के लोचन-रूपी भ्रमर द्वारा आस्वादन-परक बिम्ब :

निर्निमेष दृष्टि से आनन्दकन्द श्री राम के मुख-सौन्दर्य के द्रष्टा मुनि शरभंग की भक्तिमयता का बिम्बीकरण तुलसी ने अपनी भावयित्री प्रतिभा के सहारे बड़े सफल रूप में किया है। यहां श्री राम के मुख का कमल-रूपी एवं मुनिश्वर के नेत्र का भृंग रूपी बिम्ब उदित हुआ है। भ्रमर का विकल व्यापारपरक है जो कमल के रस का आस्वादन कर रहा है। यथा :

देखि राम मुख पंकज मुनिवर लोचन भृंग ।
सादर पान करत अति धन्य जन्म सरभंग ।।[7]

8. सीता लक्ष्मण समेत सगुण रूप में अवतरित भगवान श्री राम के हृदय में वास का बिम्ब :

तुलसी ने औपम्य-विधान एवं रंग-बोध के उचित प्रयोग के सहारे अपनी बिम्ब प्रियता का परिचय दिया है। नीले मेघ के समान श्यामल श्री राम का कायिक बिम्ब साकार हुआ है. जिसकी जीवंतता भक्त एवं आधारक के हृदय में उनके वास करने की है। सीता और अनुज के उल्लेख से प्रभु के वन्य परिवार का समर्पण बिम्ब ही उपस्थित कर दिया गया है। इस बिम्ब में गोस्वामी जी ने अपने समर्पण-भाव को निर्दिष्ट किया है। यथा :

सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तनु स्याम।
मम हिय बसहु निरंतर सगुन रूप श्री राम ।।[8]

9. मुनि सुतीक्ष्णा की श्री राम के प्रति दण्डवत प्रणति का बिम्ब :

यहाँ निरंतर निर्गुण रूप में व्याप्त प्रभु का स्मरण करने वाले मुनि सुतीक्ष्ण के हृदय से समष्टि शक्ति के अकस्मात् अन्तर्धान होकर सगुण-साकार श्री राम के रूप में उपस्थित उस परमेश्वर का बिम्ब उपस्थापित हुआ है। तुलसी ने मुनि के साष्टांग प्रणाम करने के बिम्ब को लकुटी के सहारे निरूपित किया है। साथ ही मुनि को 'प्रेम मगन एवं बड़भागी' की भी बिम्बात्मकता प्रदान की है। यथा :

परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी।
प्रेम मगन मुनिबर बड़भागीं ।।[9]

10. मुनि सुतीक्ष्ण की श्रीराम के प्रति निवेदित वन्दना में श्री राम का वनवासी कायिक बिम्ब :

दीर्घ-काल से श्रीराम की मिलन-लालसा के लिए आकुल-व्याकुल मुनि सुतीक्ष्ण की श्री राम के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रति निवेदित समर्पित वन्दना में बिम्बन का संस्कार बीज रूप में प्रतिष्ठित है। उन्होंने नील कमल की माला के समान अत्यन्त ही सुन्दर शरीर वाले, जटाओं को मुकुट के समान धारण करने वाले, वल्कलधारी, हाथों में धनुष–बाण तथा कमर में तरकस से सुशोभित श्री राम का विशिष्ट विशेषण-मूलक बिम्ब उद्घाटित किया है और उनकी वंदना सम्मोहक गीत गाकर उसे धार्मिक बिम्बमयता प्रदान की है। यथा :

श्याम तामरस दाम शरीरं।
जटा मुकुट परिधन मुनिचीरं॥
पाणि चाप शरकटि तूणीरं।
नौमि निरतर श्री रघुवीरं॥[10]

11, मुनि सुतीक्ष्ण की श्री राम के प्रति निवेदित वंदना में श्री राम का अग्नि एवं सूर्य रूपी बिम्ब :

मुनि सुतीक्ष्ण की श्री राम के प्रति निवेदित वंदना में श्री राम को मोह–रूपी वन को दग्ध कराने के लिए अग्नि कहकर अमूर्त्त एवं मूर्त्त दोनों प्रकार के उपादानों का मूर्त्तन किया है। साथ ही श्री राम को संत-रूपी कमल-वन के लिए सूर्य कहकर सज्जनों के लाभ के लिए उनके अवतार की सुन्दर सार्थकता प्रस्तुत करते हुए धर्मशीलता के बिम्बन-वैशिष्ट्य को स्वीकार किया है यथा :

मोह विपिन घन दहन कृशानुः।
संत सरोरुह कानन भानुः॥[11]

12, मुनि सुतीक्ष्ण की श्री राम के प्रति निवेदित वंदना में श्री राम का सिंह एवं बाज-रूपी बिम्ब :

गोस्वामी जी ने श्री राम को राक्षस-रूपी हाथियों के समूह के लिए सिंह के रूप में सम्मूर्त्तित किया है। इस प्रकार यहां प्रत्यक्ष पक्ष में श्री राम और राक्षस तथा अप्रत्यक्ष दिशा में सिंह और हाथी का बिम्बन हुआ है। इसमें राक्षस के उन्मूलन का संकेत है। इसी प्रकार तुलसी ने भव-रूपी पक्षी एवं श्री राम-रूपी बाज का मूर्त्तन किया है। यहां आरोपण आरोप्य शैली के सहारे धार्मिक बिम्बमयता उजागर की गई है। यथा :

निशिचर करि वरूथ मृगराजः।
त्रातु सदा नो भव खग बाजः॥[12]

13, सुतीक्ष्ण मुनि की श्री राम के प्रति निवेदित वंदना में श्री राम का आंगिक-कायिक एवं सीता जी के नेत्र-रूपी चकोर का श्री राम-रूपी चन्द्रमामूलक बिम्ब :

तुलसी ने अत्रि मुनि द्वारा निवेदित वंदना में श्री राम का आंगिक-कायिक बिम्बन किया है। उन्होंने एक स्वच्छ चित्त वाले भक्त के हृदय के असीम अनुराग का बिम्बन समर्पण की भावभूमि में प्रतिष्ठित कर प्रस्तुत किया है। सौन्दर्य-निधान श्री राम की आंगिक-कायिक छवि के प्रकाशन के साथ जगजननी श्री सीता के उनके प्रति निरंतर अनुरक्त रहने की बिम्बमयता को चकोर और चन्द्रमा के रूपक के सहारे लालित्य प्रदान किया। गया है जो प्रभु-प्राप्ति की प्रखर ललक के कारण निस्सन्देह धार्मिक अर्थवत्ता को प्राप्त होता है यथा :

अरुण नयन राजीव सुवेशं।
सीता नयन चकोर निशेशं॥[13]

14. श्री राम का शिव के हृदय-सर में अद्भुत बाल-मराल रूपी बिम्ब :

भगवत्प्रीति में अनुरक्त सुतीक्ष्ण मुनि श्री राम के प्रति वंदना दर्शाने वाली चौपाई में तुलसी ने 'नौमि' कहकर सम्पूर्ण चौपाई को नमनता-प्रधान आशय से रंगकर प्रस्तुत किया है जिसके मध्य केन्द्र से धार्मिक बिम्ब की सुनहली किरणें फूट रही हैं। यहां श्री राम को शिवजी के हृदय-रूपी मानसरोवर का बालहंस कहा गया है। विशाल हृदय और भुजावाले श्री राम के बिम्ब-निरूपण का चमत्कार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुलसी की बिम्ब—सर्जिता का परिचायक है। यहां श्री राम को अत्यन्त ही उत्कृष्ट और प्रकृष्ट बताते हुए भक्तिपूर्वक प्रणाम किया गया है जहां धार्मिकता का पुट है :

हर हृदि मानस बाल मरालं।
नौमि राम उर बाहु विशालं ॥[14]

15. श्री राम का संशय-रूपी सर्प के लिए गरुड़-रूपी शरणापत्ति का विषादमोचक एवं प्रेत्य-भाव नाशक बिम्ब :

सुतीक्ष्ण मुनि कृपा के समूह उस भगवान् श्री राम से अपनी रक्षा की याचना करते हैं जो संशय-रूपी सर्प को ग्रसने के लिए गरुड़ हैं। उनकी शरण में आने से कठोर तर्क से उत्पन्न विषाद मिटता है। वे भव के कठोर जाल से भक्त को मुक्ति दिलाने वाले हैं। शरणपन्न भक्त को श्री राम की शरण में जाने पर आवागमन से मुक्ति मिलती है। इस प्रकार यहाँ संशय-विच्छेदक, विषादमोचक एवं प्रेत्यभावनाशक धार्मिक बिम्ब का चारुत्व सर्वथा दर्श्य है।:

संशय सर्प ग्रसन उरगादः।
शमन सुकर्कश तर्क विषादः ॥
भव भंजन रंजन सुरयूथः।
त्रातु सदा नो कृपा वरूथः ॥[15]

16, सुतीक्ष्ण मुनि की वंदना में श्री राम का गुणदायक बिम्ब :

वेद में जिस प्रभु के विषय में नेति-नेति कहकर मौन धारण किया गया है अत्रि मुनि उसी परम सत्ता के साक्षात् सगुण रूप श्री राम को निर्गुण सगुण, विषम, समरूप, ज्ञानी, वाणी, एवं इन्द्रियों से अतीत, अनुपम, निर्मल, सर्वथा दोषरहित. अनन्त एवं पृथ्वी का भार उतारने वाले के रूप में अभिव्यंजित कर उनकी शुद्ध वेदी पर प्रणति का पुष्प चढ़ाते हैं। धार्मिक बिम्बन का चमत्कार अपूर्व है। यथा :

निर्गुण सगुण विषम समरूपं।
ज्ञान गिरा गोतीतमनूपं ॥
अमलमखिलमनवद्यमपारं।
नौमि राम भंजन महि भारं ॥[16]

17. श्री राम का कल्पवृक्षप्रदायक एवं दुर्गुण-भासक बिम्ब :

तुलसी ने श्री राम को भक्तों के लिए कल्पवृक्ष का उद्यान कहा है। वस्तुतः यह तो मिथकपुष्ट धार्मिक बिम्ब है जिससे दुर्गुणों के प्रति उनका भासक बिम्ब निर्गत हुआ है। यथा :

भक्त कल्प पादप आरामः।
तर्जन क्रोध लोभ मद कामः ॥
अति नागर भव सागर सेतुः।
त्रातु सदा दिनकर कुल केतु : ॥[17]

18. श्री राम का धर्म कवच-रूपी आनन्ददायी बिम्ब :

तुलसी श्री राम के संबंध में बताते हैं कि वे धर्म के कवच हैं। उनके गुणसमूह आनन्द देने वाले हैं। यहाँ श्री राम को धर्म के कवच के रूप में एवं उनके गुणों को आनन्ददायक रूप में मूर्त्तित करने का प्रयत्न हुआ है। कवच का कार्य शरीर की रक्षा करना है। उसी प्रकार धर्म का काम सब प्रकार से आत्मा की पवित्रता की सुरक्षा करना है। इस प्रकार कवच के बिम्ब के व्याज से धर्म के अन्दरूनी तथ्यों का सफल उद्घाटन हुआ है। यथा :

धर्म वर्म नर्मद गुणग्रामः।
संतत शं तनोतु मम रामः ॥[18]

19. सुतीक्ष्ण मुनि की वन्दना में श्री राम का निर्मल, व्यापक अविनाशी एवं वनवासी बिम्ब :

यहां तुलसी ने श्री राम को निर्मल, व्यापक अविनाशी और सबसे हृदय में निर्गुण रूप में निरंतर वास करने वाले स्वरूप में बिम्बित किया है। पर यहां विशेष महत्त्व उस बिम्ब का है जिसमें लक्ष्मण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जी एवं सीता जी समेत वन में विचरण करने वाले वनवासी रूप में श्री राम को भक्त अत्रि मुनि के हृदय-रूपी कानन में वास करने का अनुरोध निवेदित है। यथा :

जदपि बिरज व्यापक अबिनासी।
सबके हृदय निरन्तर वासी।।
तदपि अनुज श्री सहित खरारी।
बसतु मनसि मम कानन चारी।।[19]

20. श्री राम का हृदय-नभ में चन्द्रवत् चमकते हुए निवास का बिम्ब।

एक सच्चा भक्त सदैव प्रभु से वास करने की प्रार्थना करता है। मुनि सुतीक्ष्ण की इस आशय की प्रार्थना यहां धार्मिक बिम्बमयता से प्राणवंत हो उठी है। तुलसी ने अपने इष्टदेव के अपार लावण्य-मय रूप का चाक्षुष सम्मूर्त्तन उपस्थित करते हुए उन्हें हृदय-नभ में चमकने वाले चन्द्रमा की संज्ञा से बिम्बित-प्रतिष्ठित किया है। साथ ही अनुज एवं जानकी के साथ उनका पारिवारिक एवं धनुष-बाणधारी रूप में उनका प्रकृत बिम्ब उपस्थित किया है। यहां हृदय में निवास करने के अनुनय के व्याज से धार्मिक अर्थवत्ता को विस्तार प्रदान किया गया है। यथा :

अनुज जानकी सहित प्रभु चाप बान धर राम।
मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम।। [20]

21. श्री राम के चरण-कमल के प्रति समर्पित प्रीति का बिम्ब :

धार्मिक बिम्ब के अन्तर्गत वैराग्य, सत्संग, भक्ति एवं प्रेम की चर्चा स्वीकृत है। श्री राम के चरण कमलों में अटूट प्रेम पाने के लिए प्रगाढ़ भक्ति वैराग्य एवं सत्संग के प्रति प्रियता की शुभ कामनाएं यहाँ अभिव्यंजित हो रही हैं। यहाँ श्री राम के चरण-कमल के प्रति निरंतर प्रवाहित प्रीति का बिम्बन हुआ है। यथा :

अखिल भगति बिरति सतसंगा।
चरन सरोरुह प्रीति अभंगा।।[21]

22. श्री राम की सुखदायिनी भक्ति का बिम्ब :

लक्ष्मण द्वारा पूछे जाने पर ईश्वर और जीव का भेद बताते हुए श्री राम अपने द्रवित होने का संकेत निर्देश करते हैं। इस प्रकार अभिव्यंजना में बिम्ब की तथाकथित सर्जना हुई है। श्री राम केवल अपने प्रति भक्तों द्वारा निवेदित अनन्य भक्ति से द्रवित होते हैं। यहां उनकी भक्ति का भक्तों के लिए सुखदायी एवं प्रभु के लिए द्रवणकारी बिम्बन हुआ है। यथा :

जातें बेगि द्रवउ मैं भाई।
सो मम भगति भगत सुखदाई।।[22]

23. संत की अनुकूलता पर भक्ति का अनुपम सुखमूलक बिम्ब :

तुलसी ने भिन्न-भिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न ढंग से भक्ति की सुलभता का कारण-निर्देश किया है। इस क्रम में भक्ति का अनुपम सुखमूलक बिम्ब उपस्थित किया गया है। साथ ही उसकी प्राप्ति के हेत्वर्थ संतों की प्रसन्नता एवं अनुकूलन का बिम्बन हुआ है। यथा :

भगति तात अनुपम सुखमूला।
मिलइ जो संत होइ अनुकूला।।[23]

24. याचकों का नीर आस्वादक मृग-रूपी बिम्ब :

पंपा सरोवर के पार्श्ववर्त्ती पवित्र प्रकृति प्रदेश में भांति-भांति के पशु जहाँ-तहाँ जल पी रहे हैं। कवि यहाँ उत्प्रेक्षा करता है मानों उदार दानी पुरुषों के गृह याचकों की भीड़ लगी हो। मूल कथन की पुष्टि में दानी एवं याचकों का उल्लेख होकर धार्मिक बिम्ब की मान्यता को स्वीकृत-अनुमोदित किया गया है। यहां लक्षित और उपलक्षित दोनों कोटियों की बिम्ब-सर्जना हुई है। यथा :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहं तहं पियहिं बिबिध मृग नीरा ।
जनु उदार गृह जाचक भीरा ।। [24]

25. मायाच्छन्न निर्गुण ब्रह्म का बिम्ब :

गोस्वामी जी का मूल कथन यह है कि कमल के पत्तों की आड़ में जल का पता जल्दी उसी प्रकार नहीं लगता जिस प्रकार मायाच्छादित जीव निर्गुण ब्रह्म की प्रतीति नहीं कर पाता । यहाँ मायाच्छन्न जीव के समक्ष निर्गुण ब्रह्म की अप्रतीति का उल्लेख होकर उसे बिम्बमयता प्रदान की गयी है । यथा :

पुरइनि सघन ओट जल बेगि न पाइअ मर्म ।
मायाछन्न न देखिऐ जैसें निर्गुण ब्रह्म ।। [25]

26. श्री राम नाम का व्याध-रूपी बिम्ब :

प्रभु श्री राम से नारद की वर-याचना में श्री राम के नाम की सर्वोपरि महत्ता दरसायी गई है । तुलसी ने इस नाम का पाप-प्रक्षालक बिम्ब उद्घाटित किया है । फलत. यहाँ पाप-रूपी पक्षियों के लिए श्री राम के नाम का व्याध-रूपी बिम्ब उत्थित हुआ है । पाप की निर्मूलता के इस प्रकाश में धार्मिक बिम्बमयता विद्यमान है । यथा :

जद्यपि प्रभु के नाम अनेका ।
स्रुति कह अधिक एक तें एका ।।
राम सकल नामन्ह ते अधिका ।
होउ नाथ अघ खग गन बधिका ।।[26]

27. भक्ति-रूपी पूर्णिमा की रात में श्री राम नाम रूपी चन्द्रमा के भक्त रूपी निर्मल आकाश में चमकने का बिम्ब :

तुलसी ने विषय की दृष्टि से ऐसे-ऐसे विलक्षण धार्मिक बिम्ब उरेहे हैं जिनकी महत्त्वपूर्णता उसके कला-पक्ष की सबलता के कारण और बढ़ गई है । कवि ने नारद के द्वारा श्री राम के यह वर-याचना कराई है कि वे उनके हृदय में निरंतर वास करें । इस धार्मिक तथ्य के सौन्दर्य-सर्जन में पूर्णिमा की रात, चन्द्रमा एवं आकाश का चाक्षुष बिम्ब सटीक होकर उतरा है, पर मूल में तुलसी का स्वर श्री राम के हृदय में वास करने के अनुनय के द्वारा धार्मिक अर्थवत्ता का संपोषक हो गया है । यथा :

राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम ।
अपर नाम उडगन बिमल बसहुं भगत उर व्योम ।।[27]

28. श्री राम का वात्सल्यमय भक्तरक्षक बिम्ब :

तुलसी ने श्री राम के श्री मुख से एक जगह ऐसा कहलाया है कि जो समस्त आशा-भरोसा को त्याग कर केवल मुझे ही भजते हैं, मैं सदा उसकी वैसे ही रखवाली करता हूं जैसे माता बालक की सतत रक्षा करती है । यहां श्री राम के द्वारा भक्तों की रक्षा का मातृवात्सल्यपरक बिम्ब प्रत्यक्ष होता है । भक्ति की वत्सलता के कारण इस बिम्ब का धार्मिकता का सहज संचार हो गया है । यथा :

करउं सदा तिन्ह कै रखवारी ।
जिमि बालक राखए महतारी ।। [28]

29. श्री राम का मातृपरायण शिशु की तरह अमानी भक्त के प्रति रक्षा का बिम्ब :

नारद की विवाहेच्छा को अपमान द्वारा मिटा देने वाले भक्तवत्सल श्री राम का रक्षापरक बिम्ब अपने मूल रूप में इस कारण धार्मिक है कि वे अपने भक्तों को पुत्र रूप में मानकर प्यार करते हैं । अपने पर निर्भर शिशु को जिस प्रकार मां अपने प्रौढ़ पुत्र से अधिक प्यार करती है, श्री राम भी अपने पर सर्वथा आश्रित नारद जैसे भक्त को वैसे ही प्रीति देते हैं । यहां श्री राम का मातृपरायण शिशु को तरह अमानी भक्तों के सतत रक्षा का बिम्ब उत्क्षिप्त हुआ है । यथा :

प्रौढ़ भए तेहि सुत पर माता ।
प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता ।।
मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी ।
बालक सुत सम दास अमानी ।।[29]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

30. अमूर्त्त धर्म का कमलवृन्त रूपी मूर्त्त बिम्ब :

तुलसी ने धर्म को कमल का झुण्ड कहकर अमूर्त्त एवं मूर्त्त वस्तुओं का बिम्ब खड़ा किया है। मानसकार ने नीच स्त्री को हिम ऋतु, ममता को जवास का समूह, स्त्री को शिशिर ऋतु एवं विषय-जन्यसुख तथा ममत्व, त्याग अभीष्ट लक्ष्य मानते हुए इनके बीच धर्म को विशेष रूप में सम्मूर्त्तित किया है। यथा :

धर्म सकल सरसीरुह वृन्दा।
होइ हिम तिन्हहि दहइ सुख मंदा ।।
पुनि ममता जवास बहुताई।
पलुहइ नारि सिसिर रितु पाई ।।[30]

31. संत का गुणात्मक बिम्ब :

तुलसी मे संतों के गुणों के प्रकाशन क्रम में कतिपय विशिष्ट एवं सटीक विशेषणों से मंडित कर उन्हें धार्मिक बिम्ब के संस्कार से पूरति किया है। यहां संत का दोषत्यागी, निष्पाप, कामनाशून्य, अकिंचन, मिताहारी, सत्यनिष्ठ, सावधान, मानद, मदहीन धैर्यवान्; आचरण में निपुण, गुणागार, संदेह-विगत, आत्म-प्रशंसा विरोधी, सम, न्यायी, सरल स्वभाव प्रिय, जप-तपादि नियमों में रत, गुरु, गोविन्द तथा ब्राह्मणों के चरणों में प्रीति रखने वाला, क्षमा, श्रद्धा, मैत्री, दया एवं मुदिता-प्रेमी रूप में बिम्बन हुआ है। वस्तुत: यह वह गुणात्मक सम्मूर्त्तन है जिससे धार्मिक बिम्बमयता निखर उठी है। यथा :

षट बिकार जित अनघ अकामा।
अचल अकिंचन सुचि सुख धामा ।।
अमित बोध अनीह मित भोगी।
सत्यसार कबि कोबिद जोगी ।।
सावधान मानद मदहीना।
धीर धर्म गति परम प्रबीना।
गुनागार संसार सुख रहित बिगत संदेह।
तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहुं देह न गेह ।।
निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।
पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं ।।
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती।
सरल सुभाव सबहि सन प्रीती ।।
तप जप ब्रत दम संजम नेमा।
गुरु गोबिन्द बिप्र पद प्रेमा ।।
श्रद्धा क्षमा मयत्री दाया।
मुदिता मम पद प्रीति अमाया ।।[31]

32. मन रूपी पतंग का दीपशिखा-रूपी तरुणी-तन को त्यागने एवं मन का सत्संग करने और श्री राम को भजने का बिम्ब :

यहाँ काम मदादि जैसे समस्त मनोविकारों को त्यागकर श्री राम को भजने का निष्कर्ष-संकेत तुलसी की बिम्बप्रियता का परिचायक है। उन्होंने युवती के तन को दीपक की शिखा के बिम्ब से एवं मानव-तन को पतंग के सम्मूर्त्तन से आवेष्ठित कर इसका निषेधक पंथ दिखलाया है। इस प्रकार तुलसी ते यहां समस्त मनोविकारों को त्यागकर भगवान श्री राम को भजने एवं सत्संग करने का बिम्ब उपस्थित किया है। यथा:

दीपसिखा सम जुवति तन मन जनि होसि पतंग।
भजहिं राम तजि काम मद करहिं सदा सतसंग ।।[32]

अरण्य कांड के कलावैशिष्ट्य अपने घटक-तत्त्वों में निम्नलिखित हैं :

1. रूपकात्मकता एवं विशेषणमूलकता।
2. रूपकात्मकता, विशेषणमूलकता एवं क्रिया-मूलकता।
3. रूपकात्मकता एवं विशेषणमूलकता।
4. रूपकात्मकता एवं क्रियामूलकता।
5. विशेषणमूलकता एवं क्रियामूलकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

6. रूपकात्मकता एवं क्रियामूलकता ।
7. रूपकात्मकता एवं क्रियामूलकता ।
8. प्रत्यक्षकथनपरकता, रंगमूलकता एवं क्रिया-मूलकता ।
9. उपमामूलकता, विशेषणमूलकता एवं क्रिया-मूलकता ।
10. उपमामूलकता, विशेषणमूलकता एवं क्रिया-मूलकता ।
11, रूपकात्मकता एवं क्रियामूलकता ।
12. रूपकात्मकता एवं क्रियामूलकता ।
13. रूपकात्मकता एवं विशेषणमूलकता ।
14. रूपकात्मकता, विशेषणमूलकता एवं क्रिया-मूलकता ।
15. रूपकात्मकता, विशेषणमूलकता एवं क्रिया-मूलकता ।
16, विशेषणमूलकता एवं क्रियामूलकता ।
17. विशेषणमूलकता एवं क्रियामूलकता ।
18. रूपकात्मकता एवं क्रियामूलकता ।
19. विशेषणमूलकता एवं क्रियामूलकता ।
20. उपमामूलकता एवं क्रियामूलकता ।
21. रूपकात्मकता एवं विशेषणमूलकता ।
22. प्रत्यक्षकथनपरकता एवं क्रियामूलकता ।
23. प्रत्यक्षकथनपरकता, विशेषणमूलकता एवं क्रियामूलकता ।
24. उत्प्रेक्षामूलकता, विशेषणमूलकता एवं क्रियामूलकता ।
25. विशेषणमूलकता एवं क्रियामूलकता ।
26. रूपकात्मकता एवं क्रियामूलकता ।
27. रूपकात्मकता, विशेषणमूलकता एवं क्रिया-मूलकता ।
28, उपमामूलकता एवं क्रियामूलकता ।
29. उपमामूलकता, विशेषणमूलकता एवं क्रिया-मूलकता ।
30. रूपकात्मकता, विशेषणमूलकता एवं क्रिया-मूलकता ।
31. प्रत्यक्षकथनपरकता एवं विशेषणमूलकता ।
32. रूपकात्मकता एवं क्रियापरकता ।

1. 'मानस' पृष्ठ 595 पंक्ति 1 से 4
2. 'मानस' पृष्ठ 598 पंक्ति 14
3. 'मानस' पृष्ठ 599 पंक्ति 1
4. 'मानस' पृष्ठ 599 पंक्ति 11-12
5. 'मानस' पृष्ठ 603 पंक्ति 7
6. 'मानस' पृष्ठ 604 पंक्ति 1
7. 'मानस' पृष्ठ 604 पंक्ति 7-8
8. 'मानस' पृष्ठ 605 पंक्ति 3-4
9. 'मानस' पृष्ठ 607 पंक्ति 11
10. 'मानस' पृष्ठ 608 पंक्ति 7-8
11. 'मानस' पृष्ठ 608 पंक्ति 9
12. 'मानस' पृष्ठ 608 पंक्ति 10
13. 'मानस पृष्ठ 608 पंक्ति 11
14. 'मानस' पृष्ठ 608 पंक्ति 12
15. 'मानस' पृष्ठ 609 पंक्ति 1-2
16. 'मानस' पृष्ठ 609 पंक्ति 3-4
17. 'मानस' पृष्ठ 609 पंक्ति 5-6
18. 'मानस' पृष्ठ 609 पंक्ति 8
19. 'मानस' पृष्ठ 609 पंक्ति 9-10
20. 'मानस' पृष्ठ 610 पंक्ति 6-7
21. 'मानस' पृष्ठ 612 पंक्ति 9

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

22. 'मानस' पृष्ठ 615 पंक्ति 4
23. 'मानस' पृष्ठ 615 पंक्ति 6
24. 'मानस' पृष्ठ 644 पंक्ति 10
25. 'मानस' पृष्ठ 644 पंक्ति 11-12
26. 'मानस' पृष्ठ 647 पंक्ति 5-6
27. 'मानस' पृष्ठ 647 पंक्ति 7-8
28. 'मानस' पृष्ठ 648 पंक्ति 1
29. 'मानस' पृष्ठ 648 पंक्ति 3-4
30 'मानस' पृष्ठ 649 पंक्ति 1-2
31 'मानस' पृष्ठ 650 पंक्ति 1-7
32 'मानस' पृष्ठ 651 पंक्ति 7-8

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाबी रामायण और रामचरित मानस

कु० सीता सैनी
शोध-छात्रा
हिन्दी-विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़ ।

राम और उनकी कथा, अनन्त काल से, भारतीय जनमानस को, स्रोतस्विनी बन, रससिक्त करती रही है। मूलतः रससिक्त करना ही इस कथा का अभीष्ट नहीं था, एक समदृष्टि, आध्यात्मिक चेतना, ऊर्ध्व-गामी आत्मा की विकसित परिणति को जनमानस के समक्ष समुत्थित करना इस का मुख्य लक्ष्य रहा है। वाल्मीकि ने राम को मानवीय गुणों से संपुष्ट करके कथा को अतिमानवीयता की ओर विकसित किया है जिसका मुख्य उद्देश्य नैतिकता-सम्पन्न मानव-जीवन की परिकल्पना है। यह तथ्य उस समय की परिस्थितियों में आंका जा सकता है। रामचरितमानस के रचयिता ने राम को शक्ति, शील और सौन्दर्य का स्वामी बनाकर आध्यात्मिक कथ्य से कथा को जन-चेतना का बिन्दु बनाया तो मूल में उस समय की परिस्थितियाँ ही कार्य कर रहीं थीं। हिन्दुओं का पथभ्रष्ट होना, मुगलों का अनैतिक होना, दुराचार इत्यादि अनेक दुर्गुणों में समाज का लिप्त होना, तुलसी के समक्ष था—ऐसे में उन्होंने जनचेतना को संग्रथित करने के लिए आध्यात्मिकता सम्पन्न राम को जनचेतना का केन्द्र बनाया। पंजाबी रामायणकार 'दिलशाद' के समक्ष वाल्मीकि और तुलसी दोनों हैं। उन्होंने वाल्मीकि से राम की मानवीयता और तुलसी की शैली को अपनाते हुए कथा का आरम्भ किया। मुख्यतः कवि ने वाल्मीकि-रामायण की सात काण्डों की कथा को संक्षेप में काव्यबद्ध किया है। कई स्थलों पर कथावस्तु में नवीन परिवर्तन और परिवर्धन भी किए हैं। यहां हम पंजाबी रामायण और तुलसी कृत रामचरित-मानस का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

'दिलशाद' ने पंजाबी रामायण में बाल-काण्ड को आदिकाण्ड का नाम दिया है। इसके आदि काण्ड का प्रारम्भ कवि ने ईश्वर की स्तुति में मंगलाचरण से किया है जिसमें सर्वशक्तिमान, अनन्त, सर्वज्ञ और विराट प्रभु के गुणों का गायन किया गया है[1] और प्रभु से काव्य-कला का ज्ञान प्रदान करने के लिए प्रार्थना तथा आत्म-परिचय भी हैं।[2] इसके बाद मूल-कथा प्रारम्भ होती है। रचना को आरम्भ करने की इस पद्धति का प्रयोग पंजाबी किस्सा-काव्यों में भी प्रायः उपलब्ध होता है जिनमें प्रायः कवि मंगला-चरण में भगवान से ज्ञान-दान के लिए स्तुति, रचना के सृजन का कारण तथा आत्म-परिचय दे रचना के सृजन-समय का उल्लेख करते हैं।[3] 'दिलशाद' की रामायण के प्रारम्भ में उसी किस्सा-काव्य परम्परा का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है जबकि रामचरित-मानस के बालकाण्ड में प्रारम्भिक सात संस्कृत श्लोकों में सरस्वती, गणेश, पार्वती, शंकर, गुरु, सुग्रीव, हनुमान, सीता और भगवान राम की प्रार्थना करने के बाद तुलसी ने रामायण की कथावस्तु के प्रधान उद्गम्-स्थल अर्थात् नाना-पुराणों, निगमों, आगमों, रामायणों तथा अन्य भारतीय साहित्य का उल्लेख करते हुए ग्रन्थ के उद्देश्य, नाम एवं गुण पर प्रकाश डाला है।[4] इसके अतिरिक्त याज्ञवल्क्य-भारद्वाज संवाद तथा प्रयाग-माहात्म्य,[5] सती का भ्रम, श्री राम का ऐश्वर्य और सती का खेद,[6] शिवजी द्वारा सती का त्याग, शिवजी की समाधि,[7] सती का दक्ष-यज्ञ में जाना,[8] पति के अपमान से दुःखी होकर सती का योगाग्नि से जल जाना, दक्ष-यज्ञ का विध्वंस, पार्वती का जन्म और तपस्या,[9] श्री राम का शिवजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से विवाह के लिए अनुरोध,[10] सप्तर्षियों की परीक्षा में पार्वती जी का महत्त्व,[11] कामदेव का देवकार्य के लिए जाना और भस्म होना, रति को वरदान,[12] देवताओं का शिवजी से विवाह के लिए प्रार्थना करना,[13] सप्तर्षियों का पार्वती के पास जाना,[14] शिवजी की विचित्र बारात और विवाह की तैयारी[15] शिवजी का विवाह.[16] शिव-पार्वती-संवाद,[17] अवतार के हेतु,[18] नारद का अभिमान और माया का प्रभाव[19] विश्वमोहनी का स्वयंवर, शिवगणों तथा भगवान को शाप और नारद का मोहभंग,[20] मनु-शतरूपा तप एवं वरदान,[21] भानु-प्रताप की कथा,[22] रावणादि का जन्म, तपस्या, उनका ऐश्वर्य तथा अत्याचार,[23] पृथ्वी तथा देवताओं की करुण पुकार.[24] भगवान का वरदान,[25] आदि प्रसंग हैं जो कि पंजाबी रामायण में नहीं हैं। पंजाबी रामायण में राम कथा का प्रारम्भ आदि-काण्ड में दशरथ-राज्य वर्णन तथा पुत्रेष्टि यज्ञ में राम-लक्ष्मण के लिए याचना से होता है। इसके बाद ताड़का-वध, सीता-स्वयंवर, लक्ष्मण-परशुराम-संवाद आदि प्रसंगों को काव्यबद्ध किया गया है। राम-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न के युवक होने संबंधी प्रत्येक वर्ष का रोचक वर्णन है।[26] तुलसी ने एक पुत्रेष्टि यज्ञ का आयोजन किया तो दिलशाद ने दो का। धनुर्विद्या निष्णात होने पर विश्वामित्र की राम-लक्ष्मण को साथ ले जाने की प्रार्थना, दशरथ की हिचकिचाहट, विश्वामित्र द्वारा इक्ष्वाकु कुल की महत्ता का वर्णन और राजा रघु की कथा को सुनाना, जिन्होंने ऋषि प्रयोजनार्थ कुबेर के धन को छीन कर ला दिया था।[27] इस प्रकार ऋषियों के रक्षणार्थ अपने कुल की गौरव-कथा सुन राम लक्ष्मण को विश्वामित्र के साथ जाने की आज्ञा देना आदि प्रसंग मानस और पंजाबी रामायण में समान रूप से वर्णित हैं। परन्तु पंजाबी रामायण में ताड़कावध प्रसंग में दिलशाद ने राम से नारी पर शस्त्र उठाने को पाप और क्षत्रिय धर्म के विरुद्ध कहलाया है और विश्वामित्र द्वारा प्रेषित परशुराम की पितृ-भक्ति संबंधी कथा का उदाहरण सुन पिताज्ञा का स्मरण कर ताड़का को मारने का वर्णन है। मानस में क्षत्रिय-धर्म परम्परा और नारी पर वार न करने का उल्लेख नहीं हैं। इसमें राम पिताज्ञा और गुरु के आदेशानुसार ताड़का-वध के लिए उद्यत होते है। वैसे भी तुलसी ने राम को ईश्वरत्व प्रदान किया है, सो संशय की गुंजाइश ही नहीं थी; क्योंकि मानव संशयग्रसित हो सकता है भगवान नहीं। अत: दिलशाद ने इस प्रसंग को अपनी मौलिकता से मानवीय धरातल पर प्रस्तुत किया है। मानस में अहल्या का आश्रम गंगा के दक्षिणी-तीर पर बताया गया है। मानसकार ने राम लक्ष्मण के विश्वामित्र सहित गंगा पार कर विशाला नगरी पहुंचने, राजा सुमति के आतिथ्य को स्वीकारते हुए गौतम के आश्रम में जाने तथा अहल्या का उद्धार करने[28] के प्रसंगों को रूपायित किया है। दिलशाद ने इन प्रसंगों को पूर्णतया त्याग दिया है। केवल रामचन्द्र के गौतमाश्रम में पहुंचने और गौतम द्वारा किए गए स्वागत का संक्षेप में वर्णन है।[29] पंजाबी रामायण में विश्वामित्र द्वारा राम-लक्ष्मण को सीता-स्वयंवर संबंधी एक कथा सुनाने का उल्लेख है जिस में सीता राजा जनक की अनुपस्थिति में अत्यन्त भारी शिव-धनुष को उठा दूसरी जगह रख देती है तथा उस स्थान की सफाई करती है। इस घटना को सुनकर राजा जनक प्रण कर लेते हैं कि सीता का विवाह उसी से होगा जो उस धनुष को उठा सकेगा[30] इसमें मानस की तरह स्वयंवर-पूर्व सीता के गौरी-पूजन के लिए जाने तथा राम-सीता के बाग में मिलने के प्रसंग नहीं है। मानस में विश्वामित्र सहित राम-लक्ष्मण का यज्ञशाला में जाना, सीता का यज्ञशाला में आगमन, बंदीजनों द्वारा जनक-प्रतिज्ञा की घोषणा, अन्य राजाओं के धनुष उठाने में असमर्थ होने, जनक की निराशाजनक दशा और क्षत्रियों के प्रति कटु वचन, लक्ष्मण का क्रोधित होना और राम द्वारा धनुष भंग आदि घटनाओं का वर्णन है; दिलशाद ने भी इन प्रसंगों को अपने ढंग से काव्य-बद्ध किया है।[31] 'पंजाबी रामायण' में रावण भेष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बदलकर स्वयंवर-पूर्व अपनी बल-परीक्षा कर लेता है और धनुष न उठाए जाने पर लंका वापिस लौट जाता है। मानस में भाटों द्वारा सिर्फ इतना ही कहा गया है कि—"रावण जैसे बलवान इस धनुष को देखकर ही लौट गए।"[32] इसके अतिरिक्त 'दिलशाद ने पंजाबी रामायण में राम-विवाह प्रसंग में पंजाबी-जनजीवन के रीति रिवाजों को प्रदर्शित किया है।[33] जो पंजाबी जन-जीवन से कवि की निकटता और उसकी मौलिकता का प्रमाण है। मानस में परशुराम-रामचन्द्र मिलाप की घटना धनुष तोड़ने के एकदम बाद घटित होती है जबकि पंजाबी रामायण में अयोध्या की ओर जा रही बारात को रास्ते में मिलते हैं।[34] मानसकार और रामायणकार दोनों ने परशुराम का मिलाप अति रोचक ढंग से हास्यपूर्ण, व्यंग्यपूर्ण और चंचल वार्तालाप रूप में प्रस्तुत किया है। वाल्मीकि रामायण और रामचरित मानस के प्रसंगों को मिलाकर एक नवीन कथा-रूप की सृष्टि द्वारा दिलशाद ने युग परिवेश में ढालकर नवीन उद्‌भावनाओं को अपनी मौलिकता से वर्णित किया है, परन्तु कवि ने अपना ध्यान मूलतः रामकथा पर ही केन्द्रित रखा है।

अयोध्याकाण्ड के अन्तर्गत 'दिलशाद' ने भरत के ननिहाल जाने की कथा से लेकर भरत के चित्र-कूट से वापिस आने और मिलाप आदि का चित्रण किया है। इसमें राम-राजतिलक के लिए दशरथ का संकल्प, मंथरा कैकयी-संवाद, कैकयी की वर-याचना, राम बनवास, राम-कौशल्या संवाद, राम, सीता, लक्ष्मण का वन-प्रस्थान, दशरथ की करुणामयी दशा श्रवण-वध की कथा, दशरथ की मृत्यु, भरत का अयोध्या-आगमन, राम-मिलन के लिए भरत का प्रस्थान, चित्रकूट में राम-भरत संवाद और अयोध्या लौटने की प्रमुख घटनाओं को काव्यबद्ध किया है। मानस के अयोध्याकाण्ड की कथावस्तु से इन प्रसंगों की निम्नलिखित भिन्नताएं दृष्टिगोचर होती हैं—मानस के प्रारम्भिक तीन श्लोकों में शिवजी की, राम की मुखश्री और राम चन्द्र की वन्दना तथा इसके उपरान्त एक श्लोक में गुरु वन्दना, दो दोहों में राजा दशरथ के भाग्य के वर्णन तथा राम राज्याभिषेक के विचारों की उत्पत्ति रूपायित है। पंजाबी में ऐसा उपलब्ध नहीं होता। मानस में दशरथ अपने श्वेत केशों को देख राम को गद्दी पर बिठाने का विचार गुरु वशिष्ठ से व्यक्त करते है।[35] परन्तु पंजाबी रामायण में राम को सर्वगुण-सम्पन्न और ज्येष्ठ-पुत्र होने के नाते राज्य देने का संकल्प है। मानस का राम के राजतिलक के समाचार को सरस्वती द्वारा मंथरा की बुद्धि भ्रष्ट करने का उल्लेख, पंजाबी रामायण में नहीं है। इसी प्रकार पंजाबी रामायण' में उपलब्ध कैकयी का राजा दशरथ से वर-प्राप्ति हेतु राजा शिवि की कथा सुनाने[36] का प्रसंग मानस में उपेक्षित है। वह प्रसंग दिलशाद की मौलिक सर्जना का प्रतीक है। इसी प्रकार पंजाबी रामायण में वर्णित लक्ष्मण द्वारा, राजा दशरथ की राम-बनवास पर, की गई निंदा[37] मानस में नहीं हैं। रामायण में राम तमसा नदी पर अयोध्यावासियों को छोड़ आगे बढ़ते हैं और सुमन्त्र को भी वापिस अयोध्या भेज आप सीधे भारद्वाज ऋषि के आश्रम में जा पहुंचते हैं।[38] लेकिन अलौकिक प्रसंगों जैसे—आकाशवाणी द्वारा त्रिवेणी को भरत के राम-प्रेम का विश्वास दिलाना, भारद्वाज की आज्ञानुसार ऋद्धि-सिद्धि का भरत के स्वागत प्रयोजनार्थ योग-माया से महल और ऐश्वर्य का सामान जुटाना और राम के पास जा रहे भरत के राह भटकने पर देवताओं द्वारा पुष्प-वर्षा द्वारा मार्ग निर्दशन तथा गुह्य मिलाप आदि प्रसंगों को रामायणकार ने पूर्णतया त्याग दिया है। 'पंजाबी रामायण' में राम भारद्वाज आश्रम से चित्रकूट के लिए प्रस्थान करते हैं जबकि मानस में इससे पूर्व वाल्मीकि-आश्रम में जाने का उल्लेख भी है। इसी प्रकार भरत के बहुत प्रार्थना करने पर भी राम का अयोध्या लौटने की अस्वीकृति, भरत का माता कौशल्या पर इसका निर्णय छोड़ना, कौशल्या द्वारा दोनों को धर्म पर चलने का उपदेश, जिसके अनुसार राम को चौदह वर्ष का बनवास अवश्य लेना चाहिए और फिर भरत के लिए राम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की खड़ाऊं की मांग स्वयं कौशल्या द्वारा कराना[39] मानस से एकदम विपरीत है । राम-मिलन से प्रेरित हो अयोध्या में राजप्रबन्ध सुव्यवस्थित कर भरत का नंदी गाँव में रहने लग जाना कवि ने डेढ़ बारहमासा में भरत के राम-वियोग में किए गए विलाप का हृदय-विदारक चित्रण कर इस काण्ड की समाप्ति की है । मानस में इस प्रसंग के बाद, भरत के चरित्र-गान और श्रवण-महिमा को भी काव्य-बद्ध करते हुए इस काण्ड का समापन किया है ।

मानस के अरण्यकाण्ड का प्रारम्भ इन्द्र के मूर्ख पुत्र जयंन्त का कौए के रूप में सीता को विकल करने और बाद में राम से क्षमा मांगने से होता है ।[40] पंजाबी रामायण में ऐसा प्रसंग नहीं है । इसके इस काण्ड का प्रारम्भ ही विराध-वध से होता है । विराध-वध कर राम पंचवटी पहुंचते हैं जबकि मानस में अत्रि ऋषि की संगत के उपरांत सरभंग ऋषि के पास जाते हुए रास्ते में विराध को मारने का उल्लेख है ।[41] इसके अतिरिक्त राम के आदेशानुसार सीता का अग्नि-प्रवेश[42] आदि प्रसंगों को दिलशाद ने त्याग दिया है । 'पंजाबी-रामायण' में सीता-हरण प्रसंग मानस पर ही आधारित है । इसी प्रकार राम का सीता-अन्वेषण करते समय मार्ग में जटायु से मिलन और जटायु की मृत्यु[43] के प्रसंगों के बाद इस काण्ड की समाप्ति दिलशाद ने कर दी है ।

पंजाबी रामायण के किष्किन्धा काण्ड में हनुमान-राम-मिलाप, राम-सुग्रीव मित्रता, राम की शक्ति-परीक्षा, बाली-वध, सुग्रीव का राज्याभिषेक सीता-अन्वेषण तथा हनुमान के लंका प्रस्थान प्रसंगों को क्रम से काव्यबद्ध किया है । मानस के इस काण्ड का प्रारम्भ सीतान्वेषण तत्पर राम और लक्ष्मण तथा राम नाम रूपी अमृत की वन्दना से होता है । इसके अनन्तर काशी-सेवा महत्व, शंकर वन्दना तथा उनकी सर्वशक्तिमत्ता का उल्लेख है । फिर राम के ऋष्य-मूक पर्वत पर पहुंचने, सुग्रीव आदि के चिन्तित होने, हनुमान का परिचयार्थ राम-मिलन तथा सुग्रीव से मिलना मैत्री करवाने के प्रसंग हैं । पंजाबी रामायण के इस काण्ड का प्रारम्भ ही ऋष्यमूक पर्वत पर राम लक्ष्मण को देख सुग्रीव के चिन्तित होने से होता है । अन्य प्रसंगों को मानस के अनुसार रूपायित किया गया है । परन्तु विस्तार में न जाकर संक्षेप में नवीनता लाने की कोशिश की गई है । बाली के दाह संस्कारोपरांत सुग्रीव का राज्याभिषेक राम स्वयं करते हैं[44] जबकि मानस में लक्ष्मण[45] । इसी प्रकार अंगद को युवराज बनाने के बजाय पंजाबी रामायण में सेनापति बनाने का प्रसंग है । पंजाबी रामायण में बरसात का चौमासा बिताने के लिए राम का एक पर्वत पर चले जाने का उल्लेख है[46] जब कि मानस में प्रवर्षण गिरि पर देवताओं द्वारा निर्मित गुफा में रहने का उल्लेख है ।[47] चौमासा समाप्त होने पर राम का लक्ष्मण को सुग्रीव के पास भेजना, सुग्रीव का लक्ष्मण-क्रोध से भयभीत होना और विनम्रता पूर्वक प्रार्थना से प्रसन्न करना, हनुमान को सुग्रीव के आदेशानुसार चारों दिशाओं की सेना एकत्र करना आदि प्रसंग मानस के अनुसार ही हैं ।[48] परन्तु इनमें दिलशाद की मौलिकता का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है । इसी प्रकार सुग्रीव का लंका पर धावा बोलने का परामर्श देने पर राम का सीतान्वेषण को प्राथमिकता देना, सभी बन्दरों के असमर्थता प्रकट करने पर अकेले हनुमान को मुद्रिका दे लंका पठाने का उल्लेख है ।[49] जबकि मानस में सभी बन्दरों को चहुं दिशाओं में भेजने और सीता को न खोजने पर मृत्यु दण्ड का डर देने तथा हनुमान को कुछ विचार कर मुद्रिका दे सीता-खोज में भेजने का उल्लेख है ।[50] इसके उपरांत हनुमान सहित सम्पूर्ण बन्दर सेना के बनों में सीता खोजने तथा बन्दरों को प्यास लगने[51] पहाड़ की चोटी पर चढ़ हनुमान द्वारा एक पहाड़ की गुफा में अलौकिक तालाब और तपस्विनी का साक्षात्कार, तपस्विनी के आतिथ्य स्वीकारने के बाद उसी की योग-माया से समुद्र-तट पर पहुंचने तथा बन्दरों द्वारा अवधि बीत जाने पर उदास होने, जामवन्त के उपदेशों को सुन सम्पाती का गुफा से बाहर आने और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जटायु तर्पणार्थ हनुमान के मार्ग-प्रदर्शन हेतु चित्रकूट पर्वत पर स्थित लंका के अशोक वन में सीता के होने का पता देने और ऋषराज जामवन्त द्वारा हनुमान को पराक्रम ज्ञान कराने तथा उसका त्रिकूट पर्वत सहित लंका को उखाड़ लाने का गर्जन आदि प्रसंग पंजाबी रामायण में उपलब्ध नहीं हैं। इस तरह रामगुण महिमा के गुणगान के साथ किष्किन्धा काण्ड की समाप्ति मानस में हो जाती है जबकि पंजाबी रामायण में समुद्र की अथाह जल-राशि को देख हनुमान का संशय में भरना कि शायद पार जा भी पाऊंगा या नहीं ? लेकिन वे भगवान राम का नाम लेकर एक पहाड़ पर छलांग लगाते हैं और सागर पार पहुंच जाते हैं।[52] समुद्र-पार एक पहरेदार राक्षसी द्वारा छाया पकड़ हनुमान को गिरफ्तार करना और भोज्य बनाना चाहना, हनुमान द्वारा आवश्यक काम की दुहाई देना तथा लंका वापिसी पर खा लेने की अनुनय करना, न मानने पर पराक्रम दिखाना[53] और राक्षसी का डरकर गुलामी का दम भरना, वहां से लंका में घुसने की अनुमति प्राप्त कर लंका-प्रवेश के समय लंकिनी से मुठभेड़ और वहां से विजयी हो लंका में जाने के प्रसंग है। इसके साथ इस काण्ड की समाप्ति होती है।

'किष्किन्धा काण्ड' के उपरांत 'सुन्दर काण्ड' है। मानस के सुन्दर काण्ड का आरम्भ सस्कृत के तीन श्लोकों, जिनमें राम की वन्दना, उनमें से अपनी भक्ति देने की प्रार्थना तथा हनुमान को नमस्कार हैं।[54] इसके बाद राम-कथा फिर प्रारम्भ हो जाती है। जामवन्त के वचनों से प्रेरित हनुमान का लंका की ओर प्रस्थान, सभी बन्दरों की प्रतीक्षा करने का आग्रह, देवताओं द्वारा हनुमान की बल परीक्षा हेतु नाग-माता सुरसा का आगमन और बाद में सिंहिका राक्षसी से मुठभेड़ तथा लंका में मसक (मच्छड़) रूप धारण कर प्रविष्ठ होना,[55] आदि प्रसंग हैं। पंजाबी रामायण में ये सभी प्रसंग किष्किन्धा काण्ड में ही वर्णित हैं। इसके सुन्दर-काण्ड का प्रारंभ ही हनुमान के लंका प्रवेश से होता है। हनुमान द्वारा रूप बदल लंका के घरों, गलीकूचों में सीतान्वेषण[56] और अन्त में एक बाग में सीता को एक वृक्ष के नीचे मलिन वस्त्रों में बैठे देखना और निन्दित स्त्रियों द्वारा कलपाया जाना,[57] उसी समय रावण का आगमन और सीता से उसका अनैतिक संबंध के लिए आग्रह[58] तथा अस्वीकृति पर अनैतिक शब्दों का उल्लेख है। परन्तु पंजाबी रामायण में मानस की तरह सीता-मिलन पूर्व विभीषण से हनुमान का मिलन[59] नहीं होता। हां, रावण द्वारा सीता को धमकाया जाना और सीता द्वारा उसकी निंदा आदि प्रसंग मानस के अनुसार वर्णित हैं। पंजाबी रामायण में रावण के प्रस्ताव को ठुकराने पर सीता को साठ दिन की मोहलत का आदेश है, अगर इस अवधि के बाद भी उसने रावण की बात को ठुकराया तो वह अपनी तलवार से उसे मार देगा[60] जबकि मानस में एक महीने की अवधि दी जाती है।[61] इसी प्रकार पंजाबी रामायण में उपलब्ध रावण के दिए क्लेश से विकल सीता को देख रावण के जाने के बाद राम नाम का उच्चारण, सीता द्वारा उत्सुकता से इधर-उधर देखना और हनुमान द्वारा राम की मुद्रिका उसके आगे फैंक देने का प्रसंग है[62] जबकि मानस में विरह-विदग्धा सीता का अशोक-वृक्ष से हाथ फैला अग्नि मांगने पर उन्हीं फैले हुए हाथों में हनुमान के अंगूठी फैंकने का उल्लेख है।[63] इसके बाद राम की कुशलता, असंख्य सेना सहित आने की सूचना का वर्णन दोनों कवियों ने एक ही तरह से किया है। मानसकार ने इस जगह राम के प्रभु रूप को अधिक उभारने की कोशिश की है जब कि रामायण में राम को मानवीय धरातल पर ही प्रकट किया गया है। पंजाबी रामायण में सीता इसी समय अपनी चूड़ामणि, राम को चिह्न स्वरूप, हनुमान के हाथों भेज देती हैं। इसके हनुमान के सीता से अशोक वन से फल खाने की आज्ञा न लेकर, मानसकार के बिल्कुल विपरीत, अपनी इच्छा से अशोक वन को उखाड़ते हैं[64]। उस समय हनुमान को बन्दी करने हेतु रावण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बीस युवकों के आने उनके कालोपरांत जंबू बजीर और रावण पुत्र के आने और मारे जाने का उल्लेख है।[65] अन्त में मेघनाद के ब्रह्मपाश में बंध दरबार में उपस्थित होने तथा रावण द्वारा हनुमान को सूली पर चढ़ाने या जीवित जलाने का आदेश तथा विभीषण द्वारा धर्म-नीति की दुहाई, रावण की आज्ञा से हनुमान को आग लगाना लेकिन हनुमान द्वारा संपूर्ण लंका को जला समुद्र में अग्नि बुझा राम के पास तुरन्त पहुंचने का उल्लेख है जबकि मानस में लंका दहन के उपरांत सीता से एक बार फिर मिलने, चूड़ामणि लेने तथा सीता द्वारा जयंत की कथा को सुनाने का वर्णन है।[68] राम के लंका-प्रस्थान, विभीषण का राम शरण में आना, सेतुबंध आदि प्रसंग मानस की आधार-भूमि पर ही लिखे गए हैं लेकिन दिलशाद ने आधुनिक युग के साँचे में ढालने के लिए नल और नील को इन्जीनियर कहा है जबकि तुलसी ने उन्हें प्रभु के वरदान पर अवलम्बित माना है। मानस में रावण को विभीषण तथा माल्यवान प्रधान मंत्री द्वारा पुलस्त्य ऋषि के कथन सुना राम-वैर त्यागने का उपदेश है। इसी प्रकार रावण द्वारा विभीषण का अपमान, विभीषण द्वारा राम शरणागति तथा समुद्र जल से राम द्वारा विभीषण को समुद्र के किनारे लंका-पति घोषित करना[69] आदि प्रसंगों का उल्लेख भी हुआ है जबकि पंजाबी रामायण में सुन्दरकाण्ड सेतुबन्ध के बाद ही समाप्त हो जाता है। मानस में इसी के अन्तर्गत रावण के राक्षसों द्वारा राम सेना की जासूसी, पकड़े जाने पर क्षमादान, लक्ष्मण द्वारा उन्हीं के हाथों रावण को पत्र भेजना, रावण द्वारा उन राक्षसों पर पद-प्रहार और ज्ञान-प्राप्ति और उनके अगस्त्य ऋषि के शापित-शिष्य होने संबंधी प्रसंगों का वर्णन हैं जो पंजाबी रामायण में नहीं है।

इसके बाद लंका काण्ड का प्रारम्भ होता है। दिलशाद ने इस काण्ड को युद्ध-काण्ड नाम दिया है। मानस की भी किसी-किसी प्रति में युद्धकाण्ड नाम है। पंजाबी रामायण में सेतु बान्धने की बात सुन रावण के हैरान होने, सुक-सारण राक्षसों द्वारा राम-सेना की जासूसी करने से होता है लेकिन मानस के प्रारम्भिक दोहों में राम को विकट धनुंधर और काल को उनका धनुष, लव, निमेष, युग, वर्ष और कल्प को उनके प्रचण्ड-बाण कहा गया है।[70] इस के बाद संस्कृत के तीन श्लोकों में से प्रथम में राम द्वितीय तथा तृतीय में शंकर की वंदना है।[71] राम को खल-वध-निरत और शिव को खलानां-दंडकृत कहा गया है। पंजाबी रामायण में ऐसी कोई वन्दना नहीं है। इसी प्रकार नल-नील को सेतु बांधने की प्रार्थना, राम की शिव-स्थापना और शिवजी और अपनी भक्ति की अभेदता स्पष्ट करना, सेतु पर से समुद्र पार जाते समय समुद्री जीवों द्वारा राम-दर्शन[72], बानरों द्वारा पार जा राक्षसों को मारने और उत्पात्त मचाने, रावण के व्याकुल हो दशमुखों से समुद्र के दस नामों का उच्चारण[73] आदि प्रसंग हैं, जो पंजाबी रामायण में व्याख्यायित नहीं है। मानस में सेना सहित राम के सुवेल पर्वत पर डेरा डालने और वहीं से लंका-शिखर पर उपस्थित नृत्यगृह में रावण को बैठे देख एक ही बाण से उसके छत्रमुकुट और मन्दोदरी के ताटंक को काटने का उल्लेख[74] पंजाबी रामायण में उपलब्ध नहीं होता। अंगद के दौत्यकर्म के निर्वाह-हेतु प्रसंगों को दोनों कवियों ने अपने-अपने रंग में ढाला है। मानस में वर्णित अंगद के रावण दरबार में पांव जमाने से पूर्व रावण द्वारा राम निंदा किए जाने पर अंगद को क्रोधित हो अपनी दोनों भुजाओं को पृथ्वी पर पटकने का प्रसंग है जिसकी ध्वनि से सभासदों के गिरने-गिरने को होने, रावण के संभल न पाने पर उसके मुकुटों के पृथ्वी पर गिर जाने, जिन में से कुछ को उठा रावण द्वारा सिर पर रख लेने और कुछ को अंगद द्वारा राम के पास फैंक दिए जाने का उल्लेख मिलता है।[75] इस पर रावण के अंगद पर बिगड़ने और उसे गिरफ्तार करने को राक्षसों से कहने पर अंगद के पांव जमा सीता को हार जाने की शर्त है जबकि पंजाबी रामायण में अंगद छल्यंग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगा राम के पास पहुंच जाते हैं। रावण को दिए गए उपदेश, युद्ध-वर्णन, राम के अग्नि-बाण से अंधकार दूर करने आदि के प्रसग समान है। लेकिन तुलसी ने युद्ध को अति संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है। दिलशाद ने रावण-पक्ष के योद्धाओं के बारी-बारी युद्ध स्थल में आने और मरने का उल्लेख किया है। मानस में सर्वप्रथम मेघनाद-लक्ष्मण युद्ध तथा मेघनाद की शक्ति से लक्ष्मण के मूर्च्छित होने का वर्णन है जब कि पंजाबी रामायण में इससे पूर्व सेनापति बृहस्त का उल्लेख भी है। उसके मरणोपरांत मेघनाद के युद्ध-स्थल में आने राम-सेना का पलड़ा भारी देख माया द्वारा आसमान में छुप सर्प-बाण छोड़ने और नागपाश से सम्पूर्ण राम सेना को, राम-लक्ष्मण सहित, मूर्च्छित करने का वर्णन है।[76] रावण द्वारा सीता को राम-लक्ष्मण को विस्मृत करने का आदेश, राम, लक्ष्मण के शव-दर्शनार्थ दासियों का पुष्पक विमान में बिठा सीता को युद्ध भूमि में ले जाने, सीता का विलाप, त्रिजटा राक्षसी की सहानुभूति तथा धैर्य देना, राक्षसियों द्वारा दोबारा अशोक बाग में सीता को पहुंचाना[77] आदि प्रसंग मानस में उपलब्ध नहीं हैं। मानस में लक्ष्मण-मूर्च्छा पर राम विलाप, हनुमान द्वारा लंका वैद्य सुषेण को निद्रावस्था में उठा लाना,[78] उसके बताने पर धवल गिरि पर्वत से औषधि लाने हेतु हनुमान का पदार्पण, कालनेमि द्वारा विघ्न स्थापना, हनुमान के हाथों उसकी मृत्यु तथा उसके उपरांत औषधि ज्ञान न होने के कारण पर्वत-शिखर सहित अयोध्या पर से हो लंका की ओर जाना, भरत द्वारा राक्षस समझ बाण-संधान और हनुमान का घायल हो गिर जाना, परिचयोपरांत भरत के बाण पर बैठ लंका पहुंचना,[79] जड़ी-बूटी सूंघ लक्ष्मण के स्वस्थ होने का वर्णन हैं। मानस में वर्णित लंका-वैद्य सुषेण को दिलशाद ने किष्किन्धा निवासी बताया है। सुषेण समुद्र-पार के पर्वत से बूटी मंगवाते हैं और उस बूटी को तीन-चार साधारण बन्दर ले आते है जिसे सूंघने से नागपाश से मूर्च्छित राम लक्ष्मण और सम्पूर्ण सेना स्वस्थ हो जाती है।[80] मेघनाद के नागपाश के उपरांत एक बार फिर रावण की शक्ति से लक्ष्मण के घायल होने, राम के क्रोधित हो रावण से युद्ध, रावण का पराजयोपरांत लंका वापस जाना, कुंभकरण-जागरण तथा उसके बाद क्रमशः कुंभकर्ण, रावण के चार पुत्रों, कुंभकर्ण पुत्रों—कुंभ, निकुंभ, खरपुत्र, मकड़ाछ आदि के युद्धभूमि में आने और मारे जाने का उल्लेख है। इसी प्रकार मंदोदरी का शोक, मेघनाद की शक्ति पूजा, लक्ष्मण सेना द्वारा यज्ञ-भंग, लक्ष्मण के साथ युद्ध में मेघनाद-भुजा के महलों में गिरने और लक्ष्मण द्वारा सिर काटने, सुलोचना के विलाप, रावण को सुलोचना की फटकार के उपरांत सिर लेने हेतु युद्ध-भूमि में आने का उल्लेख है। परन्तु राम उपदेश से प्रेरित सुलोचना सती न होकर पति का दाह-संस्कार कर लंका लौट जाती है।[81] यह दिलशाद का सती प्रथा के विरुद्ध एक सशक्त कदम है जो उस युग की देन कहा जा सकता है। यह मानस में उपलब्ध नहीं होता। रावण-वध, लक्ष्मण को रावण का उपदेश, रावण-अन्त्येष्टि, विभीषण-राजतिलक आदि प्रसंगों की उद्भावना एक ही आधारभूमि पर हुई है लेकिन अशोक-बाग से सीता को लाने, पंजाबी रामायण में विभीषण जाते हैं[82] और मानस में हनुमान।[83] इसी प्रकार सीता स्वीकारने से राम का इन्कार, सीता द्वारा अग्नि में दाह के लिए उद्यत होना और शिव का प्रकट हो सीता-सतीत्व की गवाही देना[84] प्रसंग पूर्णतया मौलिक है। मानस में राम, सीता की अग्नि परीक्षा स्वयं लेना चाहते हैं और अग्नि-प्रवेश करने पर सीता को अग्नि-देव लिए बाहर आते हैं।[85] सीता स्वीकारने के बाद पंजाबी रामायण में लंका-विचरण, रावण धनागार से सेना को पुरस्कार-वितरण, तथा विशिष्ट विमानों, हाथी, घोड़ों द्वारा सभी का अयोध्या के लिए प्रस्थान; पुष्पक से सीता को प्रकृति तथा विशिष्ट घटना स्थलों का निदर्शन, भारद्वाज ऋषि के आश्रम में पहुंचने, भरत को हनुमान द्वारा कुशलता का पूर्व संदेश देने भेजने, हनुमान के नदी गांव में जाने,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भरत द्वारा नगर सजाने का आदेश देने के प्रसंग एक से हैं परन्तु अयोध्या पहुंचने और परिवार-मिलन के स्थल पंजाबी-रामायण में युद्ध काण्ड में हैं, मानस में उत्तर काण्ड में। मानस में अयोध्या के करीब पहुंच, राम द्वारा पुष्पक को कुबेर के पास लौट जाने का आदेश,[86] परिवार-मिलन, राजतिलक तथा कुछ समयोपरांत सनकादि ऋषियों से मिलने, पारिवारिक जनों तथा पुरवासियों को इच्छित वस्तुएं दिला तुलसी ने सरयू किनारे राम का स्वर्गारोहण दिखा दिया है।[87] स्वर्गारोहणोपरांत काक-भुशुण्डी कथा, राम के अवतारवाद, लोमश ऋषि के शाप, गरुड़ को भक्ति और ज्ञान का उपदेश तथा मानस माहात्म्य के साथ मानस का समापन होता है लेकिन दिलशाद ने उत्तर काण्ड में वाल्मीकि रामायण के उत्तर काण्ड की कथा को संक्षेप में काव्यबद्ध किया है। प्रारम्भ में सुव्यवस्थित और खुशहाल राम-राज्य का वर्णन तथा उसके बाद उसी कथा को अपने ढंग से वर्णित किया है। 'दिलशाद' ने शूद्र तपस्वी की कथा में शूद्र को राम द्वारा मारने का उल्लेख न कर धमकाने का वर्णन किया है। शूद्र धन-सम्पत्ति ले घर लौट जाता है।[88] वाल्मीकि रामायण में लगे राम के चरित्र पर के इस कलंक को दिलशाद ने धो दिया है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मा के आदेशानुसार काल का तपस्वी रूप में राम से मिलन,[89] लक्ष्मण के पहरे में उससे बात करना, उसी समय दुर्वासा ऋषि के आने और शापित होने के भय से लक्ष्मण का गुप्त-परिचर्चा-गृह में रामाज्ञा उल्लंघन कर चले आना,[90] लक्ष्मण द्वारा प्राणदण्ड की इच्छा, राम द्वारा तर्कयुक्त क्षमा लेकिन ग्लानि-विगलित हो लक्ष्मण का प्रायश्चित हेतु सरयू में डूब मरने के प्रसंग दिलशाद की सर्जनात्मकता के मौलिक प्रतीक हैं। इसके पश्चात् सभी भाईयों तथा बेटों को राज्य वितरण कर सरयू नदी पर सीता सहित स्वर्गारोहण,[91] सभी पुरवासियों को स्वर्ग का नजारा देखना, ब्रह्मा के कई हजार विमानों में बैठ सभी पुरवासियों सहित स्वर्ग सिधारने[92] का उल्लेख दिलशाद ने किया है। काव्य के उपसंहार में कवि राम की महत्ता और अपना पूर्ण परिचय दे कर राम कथा का समापन कर देता है।[93]

उपर्युक्त विश्लेषण और विवेचन से दिलशाद की मौलिक परिकल्पनाएं स्पष्ट हो जाती हैं, हालांकि कवि ने स्वयं इस काव्य में कहा है कि अवकाश-प्राप्ति के बाद समय नहीं बीतता था सो उसने राम-काव्य लिखने की ठान ली। परन्तु समय बिताना ही तो कवि का अभीष्ट नहीं था। युग की परिस्थितियों की स्पष्ट छाप उस की लेखनी में देखी जा सकती है। भारतेन्दु-युगीन परिस्थितियों में कवि ने इस काव्य की रचना शुरू की और 1949 तक की सम्पूर्ण परिस्थितियों को इस काव्य के माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

अन्त में कहा जा सकता है कि कवि के सामने न तो आध्यात्मिक चेतना थी और न ही कोई विशिष्ट उद्देश्य। उसने मूलतः पंजाबीवासियों के लिए रामायण के कथ्य को प्रस्तुत करना ही अपना अभीष्ट माना है।

1. पंजाबी रामायण, आदिकाण्ड, पृ० 1/1-5
2. पंजाबी रामायण, आदिकाण्ड, पृ० 2/6-14, 15-18
3. पंजाबी में लिखित हीर रांझा, लैला मजनू आदि के किस्सों में प्रायः यह शैली मिलती है
4. राम चरित मानस, बालकाण्ड, पृ० 14-15

5-26. राम चरित मानस, बालकाण्ड, पृ० क्रमशः—23, 25, 28, 30, 31, 32, 36, 36, 39, 41, 42, 46, 54, 55, 58, 60; 64, 68, 77, 81, 82।

27. राम चरितमानस, बालकाण्ड, पृ० 92
28. पंजाबी रामायण, आदिकाण्ड, पृ० 31-32
29. पंजाबी रामायण, आदिकाण्ड, पृ० 29-30
30. पंजाबी रामायण, आदिकाण्डे, पृ० 36-38

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

31. पंजाबी रामायण, आदिकाण्ड, पृ० 35
32. राम चरित मानस, बालकाण्ड, पृ० 108
33. पंजाबी रामायण, आदिकाण्ड, पृ० 42
34. रामचरितमानस, बालकाण्ड, पृ० 115 1।238
35. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, 1।1, 2 49-50
36. पंजाबी रामायण, अयोध्याकाण्ड, पृ० 55-56
37. पंजाबी रामायण, अयोध्याकाण्ड, पृ० 70
38. पंजाबी रामायण, अयोध्याकाण्ड, पृ० 86-87
39. पंजाबी रामायण, अरण्यकाण्ड, पृ० 125
40. रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, 3।1,2
41. रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, 3।7
42. रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, 3।24
43. पंजाबी रामायण, अरण्यकाण्ड, पृ० 156-157
44. पंजाबी रामायण, किष्किन्धाकाण्ड, पृ०-182.।4।165।
45. रामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्ड, पृ० 323, 4।11।
46. पंजाबी रामायण, किष्किन्धाकाण्ड, पृ० 183 4।173।
47. रामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्ड, पृ० 323, 4।12।
48. पंजाबी रामायण, किष्किन्धाकाण्ड, पृ०-185।4।190-191।
49. पंजाबी रामायण, किष्किन्धाकाण्ड, पृ०-189-190।
50. रामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्ड, पृ० 328, 4।23।
51. रामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्ड, पृ० 328, 4।24।
52. पंजाबी रामायण, किष्किन्धा काण्ड, पृ०-190।4।149।
53. पंजाबी रामायण, किष्किन्धाकाण्ड, पृ०-192।
54. रामचरितमानस, सुन्दर काण्ड, पृ० 335,
55. रामचरितमानस सुन्दर काण्ड, पृ० 337, 5।4।
56. पंजाबी रामायण, सुन्दर काण्ड, पृ० 195।-5।7।
57. पंजाबी रामायण, सुन्दर काण्ड, पृ० 197।-5।29।
58. पंजाबी रामायण, सुन्दर काण्ड, पृ० 198।-5।37।
59. रामचरितमानस, सुन्दर काण्ड, पृ० 338।
60. रामचरितमानस सुन्दर काण्ड, 5।58-59।
61. रामचरितमानस सुन्दर काण्ड, पृ० 340, 5।10
62. पंजाबी रामायण, सुन्दर काण्ड, पृ० 201।-63-66,।
63. रामचरितमानस, सुन्दर काण्ड, पृ० 341, 5।12।
64. पंजाबी रामायण, सुन्दर काण्ड, पृ० 202-203।5।82-84।
65. पंजाबी रामायण, सुन्दर काण्ड, पृ० 204।5।97,103।
66. रामचरितमानस सुन्दर काण्ड, पृ० 347, 5।27।
67. रामचरितमानस, लंका काण्ड, पृ० 356
68. रामचरितमानस, लंका काण्ड, पृ० 363
69. रामचरितमानस, लंका काण्ड, पृ० 363,
70. रामचरितमानस, लंका काण्ड, पृ० 366
71. रामचरितमानस, लंका काण्ड, 6।13,
72. रामचरितमानस, लंका काण्ड, पृ० 328
73. पंजाबी रामायण, युद्ध काण्ड, 243।6।202, 203।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

74. पंजाबी रामायण, युद्ध काण्ड, 244।6।211,
75. रामचरितमानस, लंका काण्ड, पृ० 387
76. पंजाबी रामायण, युद्ध काण्ड, 294।6।700,
77. पंजाबी रामायण, युद्ध काण्ड, 246।6।227-228 ।
78. पंजाबी रामायण, युद्ध काण्ड, 287।6।631.
79. पंजाबी रामायण, युद्ध काण्ड, 306।6।815-186 ।
80. रामचरितमानस, लंका काण्ड, पृ० 418
81. पंजाबी रामायण, युद्ध काण्ड, 308।6।837.
82. रामचरितमानस, लंका काण्ड, पृ० 419
83. रामचरितमानस, उत्तर काण्ड, पृ० 425
84. रामचरितमानस उत्तर काण्ड, पृ० 452
85. पंजाबी रामायण, उत्तरकाण्ड, 355।7।276-278 ।
86. पंजाबी रामायण, उत्तर काण्ड, 373।7।451
87. पंजाबी रामायण, उत्तर काण्ड, 374।7।465
88. पंजाबी रामायण, उत्तर काण्ड, 377।7।-490-496 ।
89. पंजाबी रामायण, उत्तर काण्ड, 381।7।-538 ।
90. पंजाबी रामायण, उत्तर काण्ड, 381।7।-539-540 ।
91. पंजाबी रामायण, उत्तर काण्ड, 372।7।-548-558 ।
92. पंजाबी रामायण उत्तर काण्ड पृ. 381।7/532-540
93. पंजाबी रामायण उत्तर काण्ड पृ. 382, घ/552-558

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीमती आर० कामेश्वरी
शोध-छात्रा
आंध्र यूनिवर्सिटी
वाल्तेयर

आंध्र वाग्गेयकार श्री शिवनारायण तीर्थुलु : कृतित्व एवं व्यक्तित्व

गीति काव्य परंपरा—संगीत और साहित्य सरस्वती की दो विधाएं हैं। संगीत आपात-मधुर है, तो साहित्य आलोचनामृत है। संगीत ताल, लय प्रधान होता है। संगीत की शक्ति अनुपम है जैसा कि—

"शिशुर्वेत्ति, पशुर्वेत्ति, वेत्ति गानरसं फणि: ।।"

भारत में संगीत की परंपरा अत्यन्त प्राचीन एवं धार्मिक है। इस परंपरा का विकास अनेक युगों में विभाजित है—सामगान युग, गांधर्व युग, आख्यान युग, ध्रुवागान युग, राग-काव्य युग, गीति गोविन्द युग, देशी भाषा में संकीर्तन युग, यक्षगान युग, धातु-कल्पना युग, सभा-संप्रदाय युग, हरि-कथा युग आदि।

शार्ङ्गदेव ने अपने 'संगीत रत्नाकर' में वाग्गेयकार के लक्षणों को यों बताया—

"वाङ् मौतु रुच्यते गेयं धातु रित्याभि-धीयते

वाचं गेयं च कुरुते च: स: वाग्गेय-कारक: ।"

वाग्गेयकार शब्द 'बयकार' का पर्यायवाची शब्द है। 'धातु' और 'मातु' (उभय) दोनों को अच्छी तरह जानने वाला उभयकार है। इस उभयकार से 'उ' का लोप होकर, और महाप्राण अक्षर 'भ' अल्पप्राण अक्षर 'ब' में बदल गया। वही 'बयकार' कहकर पुकारा जा रहा है। गीति-काव्य परंपरा में यक्षगान को 17 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में साहित्यिक स्तर एवं समाज में उचित आदर मिला। इस परंपरा का आरम्भ प्रख्यात संगीतकार ताल्लपाक अन्नमाचार्य से हुआ और राम दास, सुब्रह्मण्य, नारायणातीर्थुलु, क्षेत्रय्या, त्यागराज आदि की संगीत-सुधा से पल्लवित एवं पुष्पित हुआ इनमें 'नारायणतीर्थुलु' ने संकीर्तन पद्धति में भक्ति-रस एवं आध्यात्मिक भावना को मिलाकर अपने युग में विशिष्ट लक्षणों में यक्षगानों की रचना की। इनकी 'श्री कृष्ण लीला तरंगिणी' संस्कृत की एक अनुपम एवं अपूर्व कृति है। इन्होंने यक्षगानों की ही नहीं और भी अनेक ग्रन्थों की रचना की। सिदेंद्रयोगी ने 'भामाकलापम्' नामक यक्षगान की रचना की। इन यक्षगानों को 'कूचिपूडि' नाटककार ने आज भी प्रदर्शित किया करते हैं।

संक्षिप्त जीवनी—श्री नारायण तीर्थ की जन्म तिथि ई० 1580 मानी जाती है। पंडितों में इसके संबंध में मत-भेद हैं। पूर्वाश्रम में इनका नाम गोविन्द शास्त्री था। वे आन्ध्र-ब्राह्मण थे। इनका वंश 'तल्लावभभुल' था जिसका अर्थ है 'ज्ञानी पंडित'। 'तीर्थुलु' के जन्म-स्थान के बारे में पंडितों में कई मत प्रचलित हैं। इन्होंने कृष्णा तट में स्थित गुरुकुल में ही अध्ययन किया। षट्शास्त्र संगीत साहित्य में ये प्रकांड पंडित बन गए। इनका विवाह 'अच्युतम्मा' से हुआ। एक बार जब वे अपने ससुराल, जो कृष्णा नदी के दूसरे तट पर स्थित है, जा रहे थे तब बीच नदी में एक बड़े प्रवाह ने आकर उन्हें ढकेल दिया। उस समय उन्होंने अपना जनेऊ तोड़कर शिखा को काट-फेंक कर संन्यास ग्रहण कर लिया और भगवान की प्रार्थना की। इतने में उनको तैरने के लिए कुछ सहारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिला। ससुराल पहुंचकर, वे अपनी पत्नी से सब कुछ कहकर काशी चले गए। कहा जाता है इन्होंने कंचि में 'शिवरामानन्द' के शिष्य बनकर संन्यासाश्रम को स्वीकार किया। तब से इनका नाम 'शिवनारायण तीर्थुलु' हो गया। यही नहीं, इनको शिव और नारायण दोनों पर समान रूप से भक्ति और विश्वास था। बाद में इन्होंने काशी में रहकर ब्रह्म-विद्या का प्रचार अधिक किया। वहीं ठहर कर उन्होंने 'शांडिल्य भक्तिसूत्र व्यवस्था,' 'पूर्व मीमांसा' नामक ग्रन्थ लिखे। काशी से लौटते समय 'तीर्थ' ने अनेक पुण्य-स्थलों का दर्शन किया। दक्षिण में वरहूर में देवालय की प्रतिष्ठा करायी। 'परिणामशूल' नामक व्याधि का उन्मूलन करने के लिए उन्होंने चालीस दिन 'नरसिंह स्वामी' का प्रदक्षिण किया। बाद में सिद्धेन्द्र योगी से भेंट हुई। 'तीर्थ' ने संस्कृत में 'श्री कृष्ण लीला तरंगिणी' यक्षगान के अलावा तेलुगु में 'पारिजातापहरणम्' नामक यक्षगान की भी रचना की है। 'तीर्थ' बहु-श्रुत थे। वे लोक एवं शास्त्र के समन्वयवादी थे। एक ओर वे दर्शन ग्रन्थों की व्याख्या करते थे तो दूसरी ओर लोक-प्रिय यक्ष गानों का प्रणयन करने में कुशल थे। उनकी कृतियों में उल्लेखनीय हैं यक्षगान, टीका टिप्पणी, व्याख्याएं, पूर्व मीमांसा ग्रन्थ, तर्क शास्त्र संबंधी ग्रन्थ आदि। प्राचीन संस्कृत कवियों के समान इन्होंने भी अपनी व्याख्याओं का चंद्रिका नाम रख दिया है। इससे यह स्पष्ट है कि इनकी व्याख्या सरल; सुबोध एवं आह्लादकारिणी है।

कृष्ण लीला तरंगिणी : एक विवेचन —श्री कृष्ण लीला तरंगिणी, संस्कृत में विरचित संगीत रूपक है। इसका काव्य-सौष्ठव, पदलालित्य सहृदयों के हृदय को आकर्षित करता है। इसमें वर्णित 'दरुवु' श्लोक, गद्य, कीर्तन आदि से यह 'यक्षगान' की कोटि में आ सकता है। इसकी भाषा इतनी सरल है कि तेलुगु में साधारण परिज्ञान रखने वाले भी इसे समझ सकते हैं। श्रीकृष्ण की लीलाओं को तरंगों में मिलाने के कारण इसका नाम श्री कृष्ण लीला तरंगिणी' पड़ा। 'श्री मद्भागवत' में जिस प्रकार बारह स्कन्ध हैं, उसी प्रकार इसमें भी बारह 'तरंगें' हैं। इस काव्य के कथानक की सूचना कवि ने यों दी है—

"वासुदेवे भगवति भक्ति प्रवणमाधिया
व्यज्यते भक्ति साराध्या कृष्णलीला तरंगिणी।"

और ग्रन्थ के अन्त में फलश्रुति की सूचना यों दी गयी है—

"कामदा कामिनामेषा, मुमुक्षुणां च मोक्षदा,
श्रुण्वतां, गायतां भक्त्या कृष्णलीला तरंगिणी।"

अर्थात् भक्तिपूर्वक जो इसका श्रवण व गायन करते हैं उन्हें कामी लोगों की कामनाओं की पूर्ति और मोक्षार्थियों को मोक्ष उपलब्ध होता है।

यह ग्रन्थ लीलाशुक विरचित 'कृष्णकर्णामृतम्' और जयदेव विरचित 'गीतगोविन्द' आदि काव्यों की कोटि के अन्तर्गत है। गीत गोविन्द के समान ही यह काव्य संगीत-साहित्य से विलसित होते हुए, रंगमंच पर प्रदर्शित करने के लिए उपयुक्त रूपक है। 'गीत गोविन्द' राधा-कृष्ण की प्रणयलीलाओं का श्रृंगार रस-पूर्ण गीति-काव्य है तो यह 'कृष्णलीला तरंगिणी' भक्ति-रस-प्रधान काव्य है। इसकी कथा श्री कृष्ण के जन्म से प्रारम्भ होती है। राक्षसों का वध, गौओं का पालन, कालियमर्दन, गोपी-वस्त्रापहरण, गोपियों को आध्यात्मिक तत्व के बारे में कहना, रास लीला, अक्रूर के साथ कृष्ण का मथुरा जाना, कंस-वध, उद्धव-संदेश और अन्त में रुक्मिणी-विवाह से कथा का अन्त होता है।

कृतिकार श्री 'तीर्थ' ने पहले मंगलाचरण में विघ्ननिवारण के लिए इष्ट देवी-देवताओं की स्तुति करते हुए विघ्नेश्वर (गणेश) की प्रार्थना की है। इसके बाद कथावस्तु की सूचना के अनन्तर यक्ष-गान का प्रारम्भ 'उग्रसेन' का प्रवेश 'दरुवु' से होता है। रंगमंच पर पात्र का प्रवेश नाट्यशास्त्र के अनुसार ही 'तीर्थ' ने करवाया। कृष्णावतार संबंधी कथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी 'दरुवु' में वर्णित है। प्रथम तरंग में श्री कृष्णावतार का प्रयोजन सूचित है। द्वितीय तरंग में श्री कृष्ण की बाल लीलाओं का मनोरम वर्णन है। गोपियां कृष्ण की कई शिकायतें यशोदा से यों करती हैं—

'कलय यशोदे तव बालं, खल बालक खेलन लोलं
अपहृत बहुतर नवनीतं, अनुपम लीला नटनाकृतं

हे यशोदा ! अपने पुत्र को देखो। दुष्ट बालकों के साथ मिलकर खेल रहा है। मक्खन की चोरी कर रहा है। इसकी लीलाओं और अद्भुत कार्यों को देखने पर सामान्य बालक के समान नहीं जान पड़ता है। हमेशा सोने के गेंद से खेलता है।

पंचम तरंग में गोपियों का वस्त्रों को चुराने का वर्णन है। उस समय कृष्ण और गोपियों के बीच में जो संवाद हुआ है वह शृंगार-प्रधान न होकर आत्मबोध-परक रहा है। 'अन्नमाचार्य' के समान ही तीर्थ ने भी इस संवाद-शैली को अपनाया—

कृष्ण: आवरणं मम नहि ते दातु
भावय गोप वधू जन वृन्द
गोव्य: देव यादावरणं मम नीतं
देहि विभी भवता तदनंत

इस संवाद में यहां 'आवरणं' शब्द का अर्थ है पर्दा और माया का अवगुंठन। यहां कृष्ण गोपियों को 'वस्त्रावरणं' नामक माया या अहंकार को छोड़ने को कहते हुए अद्वैत-तत्व का उपदेश देते हैं। इस 'तरंगिणी' में 'भागवत्' की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और विशद रूप से इसका वर्णन करके 'तीर्थ' ने अपने आध्यात्मिक ज्ञान को उसमें घुलामिला दिया। और एक जगह जब गोपियां कृष्ण से मिलने के लिए उत्सुकता के साथ रात को अपने अपने घरों से निकलकर चली आती हैं तो कृष्ण उनको उपदेश देते हुए कहते हैं—

"वल्लवांगना मा कलयत धर्मोल्लंघन।
वल्लवांगना निजवल्लभ पदयुग
पल्लवसेवन मेव परो धर्मो।"

अर्थात्—हे गोपियों ! तुम लोग धर्म का उल्लंघन मत करो। अपने-अपने पतियों के चरणों की सेवा करना ही तुम पत्नियों का परम धर्म है।

रास-लीला के समय भी अद्वैतवाद का उपदेश देते हैं। कृष्ण कहते हैं—जिस प्रकार एक घड़े का उत्पत्ति के पहले, बाद में और नाश होने के समय भी, मूल मिट्टी ही है, उसी प्रकार इस संसार में सृष्टि, स्थिति, लय के समय, मूल में, मैं ही हूं। यहां वेदों और उपनिषदों का सार बताया गया है। वेदों में गुरुओं के प्रति अत्यन्त भक्ति तत्पर होते हुए मुमुक्षु उनके उपदेशों के अनुसार इस संसार की 'उत्पत्ति' कहां हुई है ? 'स्थिति' के समय इसका आधार क्या है ? 'लय' के बाद यह कहां जायेगा ? आदि विषयों पर विचार-विनिमय करने पर भी बहुत समय तक उस 'पर ब्रह्मतत्व' को समझ नहीं पाते। पंच कोशों के मध्य से अत्यन्त सूक्ष्म रूप धारण करके दर्शन के अलावा और किसी को यह दृष्टि गोचर नहीं होता। अत: इस परब्रह्म स्वरूप का ध्यान करना भी अत्यन्त कठिन है। यहाँ ये गोपियाँ अपनी सुकृति के कारण उस परमात्मा को आंखों से भरपूर देख रही हैं। उनके साथ वन में विचरण कर रही है। इस प्रकार तत्वबोध, उपनिषदों का बोध, अद्वैतवाद का बोध का सुन्दर ढंग से 'तीर्थ' ने, श्री कृष्ण के द्वारा, गोपियों को उपदेश दिलाया है। बाद में उद्धव कृष्ण का संदेश लेकर गोपियों के पास आता है तो उसे गोपियों का खरी-खोटी सुनना पड़ती है। इस प्रकार 'भ्रमर गीत' का भी इसमें वर्णन है।

'तीर्थ' ने तेलुगु में 'पारिजातापहरणम्' नामक यक्षगान की भी रचना की है। लेकिन यह अप्रकाशित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। कहा जाता है तंजावूर के ग्रन्थालय में एक ताल-पत्र प्रति, और मेलटूर के भागवतों के पास एक प्रति हैं। इसका प्रारम्भ 'कृष्णलीला तरंगिणी' के समान ही हुआ है । पारिजातापहरण के 'दरुवु' के लिए शंकराभरण, घंटा, अहिरि, मध्यमावती, पुन्नागवरालि बौलि आदि रागों का प्रयोग किया गया है ।

तुलनात्मक अध्ययन—'नारायण तीर्थ' के समान ही 'लीला शुक' भी संस्कृत के भक्ति कवि हैं। उनका 'श्री कृष्ण कर्णामृतम्' कृष्ण-काव्य परंपरा का प्रमुख स्रोत -काव्य है । इसमें इष्टदेव श्री कृष्ण के गुण-गान का सांगोपांग वर्णन सुरुचि-पूर्ण शैली में मिलता है । स्तोत्र-लेखक अपने आंतरिक विचारों को निर्भीकता से व्यक्त करते हैं और अपनी दीनता को, इष्टदेव से मिलने की उत्कृष्ट आकांक्षा को और भक्त स्वरूप में विलीन हो जाने की आतुरता को बहुत ही करुणामय शब्दों में प्रकट करता है। स्तोत्र-साहित्य की परंपरा आज तक संस्कृत साहित्य में विद्यमान है। 'कृष्ण लीला तरं-गिणी' कृष्ण-चरित संबंधी काव्य है । 'कृष्ण कर्णामृतम्' की कथा भी कृष्ण-चरित से संबंधित है। दोनों काव्यों में अनेक साम्य पाये जाते हैं। इसका कारण वस्तुचयन का एकाधार हो सकता है और दोनों भक्त-कवि हैं ।

कृष्ण के मुख में विश्वरूप का दर्शन दोनों कवियों ने यों किया—

'व्यादेहीति विहारिते शिशुमुखे दृष्ट्वा समस्तं
जगन्माता यस्य जगाम विस्मय पदं पायान्स नः
केशवः''

(कृष्ण कर्णामृतम्)

'यशोदामया दिन मुखविदारणां कुर्वन्ति तस्मिन्
सकलमपि जगदंडमाक्रमानं सविस्मय मालोकयाभास'

(कृष्णलीला तरंगिणी)

इसी प्रकार कृष्ण के रूप है वर्णन में भी साम्य है। 'लीलाशुक' ने इसे यों किया है—

'कस्तूरी तिलकं ललाट फलके वक्षः स्थले कौस्तुभं
नासाग्रे नवमौक्तिकं करतले वेणुं करे कंकणम् ।'

'तीर्थ' ने इसे यों किया—

आलोकये श्री बालकृष्णं सखि

आनन्द सुन्दर तांडव कृष्ण ।

चरण निक्वणित नूपुर कृष्णं कर

संगत कनक कंकण कृष्ण ।।

किंकिणी जल घणघणित कृष्णं लोक

सुन्दर नासामौक्तिक शोभित कृष्ण नन्द ।

'तीर्थ' जी 'रासलीला' वर्णन करते समय शृंगार रस की पुष्टि करने के अतिरिक्त उसे भक्ति रस से भर देते हैं। तात्त्विक चिंतन का शृंगारिक विषयों पर आरोप करना इनकी अपनी एक विशिष्टता है ।

इस प्रकार 'लीलाशुक' और 'नारायण तीर्थ' दोनों कृष्ण भक्त हैं। दोनों संस्कृत कवि हैं। दोनों कृष्ण-भक्ति से अनुप्राणित वाग्गेयकार हैं ।

भावपक्ष एवं कलापक्ष—साधारणतः शिव नारायण तीर्थ जी के पदों में भावुकता की प्रधानता रहती है। भावात्मकता की अधिकता होने पर भी यहाँ उपलब्ध भाव-परंपरा फीकी और नीरस नहीं दिखाई पड़ती है जिसके कारण इनकी रचनाओं में साहित्यिकता अधिक मात्रा में पायी जाती है। भावात्मकता की प्रचुरता होते हुए भी तात्विक चिंतन का आभास मिलता है । भाव-पक्ष का प्रधान अंग 'रस' विवेचन है। 'तीर्थ' जी की कृतियों में, उपनिषदों में, ब्रह्मसूत्रों आदि में निष्पन्न ज्ञान, वैराग्य, चिंतन, अद्वैतवाद, परतत्ववाद आदि से भरे रहने के कारण रस परिपाक उतना परिलक्षित नहीं होता है । इसका कारण यही हो सकता है कि 'तीर्थ' जी साधारण विषय-वासनायुक्त इस संसार से दूर होकर संन्यासी बन गये ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिर भी इनकी कृति में सभी रसों की थोड़ी-बहुत छाप तो अवश्य पड़ी है।

भाषा—भावों को सुष्ठु रूप में अभिव्यक्त करने के लिए विशिष्ट भाषा आवश्यक है। 'तीर्थ' ने आन्ध्र भाषा-भाषी होते हुए भी केवल एक ही कृति—'पारिजातापहरणम्' को ही तेलुगु में लिखा और अन्य सभी कृतियों की रचना संस्कृत में की। इससे यह विचार करना गलत है कि उनका अपनी भाषा के प्रति विरोध है। संस्कृत पंडितों की भाषा है, जो भारत में तत्कालीन समाज की आदान-प्रदान की भाषा होती थी। अगर तेलुगु में ही 'तीर्थ' जी लिखते तो केवल आन्ध्र-प्रांत के लोग ही इससे लाभान्वित होते। सारे भारतवासियों तक अपने चिंतन को ले जाने के लिए उन्होंने संस्कृत भाषा को माध्यम के रूप में अपनाकर श्लाघ्य कार्य किया है।

शैली—शैली, काव्य के बाह्य रूप को अलंकृत करने के अतिरिक्त, व्यक्तिगत अनुभूतियों की स्पष्ट व्यंजना भी करती है। 'तीर्थ' जी 'कृष्णलीला तरंगिणी' में 'गेय' शैली को अपनाते हैं। इनमें कहीं-कहीं वे संवाद-शैली को अपनाते हैं। इनके कुछ काव्य चंपू-पद्धति में भी लिखे गये हैं। उनकी कथन-शैली में उक्ति-वैचित्र्य का भी पुट मिलता है। इनकी शैली सफल और प्रभावोत्पादक है।

अलंकार—अलंकार साहित्य का आभूषण है जिससे साहित्य की शोभा बढ़ती है। 'तीर्थ' जी के साहित्य में प्रयत्न-पूर्वक अलंकारों की योजना नहीं मिलती। उनके भाव सहज ही अलंकृत होकर मूर्त्त हो उठे। कहीं भी अनावश्यक अलंकारों से काव्य को बोझिल नहीं किया। इनके काव्यों में शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों का सुन्दर समावेश पाया जाता है। रूपक, यमक, श्लेष, प्रतीप, समासोक्ति, अनुप्रास, पुनरुक्ति, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों से काव्य सुसज्जित है।

छंद—इनके काव्यों में प्रयुक्त छंदों के संदर्भ में तेलुगु वातावरण का आभास दिखाई पड़ता है। अन्त्यप्रास, प्रास नियम इसके उदाहरण है। इनके काव्य में प्रास, यति, अनेक पंक्तियों दिखाई पड़ती हैं। तेलुगु काव्यों के सुप्रसिद्ध 'द्विपद' छंद का भी प्रयोग इनके काव्यों में मिलता है।

संगीत—भारतीय संगीत आत्मा से अनुप्राणित है। संगीत में नादोपासना के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग सूचित होता है। वेदों की तरह संगीत भी मौखिक रूप से ही परंपरागत होता आया है। विविध भावों को व्यक्त करने के लिए विविध रागों को कवि अपनाता है। लय, ताल, राग, शृति की प्रधानता पायी जाती है। 'तीर्थ' जी ने अपने कार्यों में ऐसी विशिष्ट पद्धति को अपनाकर उन्हें अमर बनाया। इन्होंने अपने यक्षगानों में कीर्तन, श्लोक, दरुवु द्विपद, गद्य आदि का प्रयोग किया। दक्षिण के सभी प्रमुख रागों को इन्होंने अपने कीर्तनों में अपनाने का प्रयत्न किया। यों इनकी कृति संगीत, साहित्य और नाट्य की पावन त्रिवेणी बनी है।

प्रकृति वर्णन—'तीर्थ' जी अपने काव्यों में तात्विक चिंतन के द्वारा गहरी अन्तस्थ स्थितियों तक जाते हुए भी प्रत्यक्ष अनुभूतियों से दूर न जाकर दृश्यमान प्रकृति से चिर परिचित होने का परिचय देते हैं।

निष्कर्ष—भारत देश के वाग्गेयकारों में शार्ङ्गदेव, जयदेव, सूरदास, लीलाशुक, अन्नमाचार्य, क्षेत्रय्या, शिवनारायण तीर्थ, त्यागराज स्वामी, रामदास, सारंगपाणी आदि गणनीय है। उनमें आन्ध्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तमिल, केरल, कर्नाटक प्रदेशों में कोई ऐसा संगीतज्ञ नहीं होगा जिसने 'तीर्थ' के तरंगों को न गाया हो, न सुना हो। 'तीर्थ' जी दर्शन-शास्त्र संबंधी ग्रन्थों की भी रचना करके अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा का परिचय देते हैं। उनका साहित्यिक व्यक्तित्व 'श्रीमद्भागवत्', श्री कृष्णकर्णामृतम् 'गीत गोविन्द' आदि से प्रभावित हुआ है। इसके बाद इनके व्यक्तित्व का प्रभाव परवर्ती वाग्गेयकारों पर भी पड़ा है। इनके आध्यात्मिक भाव से उदात्त बनकर इनको 'संकीर्तन यज्ञगान सार्वभौम' के उच्च पद पर बिठा दिया है।

CC-0. In Public Domain, Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राकेश प्रेम
1026, कटरा व कूचा
भाई सन्तसिंह,
अमृतसर (पंजाब)

राजनीति से मोहभंग की कविता

राजनीति आधुनिक जन-समाज की वह मुख्य धुरी है जो कि जन-कल्याण अथवा जन-विनाश के लिये एक समुचित अस्त्र का रूप है। राजनीति का जनहित में स्थानान्तरित होना, 'जननीति' बनना आज के प्रजातान्त्रिक समाजों की मुख्य अनिवार्यता है किन्तु यह राजनीति जब विषकन्या बनकर व्यक्तिगत हितों में स्थानान्तरित हो जाती हैं तब अन्य रूढ़ियों और जड़ परम्पराओं की ही भांति उसके प्रति जन-जीवन में विद्वेष का होना अवश्यम्भावी है। और इसका परिणाम है कुण्ठा, आत्म-विगर्हणा, व्यंग्य और विद्रूपता का जीवन और मानवीय सम्बन्धों से साक्षात्कार तथा मनुष्य के अस्तित्व का संकट (अस्मिता का संकट)।

स्वतन्त्रता के उपरान्त हमारे देश में स्वदेशी शासन स्थापित हुआ। इससे जन-जीवन में 'अपना देश, अपना वेश और अपनी भाषा' का स्वप्न साकार होने की भावना बलवती हुई। यह आस्था औचित्य-पूर्ण थी। वह इसलिये कि स्वतन्त्रता के पूर्व पंडित जवाहर लाल नेहरू ने रावी-तट पर 'पूर्ण स्वतन्त्रता' का जयघोष किया था। महात्मा गांधी ने 'स्वभाषा, स्ववेश' के प्रति जागरूक रहकर 'स्वदेश' के प्रति उत्कट लालसा के अंकुर जन-मस्तिष्क में गहरे बो दिए थे। स्वतन्त्रता के उपरान्त यह अवश्यम्भावी था कि राजनीति जनता के हित में स्थानान्तरित हो। जन-समाज की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति सरकार करे। पराधीनता के दो सौ वर्षों में खण्डित हुए राष्ट्रीय गौरव को पुनः जन-संस्कृति के माध्यम से स्थापित किया जाए। यह सब न हो सका। वह इसलिये कि सत्ता का उपयोग एक वर्ग विशेष तक सीमित हो गया। समाजवादी अर्थ-व्यवस्था के स्थान पर पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था को अधिमान दिया गया। नेतागीरी तथा लाल फीता-शाही के सम्मिलित गठजोड़ ने पूंजीवाद को अनावश्यक विस्तार देकर जन-सामान्य की आवश्यकताओं तथा लालसाओं पर कुठाराघात किया। आजादी मात्र अन्धेरे के लेन-देन में आकार लेती रही अर्थात् चोरी-डकैती के अर्थ में परिवर्तित हो गई :

> "आजादी जब अंधेरे के लेन-देन में आकार लेती है। तो वह व्यक्तिगत फायदों के बाबत। सार्वजनिक सेवा में। लघु कार्यक्रम के बहाने एक डकैती है।"[1]
>
> (नाटक जारी है)

जन-प्रतिनिधित्व का दावा करने वाले संगठन भी 'लघु कार्यक्रम के बहाने एक डकैती' ही कर पाए। अतः जन-सामान्य का राजनीति से मोहभंग समय-गत अनिवार्यता के रूप में उजागर हुआ। कुण्ठा, व्यंग्य, आक्रोश, भ्रष्टाचार आदि के सन्दर्भ में राजनैतिक अवमूल्यन की व्यापक प्रतिक्रिया साठोत्तरी लम्बी कविताओं में व्यक्त हुई है। ये कविताएं समकालीन राजनीति की क्रूरताओं और विषम हथकंडों का स्पष्ट दिग्दर्शन कराती हुई उसके नग्न स्वरूप को साकार करती हैं।[2]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अन्धेरे में' राजनीति के दुधारेपन का साक्षात्कार 'चमकदार सांपों की उड़ती हुई लगातार लकीरों की वारदात के रूप में सत्ता के समर्थकों के आतंकमय जुलूस से होता है। शोषित और असहाय लोगों की 'आंतों के जालों से' विनिर्मित बाजे भयंकर नाद से वातावरण में आतंक की सृष्टि कर रहे हैं। इस अन्धकारमय जुलूस के अंग-रूप में नगर के प्रतिष्ठित पत्रकार, प्रकाण्ड आलोचक, विचारक, कवि-गण, मन्त्री, उद्योगपति तथा कर्नल ब्रिगेडियर, जनरल, मार्शल आदि सभी शामिल हैं। 'संगीन-नोकों का चमकता जंगल' जुलूस के साथ-साथ चल रहा है ताकि उनके अन्तर्मन में छिपे हुए राक्षसी स्वार्थ का साक्षात्कार कर लेने वालों को संगीन की नोकों तथा पिस्तौल की गोलियों से छलनी किया जा सके। दमन-चक्र में विश्वासी सत्ता के जासूस किसी भी विवेकशील व्यक्ति के जागरित विवेक की गन्ध पाते ही उसे धर दबाते हैं। प्रतिशोध की इस कुत्सित प्रवृत्ति का शिकार 'मैं' भी हो जाता है। उसे निर्दयता तथा क्रूरता से पकड़ कर 'अंधियारे कमरे के स्याह सिफर' में लाया जाता है तथा मानसिक यन्त्रणा के द्वारा उसके विवेक को जड़ता में परिवर्तित करने की चेष्टा की जाती है। विद्रोह की चेतना के साथ 'मैं' राजनीति के जनहित में स्थानान्तरण के लिए देश की राजनैतिक परिस्थिति प्रत्येक मानव-आदर्श तथा प्रत्येक गतिविधि से साक्षात्कार का प्रयास करता हुआ वैचारिक क्रान्ति के उद्घोष के प्रति समर्पित हो जाता है :

"अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होंगे।
तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब पहुचना होगा दुर्गम
पहाड़ों के उस पार—तब कहीं देखने मिलेंगी बाँहें
जिसमें कि प्रतिपल कांपता रहता अरुण कमल
एक...[3]

(अन्धेरे में)

'शहरों में राजनीतिक वेश्याओं ने' अपनी बदचलनी का 'पीला मटमैला अन्धेरा फैला रखा है।' यौनाचार को आश्रय देने वाली 'देह की राजनीति' में लिप्त सरकार सजग नागरिकों की हंसी पर प्रतिबन्ध लगा देती है। अराजकता के इस वातावरण में चारों तरफ अव्यवस्था का साम्राज्य है। उद्घाटन समारोह और शिलान्यास नेताओं का धर्म बन गए हैं। इस व्यवस्था में व्यक्ति का अस्तित्व असुरक्षित है। उसे इस धरती से आदमी को हमेशा के लिए खत्म कर देने की साजिश' में सम्मिलित नहीं रहना चाहिए तथा दूर कहीं असभ्य समझे जाने वाले लोगों के गिरोह का अंग बन जाना चाहिए जो कि मानवता के लिए इतने घातक नहीं हैं।

"आदमी को इस लोकतन्त्री संसार से अलग
हो जाना चाहिए।
चले जाना चाहिए कस्साबों गाँजाखोर साधुओं
भिखमंगों अफीमची रंडियों की काली और
अन्धी दुनिया है।
अधजली लाशें नोचकर
खाते रहना श्रेयस्कर है जीवित पड़ोसियों को
खाने से।[4]

(मुक्ति प्रसंग)

आजादी और गान्धी के नाम पर चल रहे अर्थहीन मुहावरे की समझ आ जाने पर, अपर्याप्त राष्ट्रीयनीतियों, चुनाव के हथकण्डों, भ्रष्ट नेताओं, निरर्थक वायदों और विवादों ने सामान्यजन को आजादी के पुनर्मूल्याँकन के लिये विवश कर दिया है :

...क्या आजादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का
नाम है—जिन्हें एक पहिया ढोता है—या इसका
कोई खास मतलब होता है...

(बीस साल बाद)

यह इसलिए कि सत्ता के अव्यावहारिक हथकंडों के कारण 'योजनाएं चलती रहीं। बन्दूकें के कारखानों में—जूते बनते रहे' संशय ने जब भी कोंचा, सही सन्दर्भों को 'शब्दों के जंगल में' हत्या के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिये छोड़ दिया गया। अनाज के गोदाम भरे होने पर भी लोग भूखे मरते रहे। 'जनतन्त्र, त्याग, स्वतन्त्रता' और 'सस्कृति, शान्ति, मनुष्यता' थोथे नारे बनकर रह गए। चुनाव की होड़ में 'कम से कम बुरे' को चुनते हुए भी उचित जन प्रतिनिधित्व प्राप्त न हुआ। 'दान्तों तथा दलदलों के दलाल' देशभक्त कहलाते रहे। जनता अपनी पीठ पर नेताओं के लिये अन्न ढोती रही। जनतांत्रिक जंगल में हरे-हरे हाथ पेड़ों पर पत्तों की जुबान बनकर लटकते रहे। अनिश्चय, संशय और आत्म-ग्लानि की इस मुद्रा में व्यक्ति को सारे का सारा देश एक कारागार सा प्रतीत हुआ :

> दरिद्र की व्यथा की तरह। उचाट और कूंथता हुआ। घृणा में। डूबा हुआ सारा का सारा देश-पहले की ही तरह आज भी। मेरा कारागार है।[6]
>
> (पटकथा)

यह सब इसलिये कि आपाधापी की इस व्यवस्था में कुछ लोग अपना उल्लू सीधा करते हुए देशोद्धार का नाटक रचने में संलग्न हैं। इस नाटक में उनकी भूमिका प्रशिक्षित दलालों की-सी है जोकि नीतियों को निजी हित में स्थानान्तरित करके भी जनकल्याण का दम्भ भरते हैं :

> …घड़ी भर के कुछ लोग। फसल काट कर नाटक में। रकम खड़ी करके वक्त को। अपने चंगुल में। बजा रहे हैं।…[7]
>
> (नाटक जारी है)

'ओहदे और नकली इरादों को ढोते हुए' व्यक्ति की अस्मिता लुप्त हो गयी है। सत्ता के आतंक-दमन चक्र और जघन्य हथकंडों के कारण वह 'ब्रह्म, राक्षस' के मिथकीय संसार में विसंगत परिवेश से उपजी अपने मन की मैल को धो पाने में अथक परिश्रम से जुटा है। संभवत: उसे 'परित्यक्त सूनी बावड़ी के भीतरी ठंडे अन्धेरे में' संस्कृति के आदि-काल से वर्तमान तक के चिन्तकों तथा मनीषियों के सूत्रों को सुलझाते हुए एक निरीह मृत्यु को प्राप्त होना है। वह जानता है कि अब इन कठिनाइयों का डटकर सामना कर पाना उसके लिये असंभव है। इसलिये कि तन्त्र का समूचा ताना-बाना ही टूट कर बिखर गया है। अब उसे प्रतीक्षा है उस ऐतिहासिक तिथि की जोकि देश का नक्शा बदल सके तथा जीवन को एक नया अर्थ दे पाए :

> …सिर्फ एक लावा जो कुर्सियों के आस-पास फूटेगा।
>
> नक्शा बदलने के लिए काफी है।
>
> एक षड़यन्त्र जो देश में ही देश के लिए किया जायेगा।
>
> मानवता का चेहरा मोड़कर।
>
> कोई भी तारीख ऐतिहासिक हो जाएगी।[8]
>
> (इस व्यवस्था में)

फालतूपन ओढ़े हुए दैनिक जीवन की घटनाओं से जीना। इतिहास, भूगोल तथा दर्शन के संक्रमित होते हुए मूल्यों को निरुद्वेग भाव से ग्रहण करना। बढ़ते हुए भ्रष्टाचार तथा संविधान-नियमों के उल्लंघन से राष्ट्र के स्वाभिमान को खण्डित होते देखना। किसी जनक्रान्ति के निमित्त उचित आयाम की दिशा में भटकते रहना तथा परस्परता के भाग को साबित कर पाने से पूर्व ही भ्रष्ट सत्तान्धों द्वारा बिछाए हुए सुविधाजनक रंगों के जाल में उलझ जाना। सामान्य व्यक्ति का जीवन इस सबसे अलग क्या रह गया है? आत्मा के गूंगेपन पर प्रहार करने तथा लहू की धार से अपने अस्तित्व को उजागर करने के मनोवेग के चरितार्थ होने में संदेह का बने रहना स्वाभाविक है क्योंकि अब वह उन मुहावरों से परिचित हो गया है जो 'पंचतन्त्र से निकल गणतन्त्र में खो जाते हैं'। वह जानता है कि अभावग्रस्त जीवन को भोगते हुए पूंजीवादी व्यवस्था उसे एड़ियों के बल घिसटने को विवश कर देगी। प्रजा अर्थहीन भाषणों से मुग्ध होकर तालियाँ पीटती रहेगी। बीमारी, भ्रष्टाचार आदि के संकट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देश की रगों में गहरे पैठते जाएंगे। सत्तान्धों के मोहक, मधुर तथा सजीले शब्द-जाल में उलझ प्रजा-वासी काल का ग्रास बनते रहेंगे। राष्ट्र के प्रति-निधि प्रजा के दुःख-दर्द से दूर भोग-विलास में आकण्ठ डूबे रहेंगे। सांस्कृतिक चिह्नों की स्मृति में खोया हुआ वह भ्रष्ट सत्तान्धों तथा उनके सह-योगियों में फँसकर कुसमय का शिकार हो जाएगा :

…कण्ठस्थ करता हूं मैं सिन्धुघाटी सभ्यता के गीत
कब तक बेचूंगा। कोप-भवन
सामने है रामराज्य की कल्पना दूर
मुझे ही चढ़ना है बलिवेदी पर। शिकार
बनना है कैकेयी-मंथरा के प्रकरण का।[9]

(खण्ड खण्ड पाखण्ड पर्व)

थोथे नारों, प्रदर्शनों, भ्रष्ट सत्तान्धों, आलोचकों तथा अश्लील सन्दर्भों से ऊबकर वह (सामान्य जन) 'लुकमान अली' बन गया है। वह जानता है कि आज के अयथार्थ जैसे लगने वाले परिवेश में 'चीजें उतनी बड़ी नहीं हैं जितना उन तक पहुंचना'। चुनाव जनमत का प्रतीक नहीं 'धन और धमकी' का अंगारा है। प्रजातंत्र के नाम पर 'महापुरुषों की डाक टिकटें, सिक्के और वीरता चक्र' इकट्ठे करके भीख माँगी जा सकती है। मित्र अथवा शत्रु की पहचान के बिना अपने राष्ट्रीय स्वाभिमान को गिरवी रखकर अमरीका, रूस या चीन किसी के आगे भी हाथ फैलाया जा सकता है। ऐसे सब सन्दर्भों से उसे ऊब हो गई है और वह किसी ऐसे संसार में पहुंच जाना चाहता है जहाँ रहकर वह अनाम रूप से राष्ट्र की सेवा कर सके क्योंकि वह अन्याय, भ्रष्टाचार, मूल्यहीनता और नारे लगाने वाली नेताओं की भीड़ का मौन दर्शक नहीं बना रहना चाहता :

लुकमान अली सिर्फ दर्शक है : अन्याय, भ्रष्टा-चार, मूल्यहीनता, और नारे लगाने वाले नेताओं की भीड़ का।[10]

(लुकमान अली)

इस भीड़ ने 'प्रजातन्त्र' के प्रजा तक पहुंच पाने के जनमार्ग की दिशाएं अवरुद्ध कर दी हैं :

…इतने अधिक घुमाव
इतने अधिक मर्ज़
और इतने अधिक अनिश्चित नामों को लेकर
कैसे पहुंच सकोगे
तुम
प्रजातंत्र।[11]

(कविता समय)

आदमी के वर्तमान और भविष्य को लेकर इस शताब्दी में बहुत कुछ कहा-सुना गया किन्तु धर्म और राजनीति के हथकण्डे आदमीयत को हड़प गए और आदमी का अस्तित्व घुलता गया। आदमी 'शीशे में अपनी शक्ल' देखने की इच्छा से तरसता और तड़पता रह गया। जनता और जनतंत्र के बीच की दूरी ने उसे शब्दों की निरर्थकता का बोध दिया और वह असंमजस में अपने आप को कुरेदने लगा :

मुझे नहीं मालूम
जनता से जनतंत्र की
कितनी नजदीकी है ?[12]

(कविता समय)

इस राजनैतिक पतन ने न केवल आर्थिक मोर्चे पर लूट-खसोट से जन-सामान्य की विषमताओं को द्विगुणित किया बल्कि नैतिक स्तर पर भी देश में अपनी नंगी वासना से बीभत्स काण्डों से सार्वजनिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप से देश का चरित्र-हनन किया। इससे न केवल युवा पीढ़ी भोग-विलास के शिकंजे में पड़कर नैतिक पतन की शिकार हुई अपितु राष्ट्र के स्वर्णिम गौरव और उन्नति के सपने भी 'सूखी झाड़ियों में लटके मांसखण्डों से' बिखरते गए :

…किसी भी सवाल अट्टहासने में समर्थ
डम्मी मछली घर—मुर्गी खाने
परी-कथा के। सोने के खेतों की तरह
चमकने लगे।
औरतों पर। गीधों की तरह
झपटती वास्केटें
लहू के। अन्दर का भी लहू
पीकर। शान्त नहीं होतीं !
रात के सफेद अन्धेरे में
सड़क की नंगी जांघों पर
देश रक्षा का बहाना किये
जूते धंसते रहे ! उबरते रहे !!
जूतों के तस्मों में—जकड़ी जवानियां
झीलों के किनारे, यूनिवर्सिटियों में
केंचुलें उतारती रहीं।
'मैं' 'वह' को ताकता रहा। 'वह' 'मैं' को !
हरे पत्तों से। ढंपता रहा लाल खून !
…… अन्धों को
हरा ही हरा सूझता रहा
'वह' और 'मैं' की परिवर्तन की उम्मीद
सूखी झाड़ियों में लटके। मांसखण्डों सी
बिखरती रही ![13]

(मरीचिका)

इस पर भी किसी भी नीति से सम्बन्धित उचित चर्चा निषिद्ध मानी गई। राजाज्ञा के विरुद्ध किसी प्रकार के प्रश्न-चिह्न से आत्म हत्या का राजदंड भोगना पड़ा। वह इसलिये कि 'राजाज्ञा के विरुद्ध—न्याय-अन्याय की चर्चा—निषिद्ध है ! राजाज्ञा स्वतः ही न्याय-सिद्ध है। 'लोग' हिजड़ी मंच' पर तालियां पीटते रहे और सत्ता यह दावा करती रही कि 'देश की जनता प्रसन्न है !' और राज्य के दावों को प्रमाणित करना सबका परम कर्त्तव्य माना गया क्योंकि' बुद्धि का प्रयोग भी व्यवस्था के विपरीत है' और कोई भी प्रश्न चिह्न 'सिर कटवा सकता है एक दिन।' इसलिये सोचने की मनाही कर दी गयी। सत्ता का कथन अन्तिम और प्रामाणिक घोषित किया गया :

…प्रिये ! आज सत्य वह नहीं
जिसे मेरी और तुम्हारी आत्मा स्वीकारे
आज केवल वही सत्य है
जिसे सत्ता बयान करे।
(सत्य द्वारा
सत्ता और केवल सत्य ही बयान होता है !)[14]

(सत्य की तलाश)

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि जब तक राजनीति का स्थानान्तरण जननीति में नहीं होता तब तक व्यक्ति का अस्तित्व असुरक्षित है। अनिश्चय और संशय की अवस्था में जीता हुआ व्यक्ति इस दुविधा से ग्रस्त रहेगा मानो वह ही सारी दुर्घटनाओं का केन्द्र है :

…मानो मेरे ही कारण लग गया। मार्शल-ला
वह। मानो मेरी ही निस्क्रिय संज्ञा से संकट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बुलाया । मानो मेरे कारण ही दुर्घटना । हुई यह घटना…[15]

(अन्धेरे में)

और जन–प्रतिनिधित्व करने वाला कवि राजनीति की दुश्चरित्रता का पर्दाफ़ाश करता हुआ, गूंगी जन-वाणी को स्वर देता रहेगा :

…ओ देश के पोर-पोर में दुखते हुए गूंगे जनून। क्रोध की अकेली मुद्रा में। उफनते हुए सात्विक खून ! आ, बाहर आ, मैं एक अदना कवि-तेरी भाषा का मुहताज । मुझे अपनी बोली में शरीक कर ।[16]

(भाषा की रात)

1. लीलाधर जगूड़ी : नाटक जारी है : पृ० 110
2. अन्धेरे में (मुक्ति बोध), मुक्ति प्रसंग (राज कमल चौधरी), पटकथा (धूमिल), नाटक जारी है (लीलाधर जगूड़ी), खण्ड खण्ड पाखण्ड पर्व (मणि मधुकर), लुकमान अली (सौमित्र मोहन), कविता समय (राज कुमार कुम्भज), सत्य की तलाश, मरीचिका (दिल-जीत दिव्यांशु) ।
3. मुक्ति बोध : चाँद का मुंह टेढ़ा है : पृ० 299
4. राज कमल चौधरी : मुक्ति प्रसंग : पृ० 32
5. धूमिल : संसद से सड़क तक : पृ० 12
6. धूमिल : संसद से सड़क तक : पृ० 141
7. लीलाधर जगूड़ी : नाटक जारी है : पृ० 123
8. लीलाधर जगूड़ी : नाटक जारी है : पृ० 44
9. मणि मधुकर : खण्ड खण्ड पाखण्ड पर्व : पृ०- 31
10. सौमित्र मोहन : लुकमान अली ;पृ० 2.(कृति परिचय अक्तूबर-नवम्बर 68)
11. राजकुमार कुम्भज : कविता समय : अथवा- 1: पृ० 11-12
12. राजकुमार कुम्भज : कविता समय : अथवा- 1 : पृ० 27
13. दिलजीत दिव्यांशु : रंगों की पहचान में पृ० 21-22
14. दिलजीत दिव्याशु : रंगों की पहचान में : पृ० 31
15. मुक्तिबोध : चाँद का मुंह टेढ़ा है : पृ० 278
16. धूमिल : संसद से सड़क तक : पृ० 105

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० दर्शन कुमार जैन
हिन्दी विभाग
राजकीय कॉलेज
फरीदकोट (पंजाब)

शासक और शासित में तनाव: स्वातंत्र्योत्तर नाटक का झुकाव !

सन् 1977 के बिन्दु पर खड़े होकर यदि हम गत 30 वर्षों के हिन्दी-नाटक पर इस दृष्टि से विचार करें तो स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-नाटक इस समस्या को विभिन्न कोणों से प्रस्तुत करता हुआ दिखाई देता है। इस समस्या के प्रारम्भिक बिन्दु सर्वप्रथम जगदीश चन्द्र माथुर के 'कोणार्क' (1951) में खोजे जा सकते हैं। शिल्पियों के परिवार गाँव में भूखे मर रहे हैं। महामात्य चालुक्य ने उनकी भूमि छीन ली है। राज्य अकालग्रस्त है। जन-साधारण की संपूर्ण शक्ति कोणार्क को पूर्ण करने में लगी हुई है। शासक इस स्थिति से अनभिज्ञ हैं।

शासक और शासित का यह कटाव हमें इस नाटक से आगे बढ़ाकर धर्मवीर भारती के 'अंधायुग' (1954) में ले आता है। यहां शासित का श्रम निरर्थक है। उसके साहस और परिश्रम का कोई मूल्य और महत्त्व नहीं है। शासित की इस स्थिति को इस प्रकार उभारा गया है—

"...मेहनत हमारी निरर्थक थी
आस्था का
साहस का
श्रम का
अस्तित्व का हमारे
कुछ अर्थ नहीं था..."1

यहाँ शासित को अपनी यथार्थ स्थिति का पता चल चुका है। इस स्थिति से उबरने में वह असमर्थ है, अतः वह निराश है। वह मात्र भृत्य है जिसका काम शासकों की सेवा करना है। ऐसी स्थिति में शासन में भागीदार होना तो दूर की बात है।

'अंधायुग' को छोड़कर हम मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' (1958) में प्रवेश करते हैं। मल्लिका का घर जीर्णावस्था में है जहाँ राजकुमारी प्रियंगुमंजरी का आगमन होता है। नाटक की इस संपूर्ण स्थिति के सर्वेक्षण से पता चलता है कि राजा का प्रजा से कोई सम्बन्ध नहीं है। लोग भूखे मर रहे हैं अथवा आर्थिक विपन्नता में हैं, शासकों का इससे कोई सम्बंध नहीं। राजा को तो अपने भोगविलास और ऐश्वर्य के लिए जनता से कर चाहिए। यदि कर की प्राप्त सीधे नहीं होती तो शासन शक्ति का प्रयोग करने से भी संकोच नहीं करता। संभवतः यही कारण है कि अम्बिका राज्य-कर्मचारियों के गांव में आगमन को शुभ नहीं मानती।

मुद्राराक्षस के 'मरजीवा' (1960) में यह स्थिति और भी भयानक होती हुई दिखाई देती है। मंत्री महोदय जनता से संपर्क बढ़ाने के लिए गांव की पदयात्रा करते हैं। इसी बीच वे नाटक की नायिका भूमि को देख लेते हैं। वे भूमि को घर को आज और नौकरी दिलवाने का झांसा देते हैं। मंत्रीमहोदय के चरित्र से सब लोग परिचित हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंत्री जी के घर जाने का तात्पर्य है—सर्वस्व-नष्ट। इस स्थिति से त्राण पाने के लिए नायिक आत्महत्या कर लेती है।

यहां पर पहुंच कर नाटक-साहित्य दूसरे पड़ाव में आ जाता है। प्रारम्भिक दौर में जनता का केवल आर्थिक शोषण होता हुआ ही दिखाया गया है। इस पड़ाव पर पहुंचकर पता चलता है कि शासकों की दृष्टि जनता के धन के अतिरिक्त उसकी बहु-बेटियों पर भी है। इस स्थिति का यद्यपि प्रादुर्भाव हो चुका है तथापि पुरुष अभी पंगु है। उसके पास अपनी, अपने परिवार की रक्षा करने की शक्ति नहीं है। इससे आगे बढ़कर वह असंगठित है।

दुष्यंत कुमार के 'एक कण्ठ विषपायी' (1963) में शासक और शासित में अलगाव की स्थिति 'अंधायुग' से भिन्न नहीं है। यहाँ महल और कंगूरे हैं। अतिथि-भवन और राजपथ हैं। केवल जनता नहीं है। लोगों के होने न होने से क्या होता है ?[2] अर्थात् शासन, जनता नहीं है अपितु महल और राजपथ है। दूसरे शब्दों में यहां शासित के महत्व को पूर्णतः नकारा गया है।

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-नाटक का तीसरा पड़ाव ज्ञान देव अग्निहोत्री के 'शुतुरमुर्ग' (1968) में दिखाई देता है। प्रत्येक शासक शुतुरमुर्ग के अमर दर्शन को उत्तराधिकार में पाता है इसलिए जनता के कल्याण की बात सोचना उसका काम नहीं है। जीवन की विकट समस्याएं शुतुरनगरी को पीस रही हैं परन्तु शासक शुतुरमुर्ग के प्रतिमा के निर्माण में लगे हुए हैं। कोणार्क की सी स्थिति है परन्तु उससे कुछ भिन्न है। शासित यहां संगठित होकर प्रतिमा के निर्माण का विरोध करता है। शासितों का प्रतिनिधि विरोधी लाल है। इस स्थिति के अध्ययन से पता चलता है कि सुप्त-जनता जागृत होती हुई दिखाई देती है। ऐसी स्थिति में शासक इस तनाव को दूर करने के लिए विरोधी लाल को खरीद लेता है। उसे विरोधी लाल से सुबोधीलाल बना दिया जाता है। जनता का शासकों के प्रति विद्रोह एक बार दब जाता है।

यद्यपि शासन ने अपने हथकण्डों से शासितों के विरोध और विद्रोह को दबा दिया है परन्तु इतना स्पष्ट है कि शासित संगठित हैं और एक न एक दिन राज्य की भाग्य-विधायिका शक्ति बनकर रहेंगे।

जगदीश चन्द्र माथुर के 'पहला राजा' (1968) में शासक और शासित के अलगाव और तनाव को दूर करने का एक प्रयास है। पृथु जन-शक्ति को शासन में भागीदार बनाकर राज्य का विकास करना चाहता है। वह स्वयं हल चलाता है और कुदाल लेकर बांध पर जाता है। शासक का शासित से मेल जोल कैसा ? परिणाम-स्वरूप तंत्र अपने हथकण्डों से पृथु को कुशा (नियंत्रण) में बाँध लेता है और शासक और शासित में अलगाव दूर करने का प्रयत्न समाप्त कर दिया जाता है।

लक्ष्मी नारायण लाल के 'कलंकी' (1969) में यह समस्या पूर्व विवेचित नाटकों की ही भांति है। राज्य के लोग भूख से मर रहे हैं परन्तु दूसरी ओर एक अवधूत कल्कि अवतार के लिए शिव की उपासना कर रहा है। शासन ने लोगों को बताया है कि कल्कि का अवतार होते ही राज्य धन-धान्य से पूर्ण हो जाएगा और जनता की सभी समस्याएं स्वतः सुलझ जाएंगी। इस प्रकार यहां शासकों के जन-साधारण को यथार्थ जीवन से कटकर अयथार्थ की ओर, प्रत्यक्ष से परोक्ष की ओर किया हुआ है ताकि शासित धर्मभय, पापभय और मृत्युभय के कारण प्रश्नहीन रहें और शासकों की स्वार्थ-सिद्धि होती रहे।

दयाप्रसाद सिन्हा के 'इतिहास-चक्र' (1973) में शासकों के शासित के साथ किए जा रहे छल और ढोंग को मुखरित किया गया है। राजा कहता है कि उसने जनता की सेवा के लिए कांटों भरा ताज ग्रहण किया है। कुबेर कहता है कि उसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धन जनता के हित के लिए है। इसी प्रकार पत्रकार की पत्रकारिता है, परन्तु वास्तविकता इसके विपरीत है। शासन के ये सभी अंग जनता का शोषण करते हैं। नाटक में अनामी नामक पात्र वास्तव में शोषित और शासित है जिसकी ओर किसी का ध्यान भी नहीं है।

डॉ० लक्ष्मी नारायण लाल के 'अब्दुल्ला दीवाना' (1975) में न्यायपालिका पर मार्मिक व्यंग्य किया गया है। जनता न्याय मांगनेके लिए न्यायालय में जाती है परन्तु वहां पता चलता है कि शासन ने 'कमिटड' न्यायाधीश लगा रखे हैं। न्यायालय या न्यायाधीश की यदि जनता आलोचना करती है तो उसे 'कुत्ते के भौंकने का स्वर' कहा जाता है। ऐसी स्थिति में शासित न्यायालय से निराशा ही प्राप्त करता है।

इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-नाटक के गत तीस वर्षों का अध्ययन कर लेने के पश्चात् एक निश्चित मत के रूप में हम कह सकते हैं कि इस काल के हिन्दी-नाटक ने शासक और शासित के सम्बंधों को स्पर्श करने का प्रयास किया है परन्तु यह प्रयास बहुत बड़ा नहीं है। इस प्रकार की कृतियां कुछ ही हैं जिन्हें उंगलियों पर गिना जा सकता है। इतना अवश्य है कि इन कृतियों का अधिकांशतः कोण-भिन्नता लिए हुए है। कहीं यह भिन्नता तनाव में उभरती है तो कहीं खिचाव में। कहीं अलगाव में तो कहीं कटाव में। कहीं विरोध में यह मुद्रा है तो कहीं समझौते में। कहीं विद्रोह में है तो कहीं दमन में।

---

1. धर्मवीर भारती—अंधायुग, पृ. 15
2. दुष्यन्त कुमार—एक कंठ विषपायी, पृ. 45

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक-परिचय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री रामदेव आचार्य
जेल के कुंए के पास
बीकानेर ।

कविता में लय की सार्थक उपलब्धि

कविता में लय की अनिवार्यता पर अधिक बल देना छायावादी मानसिकता का प्रमाण है। अतीत-जीवी लोग इस मानसिकता से ग्रस्त रहकर शब्द-लय का सवाल यदा-कदा उठाते रहते हैं । नये लेखन से सम्पर्क जोड़ने के पश्चात् भी वे अपनी पारम्परिक छन्द-पूजा से विमुक्त नहीं हो पाते। उनकी आंतरिकता का यदि जायजा लिया जाये, तो पता चलेगा कि आज भी तकनीकी लय को वे काव्याभिव्यक्ति की प्रमुख शर्त मानते हैं। कहने को तो वे आरोह-अवरोह, बलाघात, स्वर-संयम, तथा शब्द की लयात्मक अन्विति जैसे शब्दों और मुहावरों का प्रयोग करेंगे, पर यदि उनकी आत्मा को परखा जाये, तो आज भी वहां रूढ़ छन्द और तकनीकी लय के लिए एक व्यग्र छटपटाहट दिखाई देगी। 'नया' कहलाने का मोह बेशक उन्हें अतिरिक्त शब्दों और मुहावरों के मुखौटे पहनने को बाध्य कर दे, उनकी वास्तविकता रूढ़िग्रस्त छन्द-बद्धता की चाहना-भरी वकालत है। अपनी अंतरंग आकांक्षा में वे छन्द की ओर लौट पड़ने के आतुर पक्षधर हैं।

काव्य में लय की अनिवार्यता पर अतिरिक्त बल देने का स्पष्ट अर्थ है छायावादी काव्य-मोह। छायावादोत्तर प्रयोग-धर्मी काव्य-पीढ़ी भी इस तकनीकी पूर्वाग्रह से पूर्ण रूप से मुक्त नहीं हो पायी थी। आज तक उस पीढ़ी के जाने-पहचाने लेखक अपने व्याख्यानों और साहित्यिक कथनों में, दबी जुबान से, छन्द की ओर लौटने की व्याकुलता-भरी अभिलाषा प्रकट करते रहते हैं। इस विषय की निर्भीक पक्षधरता वे इसलिए प्रकट नहीं कर पाये हैं कि 'प्राचीन पन्थी' कहलाने की 'साहित्यिक बदनामी से वे साभिप्राय कतराते हैं। युग प्रचलित विश्वास को नकारने में आस्था का जो नैतिक साहस होता है, उसका अभाव उनमें स्पष्ट रूप से परिलक्षित किया जा सकता है। उनकी तकनीक-प्रियता कई बार नये रचनाकार को विस्मय की स्थिति में डाल देती है। नया कवि स्वाभाविक रूप में उनकी आत्म-व्यग्रता के प्रति सन्देह और प्रश्न-जिज्ञासा से भर जाता है। प्रयोग-धर्मी काव्य-पीढ़ी और उनके समकालीन रचनाकार पूर्व और पश्चिम की काव्य-सम्बन्धी-विभिन्न आलोचनात्मक अवधारणाओं से सुपरिचित रहे हैं। ऐसे लोग ही जब रूढ़ि और ऐतिहासिक परम्परागतता से अभिभूत दिखाई पड़ते हैं, तो विस्मय और जिज्ञासा की गम्भीर स्थिति स्वतः ही उत्पन्न हो जाती है। यह आवश्यक हो जाता है कि पूर्वाग्रहों से बचकर हम लय का सही, तार्किक और अर्थ-सम्पन्न विश्लेषण करने का प्रयत्न करें।

नये सन्दर्भों में अगर हम लय का विवेचन करने का उपक्रम करें तो हमारे सामने लय के दो पक्ष उभर कर आयेंगे—शब्द-गत पारम्परिक लय, और बन्धन-मुक्त अर्थ-लय। लय का शब्द-गत पारम्परिक स्वरूप वास्तव में छन्दबद्धता का परिवर्तित नामकरण है। इस धारणा के अन्तर्गत काव्य में संगीत की मात्रा-बद्ध बन्दिश को अधिक महत्व दिया जाता है, चाहे इसका प्रवक्ता तुक-मोह के संस्कार से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुक्त होने का अभिनय क्यों न करे। तुक-मोह और मात्रा का सम-विभाजन चाहे इन पक्षधरों के आकर्षण के केन्द्र न हों, पर शब्द-गत लयात्मकता उनकी आत्मा की अनिवार्य चाहना होती है। पारम्परिक लय स्वरों और मात्राओं का परिगणना पर आश्रित होती है। यह रूढ़िगत लय काव्य में गिने-गिनाये स्वरों और मात्राओं के माध्यम से संगीतात्मक आरोह और अवरोह उत्पन्न करने का प्रयत्न करती है। लय की यह धारणा काव्य को मात्र मात्रा-गणना तक ही संकुचित रख पाती है।

निश्चित है कि इस धारणा के पोषकों की काव्य-रुचि लय के नये प्रयोग और अर्थ-विस्तार को स्वीकार नहीं करती। कुछ नव-लिबासधारी 'नये' लेखकों ने, जो अपनी रूढ़ धारणा को प्रच्छन्न रखकर नये अंदाज में बोलने के शौकीन हैं, लय को तुक की सीमा से तो मुक्ति दे दी हैं; कहीं-कहीं उन्होंने मात्रा-भंग की स्थिति से भी समझौता कर लिया है; पर आखिरी मोर्चे पर वे 'स्वर-संयम,' 'बलाघात,' 'शब्द के संतुलित अंतराल' जैसे मुहावरों से चिपके रहकर प्राचीन छन्द-अवधारणाओं का ही परोक्ष समर्थन करते दिखाई देते हैं।

छन्द और लय के प्रति इस आसक्ति का वास्तविक कारण उनका निजी काव्याभास है। वे स्वयं अपनी रचना में लय को पारम्परिक शिल्प में बाँधते आये हैं; जब अनायास ही इस काव्याभास से विमुक्त हो जाना उनके काव्यास्वाद के लिए अनुकूल सिद्ध नहीं हो पा रहा है। लय की इस रूढ़ि-बद्ध अवधारणा से मुक्त होकर हम उसके बन्धन-मुक्त स्वरूप की व्याख्या करने का प्रयत्न करें। लय का बन्धन-मुक्त स्वरूप सशक्त नयी कविताओं में अपनी सम्पूर्णता में उभर कर सामने आया है। पूर्वाग्रहों से हटकर यदि काव्य में हम लय के सार्थक अर्थ की खोज करें तो हम इस परिणाम तक पहुंचेंगे कि हर सफल कविता की एक लय होती है, चाहे यह लय पारम्परिक हो या बंधन-मुक्त। लय की परिभाषा को यह विस्तार देना इसलिए आवश्यक है कि काव्य-लय की संकीर्ण मानसिकता काव्य-लय की सही अवधारणा को क्षति-ग्रस्त न कर सके।

काव्य-रचना का प्रमुख लक्ष्य पाठक तक काव्य-संवेदना का निर्यात करना है। जो कविता अपने अंतस्तल में इस लक्ष्य को उपलब्धि तक प्राप्त कर लेती है, तथा जो अपनी अस्मिता से पाठक को काव्यास्वाद का आनन्द प्रदान कर देती है, उस कविता की निश्चय ही एक अंतरंग लय होती है, जो मात्रादि की पारम्परिक गणना से कहीं अधिक सार्थक और भव्य होती है।

तकनीकी अर्थों में किसी भी लय-बद्ध रचना के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह काव्य संवेदना का भी निर्यात करे। ऐसी रचना काव्य-संवेदना का सम्प्रेषण कर भी सकती है, और नहीं भी। काव्य-संवेदना साधारण अर्थों में, कथ्य के परिवेश की भाव-प्रवण संरचना करती है; तथा भावक तक रचना की प्रवणता का सम्प्रेषण करती है। काव्य-संवेदना की इस व्याख्या से हमें तकनीक तथा यथार्थ का मौलिक अंतर समझ में आ सकता है। तकनीकी दृष्टि से एक छन्द-शिल्पी गद्य को भी लय-बद्ध कर सकता है, पर गद्य कभी पद्य की संवेदना अभिव्यक्त नहीं कर सकता। अट्ठारहवीं शताब्दी के अंग्रेज़ी-काव्य साहित्य को छन्द-बद्ध गद्य (Versified Prose) कहा गया है। गद्य ही क्यों, हमारे अपने देश में तकनीकी विद्वानों ने औषधि, विज्ञान, दर्शन-शास्त्र तथा इतिहास जैसे विषयों को भी छन्द-बद्ध किया है। अट्ठारहवीं सदी के प्रतिनिधि कवि अलॅग्जेन्डर पोप तो "Essay on Criticism", और "Essay on Man" जैसे विषयों को भी छन्द-बद्ध कर गये हैं महज इस बात से ये कृतियां काव्य थोड़े ही बन गयीं। इससे हम इस निष्कर्ष तक आसानी से पहुंच सकते हैं कि मात्र लय-बद्ध, छन्द-बद्ध रचना का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य होना आवश्यक नहीं है। हमें छन्द और काव्य के अन्तर को समझना होगा। अंग्रेजी में इस अंतर को समझाने वाले दो स्पष्ट शब्द हैं—Versification और Poetry। हिन्दी में वर्सिफिकेशन (Versification) को हम छन्द-बद्धता, और पॉएट्रि (Poetry) को काव्य कह सकते हैं। हमारे अपने देश में महापंडित केशव का काव्य एक ऐसा नमूना है, जो छन्द और काव्य के सूक्ष्म अंतर को अनेक प्रसंगों में स्पष्ट करता है। केशव कहीं-कहीं विभिन्न छन्दों के प्रयोगों का चमत्कार प्रदर्शित करके मात्र तकनीक-वेत्ता ही रह जाते हैं। काव्य तकनीक में न होकर भाव-प्रवणता, और संवेदना-सृष्टि में होता है। अतः यह मानना चाहिए कि तकनीकी अर्थों में लय-बद्ध, छन्द-बद्ध रचना के लिए यह ज़रूरी नहीं है कि वह काव्य भी हो। अंग्रेजी कविता के आदिकाल में ही सर फ़िलिप सिडनी ने छन्द और काव्य के इस सूक्ष्म अंतर को अपनी सिद्धांत-पुस्तक (Apology for Poetry) अपॉलॉजि फॉर पॉएट्रि में स्पष्ट कर दिया था। जब हम इस परिणाम तक पहुंच जाते हैं तो स्थिति बहुत साफ़ हो जाती है। तकनीक का अर्थ काव्यानुभूति नहीं है। इसलिए जो लोग कविता में तकनीकी लय का सवाल पैदा करते हैं, वे एक रूढ़िबद्ध इतिहास-आतंक से आक्रान्त दिखायी देते हैं। चाहे अस्तित्व-रक्षण के लिए उन्होंने 'नये' से दिखावटी लगाव पैदा कर लिया हो, अपने मानस में वे लय की कारा-बद्ध स्थिति से ही जुड़े हुए संस्कार-ग्रस्त लोग हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि काव्य में लय का सर्जनात्मक सही स्वरूप क्या हो सकता है। इस प्रश्न के समाधान के लिए हमें लय की सीमित परिभाषा को अर्थ-विस्तार देना होगा। तकनीकी लय काव्य की अंतरंगता नहीं है, वह काव्य को अभिव्यक्त करने वाली एक माध्यम मात्र हो सकती है। लय का रचनात्मक स्वरूप वह है, जो काव्य-पंक्तियों में काव्य-संवेदना की प्रतिष्ठा करता है। इसके लिए गणना-बद्ध स्वरों या मात्राओं की अनिवार्यता आवश्यक नहीं है। आवश्यकता सही काव्य-दृष्टि, और सही सर्जनात्मक क्षमता की है। काव्य-संवेदना काव्य की अंतरंग ध्वनि से उपलब्ध होती है, न कि स्वरों और मात्राओं के गणनात्मक संयोजन से। यह अंतरंग ध्वनि काव्य के विविध उपकरणों से भी प्राप्त हो सकती है—प्रतीक, बिम्ब, भाषा, अर्थवत्ता, कथ्य की ध्वन्यात्मक प्रस्तुति, तथा सांकेतिक सपाट बयानी से। काव्य की लय इन काव्य-उपकरणों के सच्चे, सार्थक, सर्जनात्मक रचाव से प्राप्त हो सकती है। शब्दों का सही चुनाव यदि काव्यार्थ में काव्य-संवेदना की ध्वनि (किसी भी काव्य-उपकरण के माध्यम से) उत्पन्न करता है, तो उस रचना में काव्य की लय सहज रूप से स्वतः ही उपलब्ध हो जाती है। यदि काव्य-भाषा अपने शिल्प-विधान से एक मार्मिक, ध्वन्यात्मक अर्थवत्ता का निर्माण करती है, तो निश्चय ही वह रचना एक सफल लयात्मक काव्य की पोषक है। भाषा का रचाव कविता में ऐसे मुहावरे जड़ देता है, जो उसे लयात्मक एवं सशक्त बना देता है। प्रतीक, चित्र, बिम्ब आदि विभिन्न उपकरण काव्य में एक लयात्मकता संवेदना की जागृति करते हैं। यह लयात्मकता नयी कविता की अनेक सफल और सशक्त कविताओं में पायी जा सकती है। काव्य में लय का इससे बेहतर अर्थ खोजना अपने संस्कार-ग्रस्त मानस की तुष्टि का प्रयत्न है, काव्य की आंतरिकता को ग्रहण करने का प्रयत्न नहीं।

लय की तकनीकी तानाशाही से मुक्त होने के लिए नयी कविता के पोषकों ने एक नये मुहावरे की सृष्टि की—'अर्थ की लय'। जिन लोगों को हर स्थान पर दोष-दर्शन की व्याधि लगी हो, वे यहां भी, वकीलों की तरह, दोष खोज सकते हैं। वे ऐसे कानूनी तर्क-प्रश्न उछाल सकते हैं—अर्थ—कैसा अर्थ? किसका अर्थ—भाषा या संवेदना का? क्या अर्थ की लय ही कविता है? फलां विद्वान ने अर्थ के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विपरीत यह कहा है, तथा फलां विद्वान ने लय के विपरीत यह कहा है, आदि-आदि।

इस दोष-अन्वेषण से अलग हटकर यदि हम इस मुहावरे की वास्तविकता को तटस्थता से पहचानने का प्रयत्न करें, तो हम कविता की लय के बारे में एक सही दिशा की ओर उन्मुख हो सकते हैं। अर्थ की लय का स्पष्ट अर्थ काव्य की रूढ़, तकनीकी परिभाषा से मुक्ति प्राप्त करने का सार्थक विकल्प है। यहां इस मुहावरे की रचनात्मक सार्थकता पर बहस करने का प्रश्न नहीं है। प्रश्न सही और ग़लत काव्य-लय दृष्टि का है, मुहावरे की सही और ग़लत रचनात्मक अर्थवत्ता का नहीं।

समझने की बात यह है कि रूढ़ लय की काराबद्ध स्थिति को समझकर काव्य की उन्मुक्तता को स्वीकारने का भाव 'अर्थ की लय' में अंतर्निहित है। इस मुहावरे से यह स्पष्ट है कि कोरी छन्द-बद्ध लय काव्य की आधार-शिला नहीं है। अतः इस मुहावरे में काव्य की अंतरंगता को अर्थ के माध्यम से समझने की दृष्टि है; और काव्य की अर्थवत्ता विभिन्न काव्य-उपकरणों के मार्मिक प्रयोगों से उपलब्ध होती है। मार्मिक अर्थवत्ता ही, प्रकारान्तर से, काव्य-संवेदना की पहचान है। यही काव्यात्मक लयात्मकता की सार्थक खोज है।

अतः हम इस निष्कर्ष तक पहुंचते हैं :—

काव्य की जो पंक्तियां रचनात्मक सन्दर्भों में काव्य-संवेदना की सृष्टि करती हैं, तथा जो इस संवेदना का निर्यात कर भावक को काव्यास्वाद के आनन्द की स्थिति तक पहुंचा देती हैं, वे निश्चय ही लयात्मक काव्य-पंक्तियां हैं। इस लयात्मकता की उपलब्धि काव्य के किसी भी उपकरण के सच्चे, सार्थक, सक्षम, सर्जनात्मक एवं अंतरंग प्रयोग से हो सकती है। माध्यम अनेक हैं; काव्य-संवेदना के अस्तित्व में ही लय की आंतरिक उपलब्धि हैं; इसलिए लक्ष्य एक ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री नरेन्द्र आर्य
स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग
गवर्नमैंट कालेज
लुधियाना

सूर की काव्य चेतना

इस वर्ष कृष्ण की भक्ति में तन्मय होकर एकनिष्ठ उपासक की तरह अपने काव्य में अपनी भक्ति को चरितार्थ करने वाले अमर गायक महाकवि सूरदास जी की पंचशती से सम्बन्धित समारोह सम्पन्न होने जा रहा है। उस महायज्ञ में एक आहुति-स्वरूप 'सूर की काव्य चेतना' नामक ग्रन्थ का प्रकाशन हमारे सामने है। ग्रन्थ में आनन्दरस निमग्न रहने वाले महाकवि सूरदास जी के जीवन, व्यक्तित्व, साहित्य और उसके मूल्यांकन से सम्बन्धित 34 निबन्धों का संकलन है, जिनमें कला और भाव दोनों पक्षों का रूपांकन किया गया है। यह सभी निबन्ध उन विद्वानों ने लिखे हैं जिन्होंने सूरदास और उसके काव्य से सम्बन्धित किसी न किसी क्षेत्र में कोई न कोई कार्य अवश्य किया है। सम्पादक रत्नाकर पाण्डेय का उद्देश्य इन विद्वानों की महाकवि सूरदास सम्बन्धी मौलिक उद्भावनाओं सम्बन्धी विचारधाराओं को एक ही ग्रन्थ में स्थापित करना तो था ही, लेकिन इसके साथ ही साथ उन्होंने इन सभी निबन्धों को इस क्रम से प्रस्तुत किया है कि सूरदास की जीवन-रेखा, व्यक्तित्व तथा उनके काव्य से सम्बन्धित प्रत्येक पक्ष की विवेचनात्मक सूत्रबद्धता संभव हुई है। इस ग्रन्थ में समर्पण पृष्ठ के स्थान पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की सूर की महिमा सम्बन्धी कुछ भावप्रवण पंक्तियां हैं, जो एकदम हमारा ध्यान आकृष्ट करती है—"जयदेव की देववाणी की स्निग्ध पीयूष-धारा, जो काल की कठोरता में दब गई थी, अवकाश पाते ही लोकभाषा की सरसता में परिणत होकर मिथिला की अमराईयों में विद्यापति के कोकिल-कंठ से प्रकट हुई और आगे चल कर ब्रज की करील कुंजों के बीच फैले मुरझाए मनों को सींचने लगी, आचार्यों की छाप लगी आठ वीणाएं श्रीकृष्ण की प्रेमलीला का कीर्तन करने उठीं; जिनमें सबसे ऊंची, सुरीली, और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदास की वाणी की थी।" आचार्य शुक्ल की प्रस्तुत पंक्तियां जहां महाकवि सूरदास का स्तवन करती हैं वहीं उनके महत्त्व को प्रतिपादित भी करती हैं तथा यह कथन अपनी भावपेशल धारा में आधुनिक काल के एक महान् आचार्य की मनीषा को भी रससिक्त कर देता है। 'सूर की काव्य चेतना, के कुछ व्याख्याताओं के नाम हैं—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पंडित नन्द दुलारे वाजपेयी, डॉ० दीनदयाल गुप्त, डॉ० हरिवंशलाल शर्मा, डॉ० वचनदेव कुमार, डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, श्री नलिनी मोहन सान्याल आदि। इनके अतिरिक्त डॉ० शकुन्तला शर्मा, डॉ० स्नेहकुमारी, डॉ० रमाशंकर मिश्र, डॉ० प्रेमशंकर, डॉ० मीरा श्रीवास्तव आदि हैं। जहां इसमें विष्णुदत्त राकेश ने सूर की अलंकार-चेतना का नवीन और वैज्ञानिक विवेचन किया है वहां आशारानी शिरोमणि ने सूर के वात्सल्य का मनोवैज्ञानिक तथा भावभीना मूल्यांकन किया है। डॉ० शकुन्तला शर्मा द्वारा प्रस्तुत सूर का राधातत्व चेतना नामक निबन्ध इस ग्रन्थ के एक नींव पत्थर रूप में प्रस्तुत हुआ है उन्होंने राधाभाव को स्पष्ट करते हुए कहा है—"सूरकाव्य की लावण्यमयी कला कल्पलता, मधुर रस की अजस्र मंदाकिनी, सूर की भावचरित भक्ति एवं अनुरक्ति की विराट अभिव्यक्ति, कृष्ण के लीला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विलास विभ्रम की विपुल मधुरिमा राधा, दर्शन और साहित्य को एकायित कर देने वाला ऐसा सेतु है जिसमें थिरकते नूपुर-रंजित चरणों की छमक प्रणव ध्वनि के साथ एकाकार हो गई।" इसी प्रकार अन्य विद्वानों ने सूर के व्यक्तित्व, वार्ता साहित्य, रचनात्मक चेतना, रसाभिव्यक्ति, लक्षणा शक्ति, सौंदर्य भाव तथा अलंकार-योजना सम्बन्धी विभिन्न आयामों को प्रस्तुत किया है तथा महाकवि सूरदास तथा उनके परम आराध्य के स्वरूप विवेचन से सम्बंधित परम्परागत सामग्री तथा उसके युक्तियुक्त मूल्यांकन के अतिरिक्त प्रस्तुत पुस्तक में कुछ निबन्ध ऐसे हैं जो महाकवि का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणार्थ श्री० सुन्दर रेड्डी ने तेलुगु भाषा में उपलब्ध कृष्ण भक्त कवियों के साहित्यिक संदर्भ में सूर की काव्य-चेतना का तुलनात्मक विवेचन किया है, डॉ० विश्वनाथ अय्यर ने मलयालम कृष्ण भक्त कवियों की सांकेतिक उपलब्धियों की पृष्ठभूमि पर सूर के काव्यादर्शों का निरूपण किया है, श्री एस० जगन्नाथ ने तमिल कृष्ण भक्ति कवियों की भाव-भूमि के आधार पर सूर की चैतन्य काव्य-वृत्तियों को रूपायित किया है तथा डॉ० एम० रामेश्वरैया द्वारा की गई कृष्ण भक्ति काव्य धाराओं की सूर की भक्ति भावना से तुलना इस पुस्तक की महत्ता को चार चाँद लगा देती है। इस प्रकार प्रस्तुत उपक्रम जहां सूरदास के व्यापक जीवन दर्शन तथा विचार आधार-फलक को हमारे सामने प्रस्तुत करता है वहीं इस देश की सांस्कृतिक एकता, राष्ट्रीय गौरव की अखण्डता तथा उसका मध्यकालीन संतों द्वारा किया गया प्रामाणिक अनुभूति-प्रवण साक्षात्कार भी हमारे सामने उभर कर आता है। अतः सूर के जीवन और व्यक्तित्व तथा काव्य संबंधी जितनी भी अन्तर्दशाएं हो सकती हैं, जितने ढंगों में उनका प्रस्तुतीकरण विद्वानों ने किया है और सामान्यतः हो सकता है वह सब इस ग्रंथ के भीतर मौजूद है। डॉ० रत्नाकर पाण्डेय द्वारा सम्पादित यह सूर सम्बन्धी ग्रन्थ सूर पंचशती के अवसर पर एक विशेष स्थान ग्रहण करेगा, ऐसा विश्वास है। इतना ही नहीं, सूरदास के व्यक्तित्व और कृतित्व के जानने के लिए विद्वानों तथा शोधार्थियों के लिए अधुनातन वैज्ञानिक विश्लेषण एव मूल्यांकन की दृष्टि से यह ग्रन्थ एक अन्यतम स्तम्भ होगा।

सूर की काव्य चेतना : सं० रत्नाकर पाण्डेय, प्रथम संस्करण, 1977, पृ० 543, मूल्य : 35.00 हिन्दी प्रचारक संस्थान, पो० बा० 106, पिचाशमोचन वाराणसी, 221001

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री गणेश दास,
1046, सुभाष रोड, गांधीनगर,
दिल्ली—110031

लम्बी कविताओं का रचना-विधान

पिछले दिनों डॉ० नरेन्द्र मोहन द्वारा सम्पादित पुस्तक 'लम्बी कविताओं का रचना विधान' प्रकाशित हुई है जिसमें हिन्दी की अठारह प्रसिद्ध लम्बी कविताओं पर समीक्षात्मक लेख संकलित हैं। हिन्दी कविता की आलोचना के क्षेत्र में यह पुस्तक कतिपय नवीन सन्दर्भों और प्रतिमानों की ओर संकेत करती है। हिन्दी कविता के विवेचन-मूल्यांकन क्रम में अभी तक प्रगीत और प्रबन्ध-काव्य के सिद्धान्त ही केन्द्र रहे और लम्बी कविता को भी उसी क्रम से जोड़ दिया जाता रहा है। यह पुस्तक पहली बार प्रबुद्ध पाठक-वर्ग को परम्परागत प्रतिमानों पर पुनर्विचार करने की ओर प्रेरित करती है, नए प्रतिमानों की ओर संकेत करती है और बहस के अनेक नए बिन्दुओं को उठाती है। लम्बी कविता एक काव्य-माध्यम के रूप में कैसे और क्यों उदित हुई? इसके लिए सम्पादकीय वक्तव्य का यह अंश द्रष्टव्य है—'आधुनिक जीवन की उलझी हुई परिस्थितियों और जटिल संवेदनाओं के संदर्भ में परम्परागत, क्लासिकल काव्य-रूप और काव्य-माध्यम अपर्याप्त सिद्ध हुए हैं क्योंकि ये अधिकतर रूढ़ पद्धतियों के अनुरूप प्रतिक्रियाएं जगाते रहे जिससे आधुनिक अनुभव और वास्तविकता तथा उससे निष्पन्न चेतना के साथ इनका विशेष तालमेल न बैठ सका। अभिव्यक्ति की इस समस्या से जूझने के दौरान ऐसे काव्य-माध्यम की तलाश शुरू हुई जिससे नए जीवन-विधान की संगति हो और जो परम्परागत रूप-विधानों की रूढ़ियों से भी मुक्त हो, जिसमें नए सत्य के साक्षात्कार की क्षमता हो और जो आधुनिक परिस्थिति और संवेदना द्वारा पुष्ट और प्रमाणित भी हो। इस तलाश के सिलसिले में ही 'लम्बी कविता' का विशिष्ट रचना-विधान उभर कर सामने आया है।' (पृष्ठ 1—2) लम्बी कविता की तलाश ने हिन्दी कविता के क्षेत्र में नए संदर्भों और प्रतिमानों को उभारने में मदद दी और इस तरह लम्बी कविता परम्परागत रुचि के लिए एक चुनौती सिद्ध हुई।

इस पुस्तक में लम्बी कविताओं की व्यावहारिक समीक्षा का भी एक विशिष्ट संदर्भ उभरा है। हिन्दी की विशिष्ट कविताओं में जहाँ एक ओर 'परिवर्तन' (पन्त), प्रलय की छाया' (प्रसाद), 'राम की शक्तिपूजा' (निराला), 'मुक्ति-प्रसंग' (राजकमल चौधरी) आदि कविताओं के रचना-विधान का विश्लेषणात्मक निरूपण देखने को मिलता है वहीं दूसरी ओर सौमित्र मोहन, बलदेव वंशी, धूमिल, लीलाधर जगूड़ी, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, रामदरश मिश्र, रमेश गौड़ आदि नवीन प्रतिभाओं की लम्बी कविताओं के समीक्षात्मक मूल्यांकन से भी पाठक वंचित नहीं रह पाता। सन् 1921 से लेकर 1974 तक की लम्बी कविताओं की एक सुसम्बद्ध परम्परा को यह पुस्तक पहली बार प्रस्तुत करती है, जो इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है।

लम्बी कविताओं का 'रचना-विधान' पुस्तक में लम्बी कविता के सैद्धांतिक पक्ष का विश्लेषण भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ है। सम्पादक के अतिरिक्त कुछ समीक्षकों ने अपने निबन्धों के दौरान लम्बी कविता के प्रति अपनी धारणाओं को भी स्पष्ट किया है। डा० नित्यानन्द तिवारी की धारणा है कि लम्बी कविता का प्रमुख लक्षण विविधता है जिसमें दृश्य, दृष्टि और विचार की भूमिका रहती है जिसका विधान द्वन्द्वात्मक रूप में उभरता है। डॉ० राजकुमार शर्मा का विचार है कि लम्बी कविता में कवि अपने काव्यानुभवों और रचना-प्रक्रिया को तथा उस पर सामाजिक दबावों को प्रकट करना चाहता है जिसे वह अनुभवों की जटिलता की टकराहट के माध्यम से व्यक्त करता है। उसके पाठक को उसके वैचारिक दायित्व का आभास मिलता है जो छोटी कविता में संभव नहीं होता। डॉ० हरदयाल का मत है कि आधुनिक युग में प्रबन्ध काव्यों का स्थान लम्बी कविताओं ने ले लिया है। उसे एक स्वतंत्र काव्यरूप के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। लम्बी कविता के प्रस्फुटन का मूल कारण व्यक्तिवादिता का विकास है। आज के युग में कवि प्रबन्ध-काव्य की संरचना न करके लम्बी-कविता की रचना अधिक करता है क्योंकि वह अनुभव की चुनौती के रूप में रखने का प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त लम्बी-कविता के सैद्धांतिक पक्ष का विस्तृत विवेचन सम्पादक की ओर से अपने सम्पादकीय 'आख्यान से बिम्ब से विचार तक की अन्तर्यात्रा' में किया गया है। लम्बी कविता क्या है? उसका वैशिष्ट्य क्या है। उसके लक्षण क्या हैं? पहली लम्बी कविता किसे माना जाए? वह अन्य काव्य-रूपों से किस तरह भिन्न है? उसके वर्गीकरण के आधार क्या हों? आदि प्रश्नों पर यहां विस्तार से चर्चा की गई है। उनके अनुसार लम्बी कविता वह है जो ऊपर से अराजक एवं विशृंखल होती है किन्तु उसमें एक अन्विति होती है। बिम्ब और विचार का तनाव लम्बी कविता की संरचना का मूल आधार है। उसी से तनाव और विश्रान्ति का सन्तुलन भी संभव है। लम्बी कविता के सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट रूप से घोषणा की है कि लम्बी कविता पर छोटी कविता या प्रगीत की अन्विति के नियम लागू नहीं किए जा सकते। प्रगीतात्मक अन्विति की अभ्यस्त दृष्टि से इसका जायज़ा या विश्लेषण भी नहीं किया जा सकता।' (पृष्ठ 4)

सम्पादक एवं अन्य समीक्षकों की मान्यताओं से यह पता चल जाता है कि प्रगीत और लम्बी कविता में विशेष अन्तर है। प्रगीत में लय और छन्द का महत्व अधिक होता है और इसमें कवि भावात्मक धरातल पर बिम्ब की प्रस्तुति करता है। उसमें वैचारिक दायित्व का आभास न देकर लयात्मकता, माधुर्य, लालित्य आदि गुणों की अभिव्यक्ति करता है जबकि लम्बी कविता में इन तत्वों की विद्यमानता रहते हुए भी वैचारिक दायित्व; दृश्य, और विचार का सन्तुलन; तनाव और विश्रान्ति तथा ऊपरी अराजकता और विद्रोह, विशृंखलता में अन्विति आदि तत्वों की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। इस तरह पुस्तक में लम्बी कविता की अनेक नवीन मान्यताओं का संकेत मिल जाता है। इससे बहस की अनेक संभावनाएं हमारे सामने उठ सकती हैं।

इस पुस्तक में लम्बी कविताओं की समीक्षा करते हुए समीक्षकों का प्रयास उसके रचना-विधान को विश्लेषित करना है, जिसमें वैविध्य झलकता है। जब कोई समीक्षक कविता की समीक्षा में काव्यानुभूति को विश्लेषित करके उसके रचना-विधान एवं अनुभव-विधान तथा उसमें निहित विचार की पर्तों को धीरे-धीरे खोलता हुआ आगे बढ़ता है तब वह समीक्षा-पद्धति निष्पक्ष एवं पूर्वाग्रह-रहित प्रतीत होती है। यह समीक्षा कृति के कलात्मक पहलुओं को उजागर करती है जिससे कलाकार की सजगता, कुशलता एवं शिल्प-चातुर्य का पता चलता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रचना का वैशिष्ट्य कलाकार की शिल्पगत सजगता पर ही अधिक निर्भर करता है क्योंकि कृति का यही पक्ष कलाकारों के मध्य पार्थक्य का बिन्दु होता है। आधुनिक हिन्दी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आलोचना में कृति पर केन्द्रित रहकर काव्यालोचना की पद्धति विकसित हुई है। दूसरी ओर जब कोई समीक्षक समीक्षा के समय अपनी ओर से किसी विचारधारा या पूर्वाग्रह को लेकर पाठक को समझाते हुए कृति को विश्लेषित करता है तब उसका समीक्षक पक्ष प्रमुख हो जाता है। वह रचना समीक्षक की धारणा के अनुरूप अपना स्वरूप धारण कर लेती है। इसमें समीक्षक रचना की व्याख्या पर उतना केन्द्रित नहीं रह पाता जितना कि वह व्याख्यायित करने वाले बाह्य विचारों, घटनाओं एवं संदर्भों पर। प्रस्तुत पुस्तक में समीक्षा की दोनों पद्धतियों का परिचय मिल जाता है। इससे समीक्षा के अनेक आयाम उभरकर सामने आये हैं। इसमें एक ओर डॉ० नित्यानन्द तिवारी ने 'प्रलय की छाया में 'संरचनात्मक अद्वितीयता और जटिल काव्यानुभूति' को महत्व दिया है तो दूसरी ओर डॉ० रमेश कुन्तल मेघ ने 'मुक्ति-प्रसंग' में "कविता से हटकर पतनशील राजनीति की कविता" की झलक को बड़े ही सुलझे हुए ढंग से अभिव्यंजित किया है। जहां डॉ० हरदयाल 'परिवर्तन' में 'रागात्मक और वैचारिक आयाम' की पर्तों को खोलते नज़र आते हैं तो डॉ० रामदरश मिश्र 'अंधेरे में' कविता में 'संवेदना का नाटकीय विन्यास और प्रगतिवादी स्वर' को उभारने की चेष्टा करते हैं। इसी तरह डॉ० माहेश्वर ने 'आत्महत्या के विरुद्ध' में 'नेपथ्य से : भाषा और शिल्प के मोर्चे पर' प्रकाश डाला है तो डॉ० राजकुमार शर्मा ने 'नाटक जारी है' को 'अधूरे यथार्थ का विसंगत नाटक' घोषित किया है। इतना ही नहीं यदि श्री गुरचरण सिंह मोंगिया ने 'लुकमान अली' में 'संवेदनात्मक सोपानों के साथ एक समानान्तर विचारयात्रा' को खोजने का प्रयास किया है तो श्री राजीव सक्सेना ने 'उपनगर में वापसी' में 'शहरी लैंडस्केप में यातनाग्रस्त और त्रस्त मनुष्य की गाथा' की झलक देखी है और श्री बलदेव वंशी ने 'पटकथा' में 'एक अजीब-सी प्यार भरी गुर्राहट' को पाया है। इस तरह प्रस्तुत समीक्षकों की दृष्टि अनेक आयाम लिए हुए है। कहीं-कहीं समीक्षकों ने अपनी समीक्षा-दृष्टि को स्पष्ट करने का भी प्रयास किया है जैसे डॉ० नित्यानन्द तिवारी समीक्षा के दौरान लिखते हैं कि "जब मैं शिल्प का प्रयोग करता हूं तो मेरा तात्पर्य कवि-कर्म के सचेत प्रयास पर बल देना है। मैं उस धारणा का महत्व कम करना चाहता हूं जो अनुभूति की तीव्रता और सच्चाई के कारण भाषा और शैली को माध्यम मानकर उसे गौण बना देती है। जब मैं शिल्प को आवयविक कम्पन कहता हूं तो उसे अलंकरण की रीति न मानकर उसे अनुभूति के जीवन में ही सन्निविष्ट मानता हूं। जब मैं कविता को स्वतंत्र जीवन-प्रक्रिया कहता हूं तो उसमें विद्यमान गतिशीलता को गौरव देना चाहता हूं जो अर्थ-प्रतीति नहीं, अर्थ-प्रतीति के लिए शक्ति केन्द्र है।" (पृष्ठ 43) डॉ० हरदयाल, डॉ० रमेश कुन्तल मेघ, डॉ० राजकुमार शर्मा, डॉ० माहेश्वर की समीक्षा में बाह्य विचारों, संदर्भों, घटनाओं का अधिक आश्रय ग्रहण किया है जबकि डॉ० नित्यनन्द तिवारी ने मात्र रचना पर केन्द्रित रहकर उसकी आन्तरिक अन्वितियों की पर्तों को खोला है। शेष समीक्षकों की समीक्षा में मिला-जुला रूप देखने को मिलता है। अत: यह पुस्तक नवीन काव्यालोचन की पद्धतियों का अच्छा उदाहरण पेश करती है।

यह पुस्तक अपने आप में काफी नवीनता लिए हुए है। इससे पूर्व हिन्दी की लम्बी कविताओं को लेकर ऐसा प्रयास नहीं किया गया है। यह निश्चय ही इस दिशा में किया गया पहला प्रयास है। लम्बी कविता के सामान्य सिद्धान्तों के अभाव के कारण एकरूपता बेशक न हो, लम्बी कविता के रचना-विधान पर उनसे प्रकाश जरूर पड़ा है। कुल मिलाकर 'लम्बी कविताओं का रचना-विधान' पुस्तक हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में एक नवीन कड़ी और नयी बहस के रूप में अपना महत्वपूर्ण योगदान देगी।

लम्बी कविताओं का रचना-विधान—सम्पादक डॉ० नरेन्द्र मोहन, दी मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड, प्रथम संस्करण, पृ० 232 मूल्य : 28.00

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० लक्ष्मी नारायण शर्मा
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

चिंतन का एक सीमान्त

तुलसीदास : नये साक्षात्कार

हिन्दी आलोचना तथा काव्य शास्त्रीय प्रतिमानों को बरबस ही यदि किसी रचनाकार ने व्यामोहित और प्रकारान्तर से रूपायित किया है, तो उस रचनाकार का नाम तुलसीदास है। अनुसंधान के क्षेत्र में भी यही बात उजागर होती है जब हम देखते हैं कि हिन्दी के प्रथम पाँच शोध प्रबन्धों में से तीन का सम्बन्ध तुलसी अथवा उनकी रामकथा से था। इतना ही नहीं, मध्यकाल के इस रचनाकार को आधार बनाकर ही लगभग प्रत्येक समीक्षा-पद्धति साहित्य में प्रवेश पा सकी। इसे परम पावन रामवृत्त की महिमा माना जाए अथवा तुलसी की रचनाधर्मिता को इसका श्रेय दिया जाए, वह बात दूसरी हैं; किन्तु जैसे रीतिकाव्य से सम्बद्ध कविजनों के लिए आचार्यत्व की मुहर आवश्यक थी, वैसे ही समीक्षा के क्षेत्र में पदार्पण के लिये तुलसी-समीक्षा की सही जैसे एक अनिवार्य विवशता हो गई है। अन्तर केवल इतना है कि मध्यकालीन आचार्य-विशेष का स्थान आज पद्धति-विशेष ने ले लिया है। प्रवर्त्तन की दृष्टि से देखा जाए तो तुलसी सम्बन्धी गवेषणा का श्रेय भी एक विदेशी विद्वान को जाता है। ईस्वी सन् 1866 में ग्रियर्सन ने रायल एशियाटिक सोसायटी का प्रतिनिधित्व करते हुए इन्टरनेशनल ओरियंटल कान्फ्रेंस में अपना एक शोध-निबन्ध प्रस्तुत किया जिसका शीर्षक था—हिन्दुस्तान का मध्यकालीन इतिहास और तुलसीदास का विशिष्ट सन्दर्भ।' इसी निबन्ध में उन्होंने घोषणा की—"बुद्धदेव के बाद उत्तरी भारत के सबसे बड़े लोकनायक तुलसीदास थे।" गोस्वामी तुलसीदास पर प्रकाशित डॉ० जयप्रकाश की समीक्षाकृति 'तुलसीदास : नये साक्षात्कार' का प्रारम्भ डॉ० ग्रियर्सन की इसी टिप्पणी से होता है।

मानसकार के इस नये साक्षात्कार में चार निबन्ध हैं जिन्हें समीक्षक की निजी चेतना के चार स्तर कह दिया जाए तो अत्युक्ति नहीं होगी। इन चार स्तरों में से प्रत्येक का सम्बन्ध किसी न किसी विशिष्ट भाव-बिन्दु से है जिसने जाने-अजाने एक शीर्षक ग्रहण कर दिया है। यह ग्रहण क्या कहीं प्रयत्नज भी हो गया है, इस पर विचार करने से पूर्व इन शीर्षकों को देखना उपयुक्त होगा। चार शीर्षक हैं— (i) लोकनायक की भूमिका और अगदित यथार्थ, (ii) कुछ निर्धूम : अन्तर्दाहों में झुलसते हुए, (iii) रचना का संकट और कवि कर्म की सार्थकता, तथा (iv) स्वकाल की पारिभाषिकता और उसकी प्रामाणिक रचना।

प्रथम शीर्षक के अन्तर्गत पहले लोकनायक की चर्चा का आरम्भ है। इस आरम्भ का प्रस्थान बिन्दु डॉ० ग्रियर्सन की वह घोषणा (जिसका उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है)। तुलसी महिमा सम्बन्धी उस अमोघ वाक्य ने परवर्ती हिन्दी आलोचना को पर्याप्त समय तक आक्रान्त रखा, ऐसा डॉ० जयप्रकाश का अभिमत है और शायद अपने इसी अभिमत के कारण उन्हें लगा है कि ग्रियर्सन द्वारा तुलसी की समन्वयकारी बुद्धदेव से की गई तुलना के कारण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे पुराधाओं ने तुलसी के लिए लोकनायक जैसे महिमामय विशेषणों की परिकल्पना की। यह क्रम आज तक अबाध गति से चला है। लोकनायक के चर्चा की इसी आधारभूमि पर अगले उपशीर्षक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं—बुद्धदेव की समतुल्यता, समन्वय बुद्धि का अभिनन्दन, समन्वय के विपरीत अक्ष, समन्वय बुद्धि की सामाजिक मीमांसा तथा तुलसी की लोकसिद्धि। इन उपशीर्षकों का संयोजन अनुक्रम में है, विवेचन में नहीं। फलतः इन्हें प्रस्तोता की निष्पत्तियों का रेखांकन कहना अधिक उचित होगा।

दूसरे शीर्षक के अन्तर्गत नियोजित लेखकीय विवेचन मानसकार की अन्तर्यात्रा का प्रथम प्रामाणिक साक्षात्कार हमें लगा है। एक स्थल का साक्ष्य है—"अनुभवों की मानसिक अन्तर्यात्रा में कवि शिशुता की याचकता को छोड़कर शान्ति पाने के लिए यौवन की मादकता तक पहुंच कर एक चरण पूरा करता है। दूसरा आयाम कामगत असंतोष से आरम्भ होता है तथा उसके गृह-अभिनिष्क्रमण तक एक और चक्र की रचना करता है। तुलसी शिशु से याचक, याचक से विरह विधुर प्रेमी और विरही से कवि बनते हैं। उनके व्यक्तित्व का यह क्रमागत रूपान्तरण अनुभवों की दारुण तीव्रता को उनकी कला में अक्षरित करता जाता है।" अन्तर्दाहों से झुलसती महाकवि की मन-प्राण व्यथा में कहीं-कहीं लेखक भावप्रवण हो उठा है, जो उसके आलोचक के लिए एक खतरा हो सकता है। तीसरे तथा चौथे शीर्षकों के अन्तर्गत नियोजित अध्याय पर्याप्त चिन्तन तथा कहीं-कहीं परिश्रम से लिखे गए जान पड़ते हैं। रचना का संकट और कविकर्म की सार्थकता सम्बन्धी विवेचन तुलसी की कविता-पंक्तियों के अतिरिक्त विभिन्न काव्यकृतियों के आन्तरिक एवम् संरचनागत साक्ष्य से पुष्ट होने के कारण उपयोगी होने के साथ-साथ तुलसी सम्बन्धी आलोचना के एकाधिक नये सन्दर्भ-क्षितिजों का संधान करता प्रतीत होता है। रामलला नहछू से सम्बन्धित विवेचन में आलोचक काफी रम गया लगता है। कवितावली तथा 'विनय पत्रिका' के सम्बन्ध में जयप्रकाश जी ने जिन सूत्रों को पकड़ने की कोशिश की है, उन पर विस्तृत विवेचन अपेक्षित था। 'दारिद दसानन' वाला कवितावली का सन्दर्भ एक बार डॉ० रमेश कुन्तल मेघ ने उठाया था। उसे आगे बढ़ाया जाना चाहिए था। यहाँ कुन्तलीय पद्धति की चर्चा हम सोद्देश्य कर रहे हैं क्योंकि आलोचक ने अपनी कई प्रतिपत्तियों का आधार 'वातायन' को बनाया है। फैण्टेसी और वास्तविकता के विकल्प तथा आत्ममुक्ति की प्रक्रिया विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करते हैं। चतुर्थ और अन्तिम अध्याय का आधार-फलक प्रमुखत: महाकवि के परिवेश को रेखांकित करता है। उसमें दी गई कुछ सूचनाएं तुलसी भक्तों के लिए उत्तेजक हो सकती हैं। डॉ० जयप्रकाश का आलोचक जहां मत-वैमत्य के जाल में उलझता है, वहां उसका शैलीशास्त्र शिथिल हो जाता है और जहाँ वह अपनी बात कहता हैं, वहां वैचारिक परिमार्जन भी दिखाई देता है और प्रतिपादन भी निर्दोष हो जाता है।

प्रथम निबन्ध में आलोचक तुलसी तथा उनके सम्बन्ध में प्रचलित प्रशस्ति वाक्यों के प्रति आक्रोश की भंगिमा में बात करता है। आगे चलकर यह आक्रोश समर्पण-भाव में परिणत हो गया प्रतीत होता है। ऐसा संभवत: रचनाकार और उसकी अन्तर्यात्रा के प्रत्यक्ष साक्षात्कार के कारण हुआ है। इस अन्तर्यात्रा में शायद आलोचक की अपनी किन्हीं यात्राओं के मर्म भी उद्घाटित हुए हैं, (उदाहरण के लिए विरह विधुर तुलसी मनोव्यथा की सीतान्वेषण-रत राम की भंगिमा में तलाश) किन्तु उन्हें रेखांकित कौन करे?

तुलसीदास : नये साक्षात्कार—लेखक डॉ० जयप्रकाश, ऋषि प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण 1977, पृ० 156, मूल्य तीस रुपये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीच ते ऊच कीओ मेरे सतिगुर

डॉ० यश गुलाटी
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़ ।

हिन्दी साहित्य के मध्यकालीन संतों में अग्रगण्य संत रविदास की षष्ठ जन्म-शती के अवसर पर जो ग्रंथ उनके जीवन-वृत्त, दर्शन, साधना और काव्य के सर्वांगीण-विवेचन की दृष्टि से प्रणीत हुए हैं, उनमें डॉ० धर्मपाल सरीन का विवेच्य ग्रन्थ कई दृष्टियों से विशिष्ट एवं उल्लेखनीय कहा जा सकता है !

डॉ० सरीन की पुस्तक छः अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय के अन्तर्गत लेखक ने कवि के नाम, जन्म-समय, जन्म-स्थान, परिवार, जाति, शिक्षा, स्वभाव आदि मुद्दों पर विशेष रूप से विचार किया है। अद्यावधि उपलब्ध सभी स्रोतों का सम्यक् विवेचन एवं विश्लेषण करते हुए लेखक ने तर्क-सम्मत निष्कर्षों पर पहुंचने का प्रयास किया है। अन्तः साक्ष्य एवं बहिर्साक्ष्य दोनों का समुचित उपयोग करते हुए लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि रविदास जी को किसी पाठशाला में नियमित शिक्षा प्राप्त करने का अवसर तो नहीं मिला था परन्तु उन्हें भारतीय आध्यात्मिक विचारधारा का अच्छा ज्ञान था और वे अपने मत को सप्रमाण प्रस्तुत कर सकते थे। 'अनुभौ साँच' ही उनकी वास्तविक कसौटी थी जिस पर वे सभी मत-मतांतरों को परखा करते थे। डॉ० सरीन ने इस अध्ययन में जिन विवादास्पद प्रश्नों को उठाया है उनमें कतिपय महत्त्वपूर्ण ये हैं—क्या रविदास रामानंद के शिष्य थे ? क्या मीरां के वे दीक्षा-गुरु थे ? क्या वे संत कबीर और गुरु नानक के समकालीन थे ? डॉ० सरीन ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि उन्हें न तो रामानंद का शिष्य माना जा सकता है और न ही मीरां का गुरु। वे कबीर और नानक के समकालीन अवश्य प्रतीत होते हैं। द्वितीय अध्याय में रविदास के परिवेश का निरूपण हुआ है। लेखक ने परिवेश और व्यक्तित्व के परस्पर प्रभाव के प्रश्न पर मौलिक दृष्टि से विचार करते हुए तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और साहित्यिक परिवेश में विद्यमान उनके व्यक्तित्व-निर्माण और वाणी-प्रणयन के प्रेरणा सूत्रों का अनुसंधान किया है। डॉ० सरीन यह मानते हैं कि सन्त-साहित्य के निर्माण में तत्कालीन परिस्थितियों का महत्त्वपूर्ण योगदान था। यह धारणा रविदास जी की वाणी के सन्दर्भ में भी उतनी ही सत्य है। अतएव यह अध्याय रविदास के व्यक्तित्व और रचना को समझने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। तृतीय अध्याय विवेच्य पुस्तक का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अध्याय है जो कि रविदास के व्यक्तित्व पर नितांत नवीन, अछूता और मौलिक प्रकाश डालता है। पहली बार इस महान् संत, विचारक और कवि के व्यक्तित्व को आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के आलोक में देखने का सत्प्रयास हुआ है। वंशानुक्रम और वातावरण के घात-प्रतिघात ने रविदास को किस तरह प्रभावित किया, यह तर्क संगत दृष्टि से दिखाया गया है। विद्वान आलोचक ने इस दृष्टि से क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त को विशेष महत्त्व दिया है। इसके अतिरिक्त रविदास के व्यक्तित्व के विविध पक्षों का भी अच्छा विश्लेषण किया गया है। लेखक के सभी निष्कर्षों से प्रत्येक पाठक का सहमत होना संभव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है परन्तु यह स्वीकार करना होगा कि इस में प्रस्तुत सामग्री से न केवल रविदास जी के व्यक्तित्व को समझने का एक नया पक्ष सामने आया है बल्कि मध्यकालीन अन्य संतों के व्यक्तित्व के बोध की एक नई दिशा भी प्राप्त हुई है ।

चतुर्थ और पंचम अध्यायों में रविदास की भक्ति-पद्धति और दार्शनिक-मान्यताओं का विवेचन है । इनके अन्तर्गत बहुत मौलिक स्थापनाओं का अवकाश नहीं था क्योंकि इन के विषय में पहले भी कई विद्वान अपना मत व्यक्त कर चुके हैं, फिर भी लेखक की निष्पक्ष दृष्टि, अपने निष्कर्षों को सप्रमाण और तर्क संगत प्रणाली से प्रस्तुत करने की क्षमता अवश्य पाठक को आकृष्ट करती हैं ।

षष्ठ अध्याय में रविदास के काव्य-सौष्ठव का विवेचन हुआ है । डाक्टर महोदय मानते हैं कि रविदास ने कविता करने के लिए कविता नहीं की तथा उन्हें काव्य-शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला था लेकिन सत्संगति और नैसर्गिक प्रतिभा ने उनकी इन कमियों को काफ़ी सीमा तक प्रच्छन्न कर दिया था । उनके काव्य का श्री गुरु ग्रन्थ साहिब में सम्मिलन उनके उच्चकोटि के कवित्व का सबसे बड़ा प्रमाण है । प्रस्तुत अध्याय में रविदास की भाषा, छंद-योजना, अलंकार-विधान, प्रतीक-योजना, शैली आदि पर काफी गहराई से विचार किया गया है ।

ग्रन्थ के अन्त में श्री गुरु ग्रन्थ साहिब में संकलित और वेलवीडियर प्रेस द्वारा प्रकाशित 'रैदास जी की वाणी' के पदों के सम्मिलन से पुस्तक की उपादेयता में वृद्धि हुई है ।

समग्रत: यह कहा जा सकता है कि रविदास जी पर प्रकाशित पुस्तकों में यह पुस्तक निजी एवं विशिष्ट महत्त्व की अधिकारिणी है । इसके लेखक की निर्भ्रान्त दृष्टि, विवेचन क्षमता और निजी विचार को सम्प्रेषित करने का सामर्थ्य पाठक को विशेष रूप से प्रभावित करते हैं ।

नीच ते ऊच कीओ मेरे सतिगुर—डॉ० धर्मपाल सरीन, एस. चाँद एण्ड कम्पनी लि० रामनगर, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1977, पृ० 150, मूल्य तीस रुपये ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हस्तलेख-परिचय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० बेणी प्रसाद शर्मा
हिन्दी विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

चरणदास की रचनाएं

(गतांक से आगे)

गतांक में पंजाब विश्वविद्यालय लाइब्रेरी से प्राप्त अमर लोक, ज्ञान स्वरोदय और डॉ० धर्मपाल मैनी से प्राप्त, चरणदास के शिष्य ज्ञानानंद द्वारा रचित 'कृष्ण चरित' का विवरण आपने पढ़ा है। प्रस्तुत पाण्डुलिपि, जिसका विवरण नीचे दिया जा रहा है, मुझे डॉ० कैलाश चन्द्र सिंहल, हिन्दी विभागाध्यक्ष गवर्नमैन्ट कालेज लुधियाना से अध्ययनार्थ मिली थी। डा० सिंहल को यह पाण्डुलिपि अपने गांव शाहाबाद के एक प्राचीन मंदिर से उपलब्ध हुई थी।

पांडुलिपि विवरण :—इस हस्तलेख का शीर्षक कोई नहीं दिया गया है। प्रथम पन्ने पर इतना ही लिखा है :—"अथ चरणदास कौ ग्रन्थ लिष्यते" पोथी का आकार 5" × 4" है। लिपि देव-नागरी है और लिपि-काल कहीं पर भी नहीं दिया गया है। इसमें कुल दस रचनाएं हैं और प्रत्येक रचना एक नए पत्रक से प्रारम्भ की गई है।

प्रथम रचना—"बृज बिहार-अथ श्री चरनदास कृत बृज विहार लिष्यते"। पत्रक 1—9 तक कुल 65 दोहा चौपाई हैं

उदाहरण :—

लिषै पढ़ समझ विचार करि,
सदा करो हरि ध्यांन।
कृष्ण भगति डिढ़ करण हो,
मिटे सकल अग्यांन ।।

कवित्त सांगीत :—

मुकुट जटित सिर अधिक विराजत,
गहै बंसुरिया अधरधरं।
संषं गदा पद्म विराजत,
कोट मदन छवि वरननं।
गिरवर नष धारै असुरन मारै,
संतन कै दुष हरननं।
जन चरनदास चरनन कौ चेरौ,
सदा रहै गिरधर सरनं।

2 अमर लोक 1—28 पन्नों तक ; 51 दोहा—चौपाइयों में समाप्त
उदाहरण—चौपाई

लगे चंदोवा झालर मोती,
मानौं उड़गिन झिलमिल जोती।
झालर बनी चंदोवा केरी,
दिव्य दिष्ट साधन कर हेरी।
तापर रंगमहल की शोभा,
चेतन आनंद सुष की गोभा।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

3—ज्ञान स्वरोदय । "अथ चरनदास कृत ज्ञान स्वरोदय लिष्यते" पन्ना 1—से 26 तक 104 दोहा-चौपाई। यह अपूर्ण रचना है, पूर्णता के लिए पोथी में कुछ पन्ने खाली छोड़े हुए है।

उदाहरण—

"बहते स्वर पै आयकर, जा पूछै सुन और
जेते कारज जगत कै, उलटे होहि विध कौर।
कैर वा यौ कै दाहने, जौ कोई पूरन होय।
पूछै पूरन और ही, कारज पूरन होय।

4—"अथ मन विरक्त करन गुटका सार लिष्यते"। 1—20 पन्नों तक 99 दोहा चौपाई एवं अष्टपदी छंदों में यह रचना है।

5—"अथ ब्रह्म ज्ञान सागर लिष्यते।35वें पन्ने तक 106 दोहा-चौपाई एवं कवित्ता छंदों में यह रचना है। 35वें पन्ने के दूसरी ओर—"अथ ब्रह्म के ज्ञान लक्षन वरनंते" 36वें पन्ने पर "संदेह सागर लिष्यते"। 22 दोहा चौपाई।

6—"अथ भक्ति पदारथ लिष्यते" 1—से ४5वें पन्ने तक 201 दोहा-चौपाइयों में यह रचना है।

7—धर्म जहाज-गुरु-चेले का संवाद। 1—35 पन्ने तक 178 दोहा-चौपई हैं।

8—"अथ नासिकेतोपाष्यान लिष्यते" 1—85 पन्नों तक अष्टादशोध्याय:। कृष्ण चरित वर्णन तथा ज्ञान वर्णन।

उदाहरण:—

विष्नु भगति मैं मन नहीं दीन्हा,
गुरु सेवा का नेम न लीन्हा।
साधौ की सेवा नहि जानी।
तीरथ किये न परब पिछानी।
गुरु का कबहूं नाम न लीया,
कबहूं पापी हो मन कीया।
परमेसर का जप नहीं साधा,
जोग जुगत कभउ नहीं आराधा।
पांचौं इन्द्री बस नहीं कीन्हीं,
भली वस्त काहू नहि दीन्हीं।
कथा कीरतन मैं नहीं गया,
हरि सौं बेमुष दुष्टी भया।

इसी प्रकार "अष्टांग योग, स्वरोदय, उपनिषद, गुटका सार, ब्रह्मज्ञान, शब्द" विभिन्न विषयों पर दोहा-चौपाई एवं फुटकल कवित्त हैं। चरनदास कृत लिष्यते" प्रकरण 1—34 पन्नों तक 60 छंदों में विभिन्न प्रकरण हैं। प्रारम्भ—"श्री कृष्ण सुभ देव चर्न सहाय"

बंसी वट की छांहि हेलि,
लाल लाड़ली मैं लषे दोऊ।
षड़े गांवैं हंसें अरी हेली
और डारैं गल बांह
मोर मुकुट माथे दये री,
अरि हेली सुन्दर नैन विसाल।
पीताम्बर पट सोहनो,
कर मुरली उर माल।
वाके विराजै चंद राका री,
अरि हेली लाल बसन जरतार।
नष सिष भूषन सोहनो,
और फूलन के हार।
गुरु सुषदेव बताइआ री,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अरि हेलि जब हम लियौ पिछान ।

चरनदास तिन की भई,

लगो रहे बुही ध्यान ।

भक्ति पदार्थ से एक अन्य उदाहरण—

हरि चरचा बिन जो बकै, सो कूकर की भूंस

रनजीत कहै वह सऽझ लौ, षाय बूंस की बूंस ।

जो पावै सोई चरै, करै नहीं पहचान ।

पीठ लहै हरि नां भजै ताकूं षर ही जांन ।

इस प्रकार अनेक विषयों से परिपूरित यह पाण्डुलिपि है । अन्तिम दोहा इस प्रकार है :

जल घृत सूं रिक्ष्या करो, मूरष हाथ न देव ।

ढीलौ कर नहिं बाधियौ, ग्रंथ कह यहु भेव ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छब्बीसवां अंक, फरवरी, १९७८

मूल्य : पांच रुपये

प्रकाशक तथा वितरक

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

डॉ० धर्मपाल मैनी द्वारा सम्पादित और अकाल प्रिंटमैटिक्स, एस०सी०ओ० 81, सैक्टर 24-सी, चण्डीगढ़ द्वारा मुद्रित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाब यूनिवर्सिटी चण्डीगढ़

28/6/74

२७

परिशोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादक : डॉ० धर्मपाल मैनी

सह सम्पादक :

डॉ० मैथिलीप्रसाद भारद्वाज

डॉ० यश गुलाटी

क्रम

सम्पादकीय

प्रतिबद्धता बनाम अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता 1 डॉ० यश गुलाटी

शोध निबन्ध

स्थायित्व की धारणा और प्रेमचन्द-साहित्य 3 डॉ० श्याम नन्दन किशोर

साठोत्तरी हिन्दी कविता : शिल्प-गत प्रयोग 8 प्रो० जी० सुन्दर रेड्डी

रामचरित मानस और कामायनी 12 डॉ० वचन देव कुमार

प्रतीक : अर्थ के बदलते संदर्भ 19 डॉ० प्रभात

यार मुहम्मद : दिल्ली का मध्ययुगीन सूफ़ी साधक 28 डॉ० राजकिशोर पाण्डेय

साठोत्तरी निषेधात्मक कविता का सांस्कृतिक और सामाजिक पक्ष—एक झलक 33 डॉ० विश्वनाथ अय्यर

अर्थ-बोध और भाषा 39 डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा

युगीन नवोन्मेष के प्रथम महाकवि—विष्णुदास 43 डॉ० मदन गोपाल गुप्त

धर्मवीर भारती की वैष्णव परकीया—कनुप्रिया 51 डॉ० श्रीमती राजेन्द्र खोसला

गुरु अंगद देव जी के काव्य में ब्रह्म-साधना 54 श्री कुलदीप चन्द अग्निहोत्री

व्यष्टि अथवा समष्टि : अनिर्णय की स्थिति 58 श्री दिलजीत दिव्यांशु

भारत दुर्दशा तथा आधे-अधूरे की वेशभूषापरक रंगयुक्तियां 66 डॉ० वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता

कबीर-काव्य में उनके व्यक्तित्व की अभिव्यंजना 72 डॉ० ब्रह्मदत्त शर्मा

साहित्यकार के सन्दर्भ में प्रतिबद्धता की चर्चा 77 श्री रघुनाथ

हस्तलेख-परिचय

अहमद बख्श कृत रामायण 80 श्री राजेन्द्र स्वरूप वत्स

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पादकीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

PANJAB UNIVERSITY CHANDIGARH

प्रतिबद्धता बनाम अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता

समकालीन संदर्भ में लेखक-जगत् में जो दो मुद्दे बहुचर्चित हैं—वे हैं प्रतिबद्धता और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता। इन्हें जिस तरह लेखों-टिप्पणियों, चर्चाओं-परिचर्चाओं का विषय बनाया जा रहा है उससे वे परस्पर विरोधी दृष्टियों के सूचक प्रतीत होने लगते हैं। प्रश्न यह है कि क्या यह विरोध वास्तविक है या आरोपित? प्रतिबद्धता में निहित जो मूल विचार है वह लेखक के सामाजिक दायित्व का है। 'कला कला के लिए' को लेकर जो वाद-विवाद हुआ है उसमें भी इसी मुद्दे के पक्ष-विपक्ष में ही तर्क-वितर्क होता रहा है। 'कलावादी' जहां कला-जगत् की स्वायत्त-सत्ता के पक्षधर रहे हैं और उसमें किसी हस्तक्षेप अथवा किसी प्रकार की शिक्षा के अनुसंधान को कला के लिए घातक मानते रहे हैं, वहां 'जीवनवादी' कला की सार्थकता मनोरंजन, आनन्द अथवा सौन्दर्यानुभूति की परितुष्टि-मात्र में स्वीकार न करके उसको जीवन को श्रेष्ठतर और अधिक उदात्त बनाने का साधन स्वीकार करते रहे हैं। एक दृष्टि से देखा जाए तो प्रतिबद्धता का बीज-विचार भी यही है। अन्तर इतना ही है कि 'जीवनवादी' अपना दिशा-बोध मार्क्सवाद जैसी किसी विचार-धारा से नहीं पाता था। उसका दृष्टिकोण मूलत: नैतिक एवं व्यक्ति-केन्द्रित था। मानव-व्यक्तित्व में कैसे उदात्त जीवन-मूल्यों को प्रतिष्ठित किया जाए जिससे वह अपने व्यवहार-जगत् में सही अर्थों में 'मानव' बन सके, यही उसका प्रेरक-तत्त्व था। मार्क्स ने साहित्य में सामाजिक चेतना, साहित्यकार का सामाजिक दायित्व आदि प्रश्नों को उठाया है। मार्क्स के अनुसार मानवीय चेतना उसके अस्तित्व का निर्धारण नहीं करती वरन् उसका सामाजिक अस्तित्व उसका चेतना का निर्धारण करता है। मार्क्स और उसके अनुयायियों द्वारा, समाज-व्यवस्था की भौतिक एवं अर्थ-परक व्याख्या करते हुए, यह स्वीकार किया गया कि साहित्य भी समाज के आर्थिक-भौतिक धरातल से उद्भूत और नियत होता है। इस विचारधारा के अनुसार समाज के विकास में कला की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। उक्त मत के समर्थक अर्नेस्ट फ़िशर जैसे कतिपय मार्क्सवादी विचारकों ने साहित्य की सार्थकता न केवल श्रमिक-वर्ग (किसान, मजदूर) की पक्षधरता-मात्र में ही स्वीकार की वरन् इसके लिए मार्क्सवादी विचारधारा के आश्रय को भी अनिवार्य ठहराया। इस प्रकार की एकांगी और संकुचित दृष्टि का विरोध भी समानधर्मा दृष्टि से ही किया गया। नार्थरोप फ्राई जैसे अमरीकी आलोचकों ने कला और साहित्य के स्वायत्त संसार की दुहाई दी और यह कहा कि इसका विकास बाह्य ऐतिहासिक प्रक्रिया द्वारा निर्दिष्ट नहीं होता; यह तो अपना इतिहास स्वयं बनाता है। वस्तुत: इस बात से तो इनकार नहीं किया जा सकता कि साहित्य की सार्थकता यदि कोई है तो यही है कि वह यथा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संभव मानव-समाज की समस्याओं का समाधान करने में योग दे; समाधान न भी करे तो कम से कम उन मुद्दों को तो उजागर करे ही जो किसी विशिष्ट काल-खंड में मानव-समाज के सामने प्रश्नचिह्न बनकर खड़े हो जाते हैं। लेखक अपने पाठक-वर्ग में ऐसा बोध पैदा करे जिससे वह समकालीन स्थिति और उसके जनक कारणों को पूरी तरह से पहचान सके। इसमें सन्देह नहीं कि यदि उसे किसी का पक्षधर होना ही है तो वह युग-युगों से पीड़ित, दलित, शोषित एवं निष्पेषित जनसमूह का ही पक्षधर हो सकता है। प्रेमचन्द ने इसी को 'जनता की वकालत' कह कर रेखांकित किया था। आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी 'उस वाग्जाल को साहित्य मानने के लिए तैयार नहीं हैं जो मनुष्य को दुर्गति, हीनता और परमुखापेक्षिता से बचाने में समर्थ नहीं है। लेकिन प्रतिबद्धता और पक्षधरता के नाम पर साहित्य को मात्र प्रचार-माध्यम बना देना या साहित्य और प्रचार-सामग्री में अन्तर सम्बन्धी विवेक को दृष्टि-विगत कर देना भी ठीक नहीं लगता। यहां पर अवलोकनीय है कि स्वयं मार्क्स ने भी उस साहित्य की हिमायत नहीं की थी जो मात्र वर्ग-हित को वाणी देता हो और उसे विचारधारा का रूप ही प्रदान कर देता हो। वे इस प्रकार के साहित्य को उत्तम कोटि का साहित्य मानने के लिए तैयार नहीं थे। इस के अतिरिक्त फैशन के तौर पर प्रतिबद्धता और पक्षधरता के नारों को उछालना भी अनुचित ही प्रतीत होता है। लेखक द्वारा सामाजिक दायित्व का निर्वाह सामाजिक-चेतना को अपनी व्यक्ति-चेतना का अविभाज्य अंग बना कर ही किया जा सकता है। अतएव रचनाकार को 'छद्म-पक्षधरता' एवं 'कृत्रिम-प्रतिबद्धता' के स्थान पर, समाज-व्यवस्था की सच्ची पहचान, अपनी अनुभूतियों के प्रति ईमानदारी और अपने दायित्व के प्रति गहरी संलग्नता की। भावना को लेकर ही रचना के क्षेत्र में सक्रिय होना होगा।

साहित्यकार द्वारा अपने दायित्व का समुचित निर्वाह अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के बिना संभव नहीं है लेकिन बड़े आश्चर्य की बात है कि इसका विरोध भी प्रायः प्रतिबद्ध-लेखन के पक्षधरों द्वारा ही हो रहा है। वास्तव में रचनाकार को यदि समाज-परिवर्तन में कोई भूमिका निभानी है तो उसे सब से पहले अभिव्यक्ति को बाधित करने वाले सभी बन्धनों एवं नियंत्रणों से मुक्ति पानी होगी। यहीं नहीं, इसकी आवश्यकता तो तब भी रहेगी जबकि व्यवस्था का शोषणधर्मी रूप समाप्त हो जाएगा। श्रेष्ठतम व्यवस्था भी काल के दाग़ से दूषित हो जाती है, यह टेनिसन बहुत पहले कह चुके हैं। इसलिए लेखकीय-कर्म की पहली शर्त यह है कि उसे किसी भी बन्धन में न बाँधा जाए। यहाँ एक प्रासंगिक प्रश्न यह है कि क्या लेखक को अपनी कुंठाओं, ग्रंथियों और समाजविरोधी विचारधारा के प्रकटीकरण की निर्बाध स्वतन्त्रता दे दी जाए? इसका स्वीकारात्मक उत्तर किसी भी दायित्वबोध-सम्पन्न-प्रबुद्ध-व्यक्ति को स्वीकार्य नहीं हो सकता। पर सवाल यह भी है कि इस के निर्णय का अधिकार किसे दिया जाए? क्या शासन-तंत्र को? क्या लेखक-समुदाय को? इतिहास साक्षी है कि जब भी इसका अधिकार व्यवस्था के पास रहा है उसने इसका दुरुपयोग करने में संकोच नहीं किया। लेखक-समुदाय भी व्यवस्था के दबावों का सामना करने के सामर्थ्य का प्रमाण देने में असमर्थ रहा है। ऐसी अवस्था में ऐसी सामाजिक-चेतना के विकास की आवश्यकता है जो समाज-विरोधी, पतनोन्मुखी, उच्छृंखल-अभिव्यक्ति का विरोध भीतर से ही पैदा करे और इसे बाहर से नियंत्रित करने की आवश्यकता ही न पड़े। केवल ऐसी अवस्था में ही लेखक अपने सामाजिक दायित्व का निर्वाह कर सकता है और 'सही-लेखन' को 'छद्म-लेखन' से अलगाया जा सकता है।

यश गुलाटी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोध-निबन्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० श्यामनन्दन किशोर
राष्ट्रीय प्राध्यापक
बिहार विश्वविद्यालय,
मुज़फ्फरपुर

स्थायित्व की धारणा और प्रेमचन्द-साहित्य

इस नश्वर संसार में स्थायित्व का मूल्य सापेक्ष है। जो जितना कम नश्वर है, वह उतना ही स्थायी है—यही स्वीकार किया जाता है। अतः स्थायित्व तुलनात्मक दृष्टि पर आधारित है। साहित्य के क्षेत्र में स्थायित्व का प्रश्न और भी उलझन पैदा करने वाला है, क्योंकि वह तो क्षण-क्षण 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा' को उद्घाटित करने वाला है। साहित्यकार अपने समाज में जीता है और उस समाज की प्रेरणा को जाने-अनजाने संवारे रहता है, जिसे पूर्ववर्ती साहित्यकारों की देन कहा जाता है और फिर हर साहित्यकार से एक भविष्य के निर्माण का स्वप्न-संकेत अपेक्षित रहता है। इसी लिये साहित्यकार त्रिकालदर्शी हो कर अतीत, वर्तमान और भविष्य से जुड़ा रहता है। जो साहित्यकार अपने वर्तमान में जितनी ईमानदारी से जीता हैं, वह भविष्य के लिए उतनी ही मूल्यवान् सामग्रियां छोड़ जाता है। तात्पर्य यह कि जो भोगे हुए सत्य का सही चित्रकार है, वही अधिक-से-अधिक स्थायी होने का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। स्थायी होना निश्चित रूप से इस बात का द्योतक है कि उस साहित्यकार की वाणी चिरयुगीन है। शाश्वत सत्य का उन्मेषक साहित्यकार स्थायी मूल्य की रचनाओं का सृजन करता है, किन्तु यह वाक्य इस तथ्य को झुठला नहीं सकता कि प्रत्येक मूल्य युग-सापेक्ष होता है। सत्य चिरन्तन है, लेकिन उसके अनुभव की प्रक्रियाओं में अन्तर आ जाता है। जो बात कल लज्जा की थी, वह आज गौरव की हो सकती है। कल जो वायवीय स्वप्न थे, वे आज गहरे यथार्थ के धरातल पर प्रतिष्ठित हैं। आज जो विचार क्रान्तिकारी हैं, कल दकियानूस हो सकते हैं। छुआछूत, विधवा-विवाह, संतति-निरोध आदि कितनी समस्याएं हमारे पूर्वजों के लिये जिन रूपों में थीं, वे आज हमारे लिये कितनी भिन्न हैं। जो कल त्याज्य थे, वे आज ग्राह्य है, जो कल पाप थे, वे आज पुण्य हैं, क्योंकि बदलते हुए परिप्रेक्ष्य ने हमारी सामाजिक समस्याओं के अनुसार हमारी मान्यताओं को भी परिवर्तित कर दिया है और हम जिन्हें कल तक शाश्वत सत्य माने बैठे थे, वे आज परिवर्तित कथ्य के रूप में हमारे सामने उपस्थित हैं।

ज्ञान और विज्ञान के नये आलोक हमारी दृष्टियों को परिमार्जित कर देते हैं और हम नये सिरे से उन पर सोचने को विवश हो जाते हैं। एक बात स्थायित्व के क्रम में और ध्यान देने की है कि समस्याओं के निराकरण के बाद भी समस्याएं बनी रहती है। राम, कृष्ण, मुहम्मद, बुद्ध, ईसा और गाँधी न जाने कितने सन्त-तपस्वी और अवतार आते रहे और मानवता के उद्धार के नये-नये मार्ग प्रशस्त करते रहे, लेकिन आज भी समस्याओं का अन्त नहीं हो पाया है। युद्ध का भय बना हुआ है, अशान्ति का वातावरण फैला हुआ है और विश्व के चिन्तक के नये नये रास्ते ढूंढते जा रहे हैं। एक महात्मा की कब्र ढहती है, दूसरे की बननी शुरू हो जाती है।

मैं मानता हूं कि वाल्मीकि के समय के राम कोई और थे, तुलसी के समय के राम, रावण और, लेकिन वाल्मीकि में राम के द्वारा 'रावण के वध हो जाने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बाद भी रावण मरा नहीं। आज भी विश्व में राम-रावण की समस्या बनी हुई है, क्योंकि वे हमारे भीतर हैं, बाहर तो प्रतीकों की कथा कही गयी है। इसलिये समस्याएं समाधान पा जाती हैं और समाधान पाकर नये रूप धारण कर लेती हैं। जैसे एक दुर्बल व्यक्ति जब अपनी एक बीमारी का इलाज करता है, तो दूसरी बीमारी शुरू हो जाती है और दूसरी को दबा पाता है, तो तीसरी आरंभ हो जाती है। विष तो उसके शरीर में है। एक ओर दब कर दूसरी ओर से उमड़ता है। जब तक शरीर निर्विघ्न न हो, नीरोग होना कठिन है। मैं समझता हूं, यही मनोविज्ञान है साहित्य में स्थायित्व का। हर युग का सजग साहित्यकार अपने समय की समस्याओं का निदान ढूंढता है और उसके बाद आने वाला हर युग उन्हीं समस्याओं को कुछ बदले हुए रूप में उत्पन्न कर लेता है। यह चिरन्तन एक शाश्वतता धारण कर लेता है। प्रगति में भी अगति के बीज छिपे रहते हैं। ऐसा लगता है कि दौड़ कर आगे भागने वाला हर पन्थी अपने पीछे पाँव के निशान छोड़ता चला जाता है। इतना निश्चित रूप से मानना ही पड़ेगा कि जो साहित्यकार अपने युग का जितना सजग और सही चित्रकार होगा, उसकी रचनाओं में उतना ही स्थायित्व आ सकेगा, क्योंकि जो अपने समय का सही प्रतिनिधि नहीं है, वह दूसरों के लिये भविष्य का निर्माण नहीं कर सकता।

प्रेमचंद भारत के एक ऐसे कथाकार हैं, जिन्होंने इस परतंत्र देश के तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलनों का साथ देकर ही अपने कर्त्तव्य का पालन ही नहीं किया, वरन् एक कलम का सिपाही बन कर उन तमाम राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक शोषणों से जमकर लड़ाई की जिनके फलस्वरूप हमारा देश विदेशी एवं स्वदेशी दासता का शिकार था। यह एक और ध्यान देने की बात है कि इतिहास के आधुनिकतम अनुसंधानों ने यह प्रमाणित किया है कि भारत में किसानों का सर्वाधिक शोषण तत्कालीन अवध के इलाके में था जिसने प्रेमचंद जैसे संवेदनशील लेखक को किसानों का सबसे बड़ा वकील बना दिया था। दुःख की बात तो यह है कि भारतीय किसान जिसके हाथों सबसे अधिक तबाह हो रहे थे, वह भारतीयों का ही, जमींदारों और ताल्लुकदारों का वर्ग था। बिहार, आसाम और मालाबार में जिस प्रकार का अत्याचार नील और चायबगान के भूपति अंग्रेज किया करते थे, हमारे जमींदार वर्ग कभी-कभी उनसे भी अधिक दारुण शोषण किया करते थे। ब्रिटिश शासन के जानलेवा करों के अतिरिक्त ये देशी साहब अपनी हर विलासिता की परिपूर्ति के लिए फटेहाल किसानों से अलिखित कर लिया करते थे। यह दुर्व्यवस्था संयुक्त प्रांत के अवध इलाके में इस शताब्दी के दूसरे दशक के आते और बढ़ गई थी।

प्रेमचंद का लेखन-काल 20वीं सदी के प्रारम्भिक अर्धदशक से चौथे दशक के मध्य तक माना जाता है। प्रेमचंद का लेखन वस्तुतः 32 वर्ष के 1905 से 1936 तक अनवरत संघर्षरत सेवा का काल है। उनका संपूर्ण साहित्य शासन के शोषण का एक ऐसा जीवन्त चित्र प्रस्तुत करता है, जो प्रेमचंद ने अवध के इस इलाके में देखा था। उनकी अपनी स्थिति तो उस किसान से बदतर थी जो खेत जोतता था। भरी-पूरी सरकारी नौकरी को उन्होंने लात मार दी थी और स्वतंत्रता-संग्राम में कूद पड़े थे। जिस वृत्ति का सहारा लिया था, वह थी कलम की मजदूरी, जिसे वह रक्त-पसीना देकर 20-22 घंटों तक किया करते थे और बदले में पाते थे मात्र एक आत्मतोष। उनके अन्तरंग मित्र आचार्य शिवपूजन सहाय ने मुझे बतलाया था कि कई बार तांगे वाले द्वारा एक-दो पैसे अधिक किराए मांगने के कारण अपना विशाल बजट फेल हो जाने पर दोनों साहित्यकार काशी में पैदल चला करते थे। यह संघर्ष प्रेमचंद का जीवन-साथी रहा। यह इस देश की ही विशेषता है जहां देश का सबसे बड़ा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कथाकार, जिसने परिमाण और गुण, दोनों दृष्टियों से विपुल साहित्य दिया, जीवन के अन्तिम क्षणों तक समस्याओं से जूझता रहा। यह भी कैसी विडम्बना थी कि प्रेमचंद के जीवन के अन्तिम कुछ वर्ष भयानक मुद्रास्फीति और बेरोजगारी के वर्ष थे जिसने संपूर्ण विश्व पर अपनी काली छाया फैला दी और निर्धन होता हुआ भारत और भी कंगाल हो गया था। इसी लिए मैं मानता हूं कि प्रेमचंद के साहित्य में निहित भारत उनकी आंखों द्वारा देखी गई दृश्यावलियों का अलबम मात्र नहीं था, वह उनके द्वारा भोगे गये जीवन का यथार्थ चित्रण था, जिसमें राजनैतिक और मानसिक दासता से त्रस्त देश की जनता की आत्मा बोलती है। साहित्य में जीवन के रस का यह निचोड़ ही प्रेमचंद की कृतियों को स्थायी बनाता है।

प्रेमचंद ने अपने साहित्य में जिन समस्याओं को प्रमुखता दी, वे सभी समस्याएं आज भी किसी न किसी रूप में जीवित हैं और जिन्हें मिटाने को हम कृतसंकल्प हैं। इन सभी समस्याओं के मूल में श्रम की महिमा और सामान्य मानव की प्रतिष्ठा का प्रयास है। प्रेमचंद किसी भी विश्वजनीन साहित्यकार की भाँति मनुष्य को ही साहित्य का मूल विषय मानते हैं और उसके उत्कर्ष का विधान ही उनके साहित्य का लक्ष्य है। उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि...साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवार खड़ी होती है, उसकी अटारियाँ मीनार और गुम्बद बनते हैं।......जीवन परमात्मा को अपने कामों का जवाबदेह है या नहीं, लेकिन साहित्य तो मनुष्य के सामने जवाबदेह है।'' प्रेमचंद की इसी धारणा ने उनके साहित्य को स्थायित्व प्रदान किया, क्योंकि मनुष्य ही उसका सर्वोपरि मानदंड था। मैं समझता हूं कि जो लोकवंद्य नहीं होता वह विश्ववन्द्य नहीं हो सकता। जो तात्कालिक नहीं होता, वह सार्वकालिक नहीं हो सकता।

प्रेमचंद के उपन्यासों और कहानियों से यह सिद्ध होता है कि उनका उनसे गहरा तादात्म्य था। अत्यन्त भाव-प्रवण कवि की भांति वे किसानों की इस स्थिति से द्रवित थे कि वस्तुतः अन्नदाता होते हुए भी वे दाने-दाने को मुहताज थे। यही कारण है कि उनके सभी उपन्यासों में कृषक-समाज किसी न किसी रूप में आ ही गया है। ऐसे कृषक समाज से पढ़े-लिखे लोगों की उदासीनता के कारण भी प्रेमचंद दुःखी थे। वे समझते थे कि अनपढ़ और गंवार होकर शोषण की भट्ठी में चिरंतन जलने वाले गरीब किसानों और मजदूरों की अधोदशा के विरुद्ध पढ़े-लिखे भारतीय निश्चय ही अपनी आवाज बुलंद करेंगे। लेकिन इसके विपरीत प्रेमचंद को यह अनुभव हुआ कि अंग्रेज़ी शिक्षा ने विद्या को ठगी का माध्यम बना दिया है और पढ़े-लिखे लोग और भी अधिक घातक हो गए हैं। विदेशी शिक्षा ने उल्टे छुरे से अपनी हजामत आप बनानी सिखा दी थी।

मैंने थोड़ी देर पहले प्रेमचंद के तत्कालीन अवध समाज का जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है, उसी का प्रमाण था कि इस देश के जमींदार वर्ग ही नहीं, पढ़े-लिखे बाबू वर्ग भी शोषण में बढ़े-चढ़े ही थे। तभी तो 'प्रेमाश्रम' का मनोहर यह कहता है कि ''विद्या से और कुछ नहीं होता तो दूसरों का धन ऐंठना तो आ ही जाता है। मूरख रहने से तो धन गंवाना पड़ता है।'' प्रेमचंद ने भाग्यवाद और धार्मिक अंध-विश्वास को भी इसी दासता का फल माना था, क्योंकि एक राजनैतिक दासता पुरानी पड़ने पर मानसिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कई दासताओं को जन्म दे देती हैं, जैसे कोई पुरानी बीमारी चिकित्सा के अभाव में कई नई बीमारियों को जन्म दे देती है। प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में कई जगह इसे स्पष्ट किया है। रंगभूमि का सूरदास रुपये चोरी चले जाने पर यह कहता है कि ''मेरे रुपये थे ही नहीं, शायद उस जन्म में मैंने गैरों के रुपये चुराये होंगे'' और 'गोदान' का होरी अपने कष्टों की व्याख्या करते हुए कहता है ''सम्पत्ति बड़ी तपस्या से मिलती है। उन्होंने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(यानी अमीरों ने) पूर्वजन्म में जैसे कर्म किए थे उनका आनन्द भोग रहे हैं। हमने कुछ नहीं संचा, तो भोगें क्या।" जाहिर है कि भाग्यवाद का प्रचार उन लोगों ने किया, जिन्होंने दूसरों के अभावों को विद्रोह में परिणत होते रोकना चाहा। यह भाग्यवाद मनुष्य को भीरु और निष्क्रिय-संतोषी बना देता है। फलतः सामन्ती व्यवस्था और शोषण को खुलकर खेलने का अवसर मिल जाता है। सरकारी अफसर और जमींदारी के पटवारी, कारिंदे और तमाम लोग जो व्यवस्था की फाँज थे, शोषण को और प्रखर बनाते थे तथा शोषण कई स्तरों पर बंट-बंट कर और बलशाली बन जाता था। रक्तबीज की तरह शोषण हर जगह जन्म लेकर विकराल रूप धारण कर लेता है। बेगारी से भरे किसानों का जीवन देशी कुत्तों से बदतर हो गया था। वस्तुतः यह भाग्यवाद पूंजीपतियों द्वारा रचा गया षड्यन्त्र था। सूदखोरी, मुनाफाखोरी और गलत-दस्तावेज़बाज़ी—इन सबने मिलकर किसानों की कमर ही तोड़ दी थी।

प्रेमचंद ने इन सभी समस्याओं के यथार्थ चित्रण के अतिरिक्त उनकी पारस्परिक एकता द्वारा अनेक कष्टों के उन्मूलन का समाधान भी प्रस्तुत किया है। 'प्रेमशंकर' जैसे चरित्र इसी समाधान के प्रतीक हैं। प्रश्न यह उठता है कि सन् 36 तक प्रेमचंद ने कृषक समाज की जिन समस्याओं का चित्रण किया उनका पूर्ण समाधान स्वतन्त्रता के बाद क्या मिल गया? यदि मिल ही जाता तो विभिन्न योजना-बद्ध कार्य-क्रमों को कारगर ढंग से पूरा करने का प्रयास ही क्यों करना पड़ता है। अभी हाल तक बंधक मजदूरों, आदिवासियों तथा शोषत वर्गों के कष्टों की मुक्ति के लिए तरह-तरह के कार्य-क्रम क्यों बनाए जाते? मुट्ठी भर स्वार्थी तब भी थे और आज भी हैं जो निहित स्वार्थों के लिए मनुष्य-मनुष्य में भेद करते हैं और उन्हें शोषित कर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं।

शरतचंद्र ने जिस महिला समाज की अधोगति का मार्मिक चित्रण किया है वह भी हमारे सामाजिक शोषण का प्रमुख अंग बनी रही। प्रेमचंद जैसे प्रबुद्ध कलाकार ने अपने उपन्यासों में उनकी विविध समस्याओं का हृदयग्राही चित्रण किया है। सन् 47 तक पुरुष तो दास मात्र थे, किन्तु स्त्रियाँ दासों की दासी थीं: उनकी श्रेणी और अधम मानी गई थी। जब उनको घर की चहारदीवारी में खुलकर साँस लेने का अधिकार नहीं था। उनको जो मौखिक पाठ पढ़ाया जाता था वह इस धर्मांधता पर आधारित था कि वे पति की गुलाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं थीं। उनका हंसना-बोलना, जीना-मरना सब कुछ पति की मर्जी पर निर्भर था। यदि किसान खेतों में पिस रहे थे, मजदूर मिलों में घिस रहे थे, तो स्त्रियां घरों में तिल-तिल रिस रही थीं।

प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में स्त्री-शिक्षा की हिमायत की, उन्हें वाक्-स्वतन्त्रता दी, उन्हें राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय दिखलाया और उन्हें प्रेम-विवाह की छूट दी। उन्होंने उन बाह्याडम्बरों की आलोचना की, जिनके फलस्वरूप तड़क-भड़क और आर्थिक शोषण के उन्मूलन के लिए दहेज-प्रथा के विरुद्ध कानून का आज कड़ाई से पालन किया जा रहा है। वे अनमेल विवाह को भी आर्थिक वैषम्य का ही परिणाम मानते थे। किन्तु कुशल कलाकार की भांति प्रेमचंद का न्याय एक-पक्षीय नहीं था वे नारी को भी उसकी दुर्बलताओं के लिए सजग करते थे। "गबन" में स्त्रियों के आभूषण-प्रेम के दुष्परिणाम दिखाकर उन्होंने इसी तथ्य को पुष्टि की है।

जिस वैधव्य जीवन को भोगती हुई श्रीमती शिवरानी प्रेमचंद का कुछ समय पूर्व निधन हुआ है, उस वैधव्य जीवन के प्रति प्रेमचंद के मन में कातर करुणा थी। उन्होंने बाल-विधवा और प्रौढ़ा-विधवा दोनों के विभिन्न प्रकार के कष्टों पर अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदना प्रकट की है। कौन जानता था कि "वरदान" की वृजरानी के लिए लिखे गए प्रेमचंद के शब्द उनकी ही पत्नी पर घटने वाले हैं—" सौभाग्यवती स्त्री के लिए उसका पति संसार की सबसे प्यारी वस्तु है, वह उसी के लिए जीती है उसी के लिए मरती है। उसका हंसना-बोलना उसी को प्रसन्न करने के लिए और बनाव-शृंगार उसी को लुभाने के लिए होता है। उसका सुहाग उसका जीवन है, उसका उठ जाना उसके जीवन का अंत है। परित्यक्ताओं के प्रति भी प्रेमचंद की ममता अबाध थी। "सोहाग का शव" कहानी में इसका प्रमाण मिलता है। प्रेमचंद ने विधवा को प्रश्रय दिया था। पति की सम्पत्ति पर उनका अधिकार माना था और उनके लिए आश्रमों में व्यवस्था पर बल दिया था। वेश्याओं के प्रति उनकी दृष्टि समाजवादी थी और वे उनसे घृणा न कर भोग-वृत्ति, गलित आर्थिक स्थिति, नैतिक शिक्षा की न्यूनता, पति-अत्याचार, झूठा लोकापवाद आदि सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार करते थे।

यदि प्रेमचंद द्वारा उठाई गई समस्याओं का निदान हो गया होता, तो विगत वर्ष संपूर्ण विश्व में महिला वर्ष मनाकर नारी-अधिकार की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट नहीं किया गया होता। प्रेमचंद आज भी उन नारी समस्याओं के माध्यम से जीवित हैं जिनके निदान के लिए उन्होंने सतत प्रयत्न किया और उनके आंसू आज भी सूखे नहीं हैं, समस्याओं के रूप परिस्थिति-वश बदल गए हैं, लेकिन सामान्य स्तर पर अधिकांश महिलाओं के शोषण का अन्त नहीं हुआ है। यों बहन और सहचरी को हमारे भाषण तथा साहित्य चाहे जिस हद तक मुक्त कर गए हों, हमारा मन उनकी गुलामी से भरा नहीं है।

आज जिनके साम्प्रदायिकता-विरोधी अभियान चलाये जा रहे हैं, उस काम को प्रेमचंद ने बहुत पहले ही अपने 'सेवा-सदन' जैसे उपन्यास में उठाया था। प्रेमचंद की दृष्टि बड़ी साफ थी। उन्होंने अपने उसी उपन्यास में लिखा है—'बुरे हिन्दू से मुसलमान उतना ही अच्छा है, जितना बुरे मुसलमान से अच्छा हिन्दू।" अछूतोद्धार की जिन समस्याओं को लेकर आज प्रबल अभियान चलाया जा रहा है, उसका भी विवेचन-विश्लेषण 'कर्मभूमि' में किया है।

प्रेमचंद सुन्दर के ही नहीं, असुन्दर के भी कलाकार थे। वे यह स्पष्ट रूप से स्वीकार करते थे कि दोनों के सामंजस्य से ही जीवन और जगत का सन्तुलित विकास हो सकता है। उन्होंने साहित्य की नई प्रवृत्ति की चर्चा करते हुए यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि साहित्य में असुन्दर का प्रवेश केवल इसलिए होना चाहिए कि सुन्दर को और भी सुन्दर बनाया जा सके।"

संक्षेप में, प्रेमचंद के साहित्य के तीन महत्त्वपूर्ण कारण माने जा सकते हैं—पहला है उनकी गहरी और विस्तृत लोकदृष्टि, दूसरा राष्ट्र को और राष्ट्र के माध्यम से संपूर्ण विश्व-मानव को सब प्रकार के संत्रासों और परतंत्रताओं से मुक्त करने की उनकी प्रवृत्ति तथा तीसरा व्यष्टि—मानव के स्थान पर समष्टि मानव के लोकोदय की उनकी आकांक्षा।

प्रेमचंद का साहित्य तब तक पढ़ा जायेगा, जब तक दुनियां में किसान और मजदूर सर्वत्र स्वावलम्बी नहीं हो जायेंगे, स्त्रियाँ आर्थिक कारणों से पुरुषों की मुखापेक्षिणी नहीं रह जायेंगी, ऊंच-नीच के सामाजिक भेद मिट नहीं जायेंगे और पूंजीपतियों का शोषण समाप्त नहीं हो जायेगा और इस देश का एक-एक गाँव श्री-सम्पन्न नहीं हो जायेगा।—— लेकिन मैं समझता हूं कि इन सब सपनों के पूरा हो जाने के बाद भी प्रेमचंद के उपन्यास अनमोल रह जायेंगे, क्योंकि मानवता के शोषण सम्भवतः रूप बदल-बदल कर आते रहेंगे। इतना तो सत्य है कि आज से हजारों वर्ष बाद भी, किसी विदेशी को यदि केवल गोदान हाथ लग जाय, तो भी वह स्वतन्त्रता-पूर्व भारत के सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक जीवन को भली-भाँति समझ लेगा। प्रेमचंद ने इस देश की मिट्टी का मोल समझा था, इसलिये उनका साहित्य मिट्टी के मोल बिक नहीं सकता, मिट्टी में मिल नहीं सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रो० जी० सुंदररेड्डी
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
आंध्र विश्वविद्यालय,
विशाखपट्टणम्

साठोत्तरी हिंदी कविता : शिल्पगत प्रयोग

हिंदी की आधुनिक काव्य-धारा का विकास अनेक दिशाओं में हुआ है। वह द्विवेदी-युगीन सांस्कृतिक धरातल का अतिक्रमण कर, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नयी कविता की मंजिलें पारकर अकविता तक आ गया है। यद्यपि साठोत्तरी हिन्दी कविता के अंतर्गत प्राचीन काव्यों की शैली में लिखे जाने वाले महाकाव्य और खण्डकाव्य भी हैं तथापि प्रतिनिधि-काव्यधारा के रूप में नयी कविता एवं अकविता की ही प्रधानता रही है। हिन्दी की नयी कविता प्रयोगवादी कविता का नवीन एवं परिष्कृत रूप है और शिल्प एवं कथ्य की दृष्टि से भी वह प्रयोगवादी कविता का विकसित रूप है। अतः साठोत्तरी हिन्दी कविता की मुख्य दिशा नयी कविता है और उसके शिल्पगत प्रयोगों में पर्याप्त नवीनता है। वास्तव में कविता का प्रतिपाद्य उसके शिल्प के माध्यम से ही प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया जाता है। उसकी प्रेषणीयता और प्रभविष्णुता उसके शिल्प पर ही आधारित रहती है।

साठोत्तरी हिन्दी कविता के शिल्पगत प्रयोगों को निम्नांकित शीर्षकों के अंतर्गत विवेचन किया जाता है क्योंकि ये शिल्प के मूलाधार तत्त्व हैं— नया अप्रस्तुत-विधान व बिंब-विधान, नया प्रतीक-विधान, नयी शैली का प्रयोग, भाषा एवं शब्द-चयन, लय एवं छंद-योजना।

(1) नया अप्रस्तुत विधान :

साठोत्तरी कविता में उपमानों तथा बिंबों का प्रयोग अभिव्यक्ति के प्रमुख माध्यम के रूप में किया गया है। इस कविता में अधिकांश अप्रस्तुत नवीन हैं। इस अवधि के कवियों की धारणा है कि आज की नवीन परिस्थितियों में प्राचीन रूढ़ उपमान भावनाओं को पूर्ण एवं सही रूप में व्यक्त नहीं कर पाते। अतः नवीन उपमानों का प्रयोग किया गया है। कुछ कविताओं में नवीन उपमानों की योजना सुंदर ढंग से हुई है और उन में भाव की प्रेषणीयता की मात्रा भी अधिक है। इस दृष्टि से गिरिजाकुमार की ये पंक्तियां द्रष्टव्य हैं :—

जीवन में लौटी मिठास है
गीत की आखिरी मीठी लकीर-सी
वैभव की वे शिलालेख-सी यादें आतीं
एक चाँदनी भरी रात उस राजनगर की
रनिवासों की नंगी बाँहों-सी रंगीनी
वह रेशमी मिठास मिलन के प्रथम दिनों की।

इन पंक्तियों में जीवन की मिठास की उपमा 'गीत की आखिरी मीठी लकीर' से, पूर्व स्मृतियों को 'शिलालेख' से, रंगीनी को 'रनिवासों की नंगी बाँहों' से, मिलन की मधुरता को 'रेशमी मिठास' से दी गयी है, जो अत्यंत स्वाभाविक एवं नवीन है। परंतु कहीं-कहीं यह नवीनता का मोह-मात्र दिखाई देता हैं जैसे :—

"मेरे सपने इस तरह टूट गये
जैसे भुंजा हुआ पापड़"

साठोत्तरी हिन्दी कविता में वैयक्तिकता की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रधानता है। अतः अप्रस्तुत-विधान की नयी-नयी उपलब्धियाँ देखने को मिलती हैं। एक कवि को तो अपनी परकीया का मुख बैंगन जैसा दिखाई पड़ता है :—

"बैंगन जैसा
चिकना, चमकता, काला, कसा हुआ,
सर्वत्र एक सा
उसका छोटा-सा लंबा-गोल मुंह
एक अकेली बात-सा संक्षिप्त है।"

इन पंक्तियों में वैचित्र्य है, किंतु प्रेषणीयता का प्रभाव नहीं है। मदन वात्सयायन जैसे कुछ कवि तो नये-प्रयोग के आवेग में सादृश्य को भूलकर परकीया के मुख को अमावस्या के चांद-सा कहने में भी आगा-पीछे नहीं करते :—

"अनकांशस के काम्पलेक्स सा
अमावस्या के चांद-सा
उस तर्कहीन इशारे-सा
जो करा डालता है सत्वर वह काम
अम्बार पर अम्बार लेक्चरों से नहीं करा पाते जिसको"

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने मध्यवर्गीय रमणी के चित्र में अप्रस्तुत योजना के द्वारा सूक्ष्म संवेदनाओं को मूर्त रूप दे दिया है। इसके लिए उन्होंने सर्वथा नवीन उपमानों को प्रयुक्त किया है :—

"थर्मामीटर के पारे-सी
चुपचाप जिस में भावनाएं चढ़ती उतरती हैं
अखण्ड कीर्तन की
थकी हुई अस्पष्ट धुन-सी
जिसकी जिंदगी है।"

इस तरह इस समय के प्रयोगशील कवि प्रकृति एवं सामान्य जीवन-क्षेत्र के अतिरिक्त यंत्र-क्षेत्र से भी उपमान का चयन करते हैं। वे मूर्त एवं अमूर्त उपमानों को अपनाते हैं। ऊपर की कविता में जहां नये कवि ने मध्यवर्गीय नारी को 'अखण्ड कीर्तन की थकी हुई अस्पष्ट धुन-सी' कहा है वहां अमूर्त उपमान के द्वारा भी उसने उसके नीरस एवं थके हुए जीवन का एक मार्मिक चित्र प्रस्तुत कर दिया है :—

"खामोश हरी रोशनी है,
आपरेशन थियेटर-सी
जो हर काम करते हुए भी चुप है,
X X X
प्यार का नाम लेते ही
बिजली के स्टोव-सी
जो एकदम सुर्ख हो जाती है।"

परंतु प्रौढ़ नये कवियों को छोड़कर अन्य कवियों के अप्रस्तुत अर्थबोध कराने की क्षमता नहीं रखते। ऐसे कुछ अप्रस्तुत इस प्रकार हैं :—

विज्ञान धुएं का अजगर, धूप—शिशु वदन पर मां की हंसी का प्रतिबिंब, चेतना—छिपकली, बाँह—चिकना चोड, लज्जालु आँखें—बिजली स्टोव। इनमें अधिकांश में नवीनता के प्रति आग्रह है। कतिपय साठोत्तर युग के कवियों ने यौन-उपमानों का भी प्रयोग किया है जैसे—

नावें कई यात्रियों को उतारकर वेश्याओं की तरह थकी पड़ी है घाट में—

—श्रीकांत वर्मा।

इतना ही कहा जा सकता है कि इन नये कवियों की अप्रस्तुत योजना में युगीन भावबोध है।

नया प्रतीक विधान :

साठोत्तरी हिंदी कविता में प्रतीकों की प्रचुरता है। सामान्य रूप से बहुत-सी मानसिक उलझनों की अभिव्यक्ति के लिए भी प्रतीकों का विधान मिलता है। अज्ञेय को 'नदी के द्वीप', 'सागर तट की सीपियाँ' कविताओं के शीर्षक स्वयं प्रतीक हैं। 'नदी के द्वीप'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीक से व्यक्तित्व के प्रति सहज निष्ठा और व्यक्ति की मर्यादा आभासित होने लगती है। अज्ञेय जो प्रतीकों के नये प्रयोग पर विशेष बल देते हैं। उनके अनुसार किसी भी स्वस्थ काव्य-परंपरा में नये प्रतीकों का सृजन किया जाता है और जब ऐसा न कर कवि प्राचीन प्रतीकों पर ही निर्भर करता है तो वह काव्य-रचना जड़ता के निकट पहुंच जाती है। उनकी दृष्टि में प्रतीक सत्य को जानने का साधन तथा ज्ञान प्राप्त करने का उपकरण है। दुष्यंतकुमार ने जीवन की वास्तविकताओं की लपट में गलने वाले स्वप्नों को 'मोम का घोड़ा' प्रतीक से व्यक्त किया है। इन प्रतीकों में समानता के अभाव के कारण दुर्बोधता आ गयी है। डा० बच्चनसिंह ने साठोत्तरी कविता (नयी कविता का द्वितीय चरण) के पौराणिक प्रतीकों के संबंध में इस प्रकार लिखा है—"नयी कविता में पौराणिक प्रतीक भी गृहीत हुए हैं जो मुख्यतः महाभारत के पात्र हैं। कर्ण, द्रोण, एकलव्य, अभिमन्यु, अश्वत्थामा, चक्रव्यूह आदि ऐसे ही प्रतीक हैं। इन में से कुछ तो उपयुक्त संदर्भ में प्रयुक्त होने से काफी व्यंजक हो गए हैं और कुछ अयथास्थान में पड़ जाने से अर्थच्युत और निस्तेज।" धर्मवीर भारती का एक पौराणिक प्रतीक द्रष्टव्य है—

"मैं
रथ का टूटा पहिया हूं
लेकिन मुझे फेंको मत
क्या जाने कब
इस दुरूह चक्रव्यूह में
अक्षौहिणी सेनाओं को चुनौती देता हुआ
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु घिर जाय ?
अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी
बड़े-बड़े महारथी
अकेली निहत्थी आवाज को
अपने ब्रह्मास्त्रों से कुचल देना चाहें
तब मैं
रथ का टूटा हुआ पहिया
उसके हाथों में
ब्रह्मास्त्रों से लोहा ले सकता हूं।"

यहां 'टूटा पहिया' लघु-मानव का प्रतीक है जिसकी उपयोगिता कुछ अवसरों पर असंदिग्ध है।

नयी शैली का प्रयोग :

साठोत्तर काल के नये कवियों ने शैली के अनेक नये प्रयोग किये हैं। इन प्रयोगों के कारण कहीं-कहीं भाव बिलकुल लुप्तप्राय हो गया है। केवल विलक्षणता एवं दुरूहता ही पाठकों के पल्ले पड़ती है। धर्मवीर भारती, शमशेर, अज्ञेय और मुक्तिबोध ने नवीन शैली के अनेक प्रयोग किये हैं। इन्होंने अपनी कविता में कहीं-कहीं तो दस पंक्तियों में एक ही वाक्य की योजना की है, जैसे मुक्तिबोध का यह लंबा वाक्य—

"वह परस्पर की मृदुल पहचान जैसे
अतलगर्भा भव्य धरती हृदय के निज कूल पर
मृदु स्पर्श कर पहिचान करती, गूढ़तम उस विपद
दीर्घच्छाय श्यामल-काय बरगद वृक्ष की
जिसके तले आश्रित अनेकों प्राण
जिसके मूल पृथ्वी के हृदय में टहल आए,
उलझ आए।

साठोत्तरी कविता की एक और शिल्पगत विशेषता उसकी चित्रात्मकता है। कवि एक चितेरे के समान अनेक दृश्यों को अपनी शैली के माध्यम से चित्रित करता है। गिरिजाकुमार माथुर की 'शाम की धूप' में यह चित्रात्मक शैली सजीव हो उठी है—

"क्योंकि जब बंद हो गए दफ्तर,
घण्टियां बज रही हैं रिक्शों की,
बीसियों साइकिलों की पांतें,
कैरियर टोकरी हैंडल में
कुछ में खाली कटोरदान बंधे,
कुछ में हैं फाइलें हर छिन भूखी
जो न कभी खत्म हुई आफिस में"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस तरह इस समय के कवियों ने अनेक प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया है।

भाषा एवं शब्द-चयन :

साठोत्तरी हिंदी कविता में भाषा एवं शब्द-चयन की दृष्टि से भी नये प्रयोग हुए हैं। इस समय के कवियों ने विविध स्थानों से शब्द का चयन किया है, जैसे विज्ञान, दर्शन, भूगोल, मनोविज्ञान, ग्रामीण-बोली आदि से। अतः कहीं-कहीं प्रादेशिक शब्दों से और शब्दों की तोड़-मरोड़ से इस कविता की भाषा में कुरूपता आ गयी है, जैसे गोरियां, छोरियां और भोरियां आदि में। कहीं-कहीं तो संस्कृत के क्लिष्ट तत्सम शब्दों को बहुलता एवं समासनिष्ठता के कारण दुरूहता आ गयी है जैसे अज्ञेय की इस कविता में—

"निबिड़ांधकार
को मूर्त रूप दे देनेवाली
एक अकिंचन, निष्प्रभ अनाहूत
अज्ञात द्युति किरण
आसन्न पतन———।"

इत्यादि। परन्तु धीरे-धीरे भाषा के सरलीकरण की ओर नये कवियों की दृष्टि आकृष्ट हो रही है।

साठोत्तरी हिंदी कविता में उर्दू और अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग कवियों ने निस्संकोच होकर किया है। प्रायः खिचड़ी पदावली प्रयुक्त हुई है। स्थानीय परिवेश को उभारने के लिए नये कवियों ने स्थानीय बोलचाल को भाषा के शब्दों को ग्रहण किया है। इन्होंने कहीं-कहीं शब्दों का नया वैयक्तिक अर्थ भी किया है।

लय एवं छंद योजना :

साठोत्तरी कविता में मुक्त छंदों का प्रयोग भी किया गया है। इस समय के कवियों ने जानबूझ कर ही इन प्रयोगों को अपनाया। स्थान-स्थान पर प्रवाह, ताल-बद्धता एवं लयात्मकता को विघटित करके अपनी बात कहने की चेष्टा की। छायावादी मुक्त-छंद ऋतु-प्रवाही मुक्त छंद है तो इसका मुक्त छंद खण्डित प्रवाह लेकर चलता है। साथ ही साथ इसमें जीवन की भाँति संगीत, ताल-लय आदि का अभाव ही दृष्टिगोचर होता है। इन कवियों का कथन है कि राग के उलझ जाने के कारण छंद का अतुकांत हो जाना स्वाभाविक है। भावों को प्रमुखता देने के कारण इन कवियों की दृष्टि तुक पर नहीं गयी। तुक के अभाव का अन्य कारण यह है कि यह कविता जीवन की विषमता एवं विसंगतियों को व्यक्त करती है :

"एक रंग होता है नीला
और एक वह जो तेरी देह के रंग पर,
नीला होता है,
इसी तरह लाल भी लाल नहीं
बल्कि एक शरीर के रंग पर एक रंग।"

इस समय के कवियों ने लोकगीतों की धुन पर भी गीत गढ़े हैं तो कहीं-कहीं मुक्त छंदों में नयी-नयी लय और नये-नये स्वर मिलते हैं और कहीं-कहीं तो छंद एवं लय के स्थान पर वर्ण्य विषय की भावनाओं के अनुकूल चालित हैं जैसे शमशेर की निम्नांकित पंक्तियों में देखा जा सकता है—

"पोके फूटे आज प्यार के पानी बरसा री
हरियाली छा गई हमारे सावन सरसा री
बादल छाये आसमान में धरती फूली री
अरी सुहागिन भरी माँग में भूली-भूली री।।"

इस तरह साठोत्तरी हिंदी कविता का आग्रह मुक्त छंद और लोक गीत शैली की ओर विशेष दिखाई पड़ता है।

अंत में यह कहा जा सकता है कि साठोत्तरी हिंदी कविता में अभिव्यक्ति के सभी स्तरों पर शिल्पगत नये प्रयोग किये गये हैं जिससे इस कविता में विषयानुरूप नवीनता के दर्शन होते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० वचनदेव कुमार
एम. ए. (हिन्दी, संस्कृत)
पीएच. डी., डी. लिट्
आचार्य एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
राँची विश्वविद्यालय,
राँची

रामचरितमानस और कामायनी

रामचरितमानस और कामायनी, दोनों का उल्लेख हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्यों के रूप में किया जाता रहा है। कामायनी के प्रकाशन के बाद से ही इस बात पर भी बल दिया जाता रहा है कि यह रामचरितमानस की तरह ही विश्व-महाकाव्य है। इस लिए यह आवश्यक हो जाता है कि कुछ विस्तार में जाकर दोनों रचनाओं की तुलना की जाय और यह देखने का यत्न किया जाय कि आलोचना के क्षेत्र में प्रचलित उपयुक्त धारणा कहां तक सत्य है।

रामचरितमानस और कामायनी, दोनों के स्व-रूप-परीक्षण से कुछ बातें स्वतः स्पष्ट हो जाती हैं। शताब्दियों से मानस का जिस रूप में प्रचार और आदर होता रहा है, उससे यह कहना सत्य की पुनरावृति मात्र है कि यह जनता का काव्य है। इस-के विपरीत, कामायनी साहित्यिक-रुचि-सम्पन्न अधीत लोगों का काव्य है। इसका अर्थ नहीं होता कि मानस केवल जनता का काव्य है और यह अधीत लोगों को अपनी गहराइयों में उतरने या अपनी जटिलताओं से जूझने की चुनौती नहीं देता। सच तो यह है कि मानस सहजता के कारण लोकग्राह्य भी है और गहनता के कारण शास्त्र-सुचिन्तित भी। कामायनी की तरह इसे किसी पाठ्यक्रम की अपेक्षा नहीं है। यदि पाठ्यक्रम से इसे बहिष्कृत कर दिया जाय तो इससे इसकी लोकप्रियता और गुणवत्ता में कोई अंतर नहीं होगा। यदि कामायनी को पाठ्यक्रम से बहिष्कृत कर दिया जाये, तो उसके गुण-ग्राहकों की संख्या उंगलियों पर गिनने के योग्य हो जायेगी। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि कामायनी में वह सहज संप्रेषणशीलता नहीं मिलती, जो रामचरित-मानस में विद्यमान है। यह पाठकों को बोझिल और दुरूह लगती है। मानस की स्थिति इससे भिन्न है और अधिक व्यापक भी। मानस में सहजता भी है और इतनी ग्रंथ-ग्रंथियां भी हैं कि विद्वान् उनसे सीमित नहीं हैं। हिन्दीतर भारतीय प्रदेशों एवं विदेशों तक में अपनी काव्य-माधुरी और दार्शनिकता के कारण मानस ही सर्वाधिक चर्चित है।

मानस और कामायनी का स्वरूप प्रबंधात्मक है और दोनों का प्रबंधत्व महाकाव्य पद्धति का है। यह दुहराना आवश्यक नहीं होगा कि दोनों को महा-काव्य माना जाता रहा है, अतएव इस दृष्टि से अध्ययन के जिन बिंदुओं के आधार पर दोनों की तुलना की जा सकती है, वे हैं—कथा, पात्र, कलात्मक सौंदर्य और भाषा-शैली तथा संदेश। हम शास्त्रीय आधारों पर इन बिंदुओं की परीक्षा तभी कर सकते हैं जब महाकाव्य के लक्षणों को सामने रखकर अपने विषय पर दृष्टिपात करें।

साहित्य-दर्पण कार ने महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार निरूपित किये हैं :-

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ॥
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वितः ।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ॥
शृंगारवीर शान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंधयः ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम् ।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ।।
आदौ नमस्क्रियाऽशीर्वा वस्तुनि र्देश एव वा ।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ।।
एकवृत्तमयैः पद्यैसानेन्यवृत्तकैः ।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ।।
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ।।
संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाहन्शैलर्तुवनसागराः ।
संभोगविप्रलम्भयौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ।।
वर्णनीया यथाभोगं सांगोपांगा अमी इह ।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा
नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनामतु
अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः :
इस आधार पर—

1. जिसमें सर्गों का निबंधन हो, वह महाकाव्य कहलाता है ।

2. इसमें एक देवता या सद्वंश क्षत्रिय—जिस में धीरोदात्तत्वादि गुण हो—नायक होता है । कहीं एक वंश के सत्कुलीन अनेक भूप भी नायक होते हैं ।

3. शृंगार, वीर और शान्त में से कोई एक रस अंगी होता है । अन्य रस गौण होते हैं । सब नाटक-संधियां रहती हैं ।

4. कथा ऐतिहासिक या लोक में प्रसिद्ध सज्जन संबंधी होती है ।

5. धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चतुवर्ग में से एक उसका फल होता है ।

6. आरम्भ में आशीर्वाद, नमस्कार या वर्ण्य वस्तु का निर्देश होता है । कहीं खलों की निंदा और सज्जनों का गुण-वर्णन होता है ।

7. इसमें न बहुत छोटे, न बहुत बड़े आठ से अधिक सर्ग होते हैं । उनमें प्रत्येक में एक ही छंद होता है । किन्तु अंतिम पद्य (सर्ग के अंत में) भिन्न छंद का होता है । कहीं-कहीं सर्ग में अगली कथा की सूचना होनी चाहिए)

8. इसमें संध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, पर्वत, छहों ऋतुओं, वन, समुद्र, संयोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा, विवाह, मंत्र, पुत्र, अभ्युदय आदि का यथासंभव सांगोपांग वर्णन होना चाहिये । इसका नाम कवि के नाम से (जैसे माघ) या चरित्र के नाम से होना चाहिये । कहीं इसके अतिरिक्त भी नाम होता है ।

10. सर्ग की वर्णनीय कथा से सर्ग का नाम रखा जाता है ।

ऊपर दिये गये लक्षणों के संदर्भ में विचार किया जाय तो मानस और कामायनी के महाकाव्यत्व के संबंध में एक धारणा बनायी जा सकती है ।

मानस में आठ सर्ग नहीं हैं, बल्कि जैसा कि सर्वज्ञात है, यह सात कांडों या सर्गों में प्रस्तुत रचना है । इसमें सर्गान्त में छंद परिवर्तन के नियम का पालन नहीं हुआ है । इसमें प्रत्येक कांड के अर्न्गत यथावसर संस्कृत छंदों तथा हिन्दी के कई छंदों का प्रयोग हुआ है, किन्तु कथा का विधान दोहा-चौपाई-शैली में किया गया है । किन्तु तुलसी को न तो इस बात की चिन्ता रही है कि वे सर्गान्त में छंद परिवर्तन करें और न सर्ग को नानावृत्तमय बनाने के प्रति उनमें कोई व्यग्रता रही है । इसके विपरीत, कामायनी में अष्टाधिक सर्ग हैं, किन्तु इसमें भी छंद-परिवर्त्तन के नियम का पालन नहीं हुआ है । इसमें मंगलाचरण भी नहीं मिलता । उल्लेख्य है कि इस प्रसंग में मानस भारतीय काव्यशास्त्रोक्त महाकाव्य संबंधी लक्षणों के अधिक समीप है, क्योंकि इसमें मंगलाचरण का विधान प्रत्येक सर्ग में हुआ है । हां, सर्गों के विस्तारगत अनुपात के नियम का पालन जितना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कामायनी में हुआ है, उतना मानस में नहीं। दोनों रचनाओं में नायक और नामकरण संबंधी निर्देशों का प्रायः एक जैसा निर्वाह हुआ है। मानस के राम एक ओर तो सद्‌वंश में उत्पन्न क्षत्रिय हैं, तो दूसरी ओर केवल देवता न होकर साक्षात् देवाधिदेव परम ब्रह्म हैं। कामायनी के मनु देवजाति के अंतिम सदस्य हैं - दूसरे शब्दों में देवता हैं। इसकी प्रधान पात्र श्रद्धा है जो गंधर्व जाति की कन्या है और यह गंधर्व जाति प्राचीन ग्रंथों में देव-जाति की एक शाखा मानी गई है। कामायनी का नामकरण श्रद्धा के उपनाम कामायनी (काम दुहिता) पर आधारित है। रामचरितमानस का नामकरण इसकी तुलना में कहीं अधिक वक्रोक्तिपूर्ण है। यह अपने कथा-नायक राम के चरित का मानस मान-सरोवर है। तुलसी ने मानस के रूपक द्वारा इसके वैशिष्ट्य का उल्लेख रचना के आरंभ में—बालकांड के प्रस्तावना भाग में किया है। लेकिन मानस में प्रकृति के जितने अधिक रूपों और जीवन की जितनी अधिक परिस्थितियों का चित्रण हुआ है, उतने रूपों और परिस्थितियों का समावेश कामायनी में नहीं मिलता। किन्तु सामान्य रूप में यह कहा जा सकता है कि दोनों में प्राकृतिक वर्णनों और जीवन की परिस्थितियों की विविधता के निर्देश के प्रति बड़ी प्रखर सजगता दिखलायी देती है। तुलसी में प्रकृति का उपयोग उद्दीपन या उपदेशज्ञापन के लिए हुआ है। उद्दीपन के रूप में प्रयुक्त प्रकृति का एक उदाहरण है—

भूपखरा बर देखेउ जाई। जहं बसंत रितु रही लोभाई। —बालकांड

उपदेशज्ञापन के रूप में प्रस्तुत प्राकृतिक वर्णन के उदाहरण के रूप में—

दामिनि दमक रही घनमाँहीं। खल की प्रीति जथा थिर नाहीं।।—को उद्‌धृत किया जा सकता है।

मानस में प्रकृति के यथातथ्य चित्रण का भी अभाव नहीं है—

लागे विटप मनोहर नाना।
बरन बरन बर बेलि मिटाना।।

कामायनी में भी मानस की तरह प्रातः, संध्या, रात्रि, समुद्र, सरिता आदि के चित्र अंकित हुए हैं। इसमें भी प्रकृति का उद्दीपन और उपदेश-ज्ञापन के लिए भी उपयोग हुआ है, लेकिन युग की परिवर्तित चेतना के कारण इसमें आलम्बन के रूप में प्रकृत्ति के चित्रण की प्रवृत्ति मिलती है। यही कारण है कि इसमें प्रभात, संध्यादि के ऐसे स्वतंत्र और विस्तृत वर्णन मिलते हैं, जैसे मानस में उपलब्ध नहीं होते। इसके आशा सर्ग में रात्रि का जो वर्णन हुआ है, उसकी कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं :—

विश्व-कमल की मृदुल मधुकरी
रजनी तू किस कोने से
आती चूम चूम चल जाती
पढ़ी हुई किस टोने से
किस दिगंत रेखा में इतनी
संचित कर सिसकी सी सांस
यों समीर मिस हांफ रही सी
चली जा रही किसके पास

जहां तक रस का संबंध है, दोनों काव्यों में अपने-अपने ढंग की तुलनीय नवीनता मिलती है। मानस का रस भक्ति-रस है जिसे परंपरानिष्ठ काव्य-शास्त्रियों ने रस नहीं माना; कामायनी का रस आनंद रस है, जिसकी चर्चा अभिनव-भारती में अभिनवगुप्त ने की, किन्तु जिसे प्रसाद के पहले किसी ने प्रबंध के रस के रूप में प्रतिष्ठा नहीं दी। लेकिन सहृदय के हृदय ने भक्ति और आनन्द, दोनों का रसत्व स्वीकार कर लिया है। महा-काव्य में अंगीरस के साथ साथ अन्य सभी रसों का भी प्रभावकारी रूप में समावेश होना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन रसों के विषय में आनंदवर्धन का स्पष्टीकरण यह है कि ये अंगी रस के अनुशासन या नियंत्रण में रहते हैं। यह संभव है कि गणना के स्तर पर कोई इस बात का निर्देश कर दे कि मानस और कामायनी दोनों में सभी रसों का अस्तित्व है, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि जीवन की वस्तुनिष्ठ परिस्थितियों के प्रसंग में मानस में रसों का अधिक प्रभावशाली और विशद विधान हुआ है।

महाकाव्य पर विचार करने की पश्चिमी दृष्टि भी हमें इस विषय पर विचार करने के कुछ मूल्यवान् आधार प्रदान करती है। अरस्तू, एबरक्राम्बी, डब्ल्यू. एम. बिसन आदि चिंतकों ने जो कुछ कहा है, उसके अनुसार इस विधा के निम्नलिखित लक्षण निर्धारित किये जा सकते हैं—

1. महाकाव्य देशकाल-कल्पनामंडित अतीत से संबंध रखता है जो स्वप्निल और आलोकपूर्ण होता है तथा जिसमें रहस्य, भयानकता और दिव्यता होती है।

2. इसका कथानक महिमामंडित तथा संघर्षपूर्ण होता है जिसमें नायक की तथा उसके साथ उसके देश अथवा आदर्शों की विजय दिखलायी जाती है।

3. उसमें जीवन की एक विस्तृत भूमिका ग्रहण की जाती है।

4. उसका व्यापार भी महान् अथवा महत्वपूर्ण होता है।

5. उसका नायक महान् होता है।

6. उसकी शैली गरिमापूर्ण, किन्तु सात्विक होती है।

7. उसका समस्त प्रबंध व्यवस्थित और गरिमापूर्ण होता है।

8. उसका लक्ष्य मानवता को अशक्ति से शक्ति, अशांति से शांति और नीचे से उठाकर ऊंचे की ओर ले जाता है।

इन बातों की परीक्षा करने के लिए यह आवश्यक है कि हम वस्तु के स्वरूप और विस्तार चरित्र-विधान, संदेश या विचारधारा और शैली को दृष्टिपथ में रखकर दोनों की समीक्षा करें। उल्लेख्य है कि भारतीय काव्य-शास्त्र में भी महाकाव्य की प्रधान कसौटियों के रूप में वस्तु, नेता और रस के अतिरिक्त शैली और चतुर्वर्ग में से किसी एक की प्रतिष्ठा की चर्चा हुई है। साहित्य-दर्पण द्वारा प्रस्तुत लक्षणों में इस बात का स्पष्ट निर्देश है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से कोई एक उसका फल होता है। काव्यालंकार में भामह ने यह लिखा है कि महाकाव्य में अग्राम्य शब्द सुंदर अर्थ, अलंकार और सदवस्तु का आश्रय होना चाहिए—

अग्राम्यशब्दमर्थ्यंच सालङ्कारे सदाश्रयम्
(1/19)

जहां तक वस्तु के स्वरूप और विस्तार का प्रश्न है, मानस और कामायनी दोनों में साम्य-वैषम्य के अनेक बिन्दु हैं। दोनों के कथानक प्रधानतया इतिहास पर आश्रित हैं; दोनों में आवश्यक सीमा तक कल्पना का आश्रय लिया गया है। कामायनी के विषय में यह कहा गया है कि यह मनुष्य के मनोविज्ञान के विकास-क्रम का निरूपण करती है। इसके साथ ही यह मानव का इतिहास भी है। इस अर्थ में इसकी वस्तु का विस्तार बहुत अधिक हो जाता है, किन्तु मानस का वस्तुगत विस्तार इससे भी अधिक है। यह केवल मनुष्यता तक ही नहीं, बल्कि विश्व-ब्रह्मांड तक परिख्यात है। यह नरलीला के माध्यम से स्रष्टा की लीला का अनंत उद्गीथ है। अतएव दोनों के कथानकों के संघर्ष के आयाम में विस्तार-संबंधी अंतर है। एक से अधिक स्तरों पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संचरण करने के कारण दोनों के कथानक प्रतीकात्मक हो जाते हैं। कामायनी में मनु मन और मानवता के प्रतीक हैं, श्रद्धा हृदय और पराशक्ति की प्रतीक है और इड़ा बुद्धि की प्रतीक के रूप में, सोमरस सांसारिक विषय-भोग और अद्वैतवृत्ति का प्रतीक है तथा किलात और आकुलि असद् वृत्तियों के प्रतीकार्थ से संवलित हैं। हिमालय की यात्रा का जो उल्लेख रहस्य-सर्ग में मिलता है, वह मेरुदंड के भीतर से संपन्न सुषुम्ना मार्ग की यात्रा का यौगिक प्रतीक है और सांसारिक क्षुद्रताओं के वृत्त से क्रमशः मानस की उच्चतर भूमि के आरोहण का भी। इसका कैलाश आत्मा और परमात्मा की एकात्मता के बोध का लोक है, अतः इसमें भी प्रतीकात्मकता है। इस प्रकार के प्रतीकों की व्यवस्था के द्वारा कामायनी की कथा में व्यंग्यार्थ की योजना की गई है। लेकिन नीचे की तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानस के प्रतीकों की परिधि कहीं अधिक विस्तृत है—

(क) पात्र (ख) प्रतीकार्थों की सूची

राम-सत् प्रकाश-ईश्वर-ज्ञान

सीता-शक्ति-विद्यामाया-आह्लादिनी शक्ति

पात्र	प्रतीकार्थों की सूची
दशरथ	असत्, अंधकार-माया का विध्वंसकारी रूप
अयोध्या	निवृत्ति
लंका	प्रवृत्ति
लक्ष्मण	वैराग्य
हनुमान	भक्ति
कौशल्या	ज्ञानशक्ति
कैकेयी	क्रियाशक्ति
सुमित्रा	उपासनाशक्ति
सुरसा	सतोगुणी प्रवृत्ति
[illegible]किनी	रजोगुणी प्रवृत्ति
सिंहिका	तमोगुणी प्रवृत्ति

केवल इन पात्रों में नहीं, बल्कि इनके द्वारा संरचित परिस्थितियों में भी प्रतीकात्मकता का समावेश होता गया है। मिलाजुलाकर जो प्रतीकात्मकता मानस के भीतर से उभरती है, वह पर्याप्त महत् और व्यापक है।

जहां तक चरित-विधान का संबंध है, कामायनी में प्रतीकात्मकता के आग्रह के कारण पात्रों के चरित्र का मानवीय पक्ष पूरी तरह निर्मित नहीं हो पाता। इसके विपरीत रामचरितमानस के पात्रों का अकर्षण, जो सबसे पहले लोगों को बांधता है, उनका व्यक्त और सबल मानवीय पक्ष है।

वस्तुतः कामायनी महज साढ़े तीन पात्रों का महाकाव्य है, जबकि मानस में साढ़े तीन दर्जन ऐसे पात्र तो हैं ही जो अपने व्यक्तित्व की विलक्षणता से अविस्मरणीय हैं। मानस के पात्र समाज के विविध विरोधी वर्गों से लिए गए हैं। ये पात्र जीवन और जगत् की अनेकानेक संवादी और विसंवादी परिस्थितियों से उलझते हैं, इसलिए उनकी प्रतिक्रियाएं भी बहुविध होती हैं। ये पात्र उस कालखंड से आते हैं, जहां सभ्यता, संस्कृति की रूपरेखा सुस्थिर हो चुकी थी और उनके जीवनमान नैतिक मूल्यों से परिचालित हो रहे थे जबकि कामायनी को देखकर ऐसी किसी स्थिति का भान नहीं होता। पुरातन सभ्यता और संस्कृति के विलुप्त होने पर मनु का प्रादुर्भाव होता है—यहां तक कि उनको नर-नारी का भेद तक ज्ञात नहीं है। मानस के पात्रों में जिजिविषा है, संघर्षों से जूझकर उनपर विजयी होने की आस्था है। वे या तो विजय-लाभ करते हैं या लड़ते-लड़ने हारकर मृत्यु-लाभ। दोनों रचनाओं के पात्रों के दायित्वबोध में भी अंतर है। मानस के पात्र अपनी समस्याएं स्वयं झेलते और सुलझाते हैं, जबकि कामायनी के नायक-नायिका विरासत पर, संतान पर, अगली पीढ़ी पर उत्तरदायित्व छोड़कर आनंदलोक में रमण करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोनों रचनाओं में जीवन के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण की अभिव्यक्ति हुई है। वह दृष्टिकोण या दर्शन पर्याप्त प्रेरणाप्रद है। लेकिन, मानस का विचार-फलक जितना बड़ा है, उतना कामायनी का नहीं। मानस में इस विचार-फलक की रचना अनेकानेक दर्शनों के समाहार द्वारा हुई है। उसमें समस्त मध्याकालीन दार्शनिक चिन्तन और आन्दोलनों की आवाज सुनाई पड़ती है। उसमें विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत आदि समस्त प्रचलित दर्शनों को अपने नाम में समेटने वाली और इन सबों का अतिक्रमण करने वाली एक दार्शनिक धारा मिलती है जो समग्र रचना में अंत:सलिला के रूप में विद्यमान है। वह दार्शनिक धारा तुलसी का रामभक्ति दर्शन है। कामायनी में शैव-दर्शन का आधार मिलता है, किन्तु उस शैव-दर्शन की परि-सीमा उसकी प्रत्यभिज्ञा नाम की शाखा है। अत: दर्शन के स्तर पर भी मानस में जितने मतवादों का समाहरण हुआ है उतने का कामायनी में नहीं। इसका सबसे प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ है कि कामायनी की वैचारिक परंपरा उतनी व्यापक और बहुकोणीय नहीं दीखती जितनी रामचरितमानस की। मानस में जीवन के जितने अधिक प्रसंगों को स्पर्श करने वाले संदेश मिलते हैं, उतने प्रसंग कामायनी में नहीं है। फिर भी दोनों में बुद्धि पर हृदय की जीत की स्थापना देखी जा सकती है। कनक-पुरी लंका वैज्ञानिक उपलब्धियों की प्रतीक है जिस का अधिपति दशसिर अर्थात—मस्तिष्क प्रधान व्यक्ति रावण है और स्वभावत: ऐसे व्यक्ति का हृदय संकुचित है। जहां मस्तिष्क विशाल हो और हृदय संकुचित हो, वहाँ अव्यवस्था फैलेगी ही। राम में हृदय और मस्तिष्क का संतुलन है, कामायनी में भी यही कहा गया है कि केवल इड़ा या बुद्धि का आश्रय मनु या मन को विनाश और अव्यवस्था की ओर ले जाता है जब तक श्रद्धा और इड़ा, हृदय और मस्तिष्क का संतुलन नहीं होगा तबतक मानवता का भविष्य आशंकाग्रस्त है—यही वह संदेश है जो कामायनी के माध्यम से ध्वनित होता है और जिसकी रामचरितमानस की विचारधारा से समानता है। इसी प्रकार दोनों रचनाओं में जीवन के प्रति आस्था-वादी दृष्टिकोण की प्रस्तावना की गई है। मानस में रावण पर राम की विजय, असत् पर सत् की विजय का प्रतीक है। यद्यपि कामायनी में सत् और असत् के द्वन्द्व को प्रत्यक्ष रूप में ग्रहण नहीं किया गया है किन्तु, इसके माध्यम से भी शिवत्व की अभिव्यक्ति हुई है। इसमें भी यह ध्वनित हुआ है कि अशिवत्व का विनाश होता है और शिवत्व की विजय होती है, क्योंकि—

नाशिवम् विद्यते क्वचित्।

मानस और कामायनी दोनों की भाषा-शैली पर विचार किया जाय तो समानता असमानता के अनेक बिन्दु मिल जायेंगे। दोनों में एक विशेष प्रकार की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग मिलता है। मानस में जीव, जगत् सगुण ब्रह्म, निर्गुण ब्रह्म, विद्या-माया, अविद्या-माया, नाम, रूप, कर्म, ग्रंथि आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इनका रहस्य तबतक स्पष्ट नहीं होता जबतक इन्हें दार्शनिक संदर्भों में नहीं देखा जाता। कामायनी में भी चिति, भूमा, समरसता, काल, कला, इच्छा, ज्ञान, क्रिया आदि दार्शनिक तथा चिंता लज्जा आदि मनोवैज्ञानिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। इससे यह प्रमाणित होता है कि दोनों कृतियों की भाषा विशेष संस्कारों वाली भाषा है। दोनों में अलंकारों, प्रतीकों और बिम्बों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। तुलसी अलंकारवादी नहीं थे, फिर भी मानस में काव्य-शास्त्र में वर्णित सभी अलंकार आ गये हैं। कामायनी में भी अलंकार शैली मिलती है। कहा जा सकता है कि मानस में उत्प्रेक्षा का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है और कामायनी में रूपक का। दूर-दूर तक अपना अर्थ फेंकने वाले प्रतीक मानस में भी मिलते हैं और कामायनी में भी ऐन्द्रिक संवेदनाओं से मुक्त और अपने सम्मोहन में बांधने वाले बिम्ब दोनों में मिलते हैं। किन्तु मानस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की भाषा-शैली में ऐसा बहुत कुछ मिलता है जो कामायनी में नहीं है। मानस की भाषा मुख्यतः जनवादी है, जबकि कामायानी की अभिजातवादी। मानस में उच्च कोटि की साहित्यिकता के बावजूद भाषा में संप्रेषण की वह व्यापकता मिलती है जिसका कामायनी में अभाव रहा है।

यदि उपयुक्त आधारों पर यह कहा जाय कि रामचरितमानस देश और काल की सीमाएं लांघने वाला काव्य है और यह विशेषता कामायनी में नहीं है तो कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। फिर भी यह कहा जा सकता है कि दोनों रचनाएं महाकाव्य हैं और हिन्दी-काव्य की विकास-यात्रा के भी मील स्तंभ हैं, ऐश्वर्य-साम्राज्य के भव्य विजय-द्वार हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० प्रभात
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग
बंबई विश्वविद्यालय
बंबई-32

प्रतीक : अर्थ के बदलते संदर्भ

'प्रतीक' शब्द अपनी दीर्घ, जटिल जीवन-यात्रा में अनेक अर्थों से जुड़ता और टूटता रहा है। पुरानी ग्रीक भाषा में यह कभी 'फेंकने' का अर्थ देता था तो कभी सुरापात्र प्रतियोगिताओं के प्रवेश-पत्र का। संस्कृत में यह 'अंग' या 'अवयव' से लेकर 'विलोम' और 'प्रतिकूल' तक का अर्थ देता रहा है। इतिहास के खण्डहरों में भटकने का भी अपना रस है, पर इस संदर्भ में इतिहास की ओर देखना इसलिए आवश्यक है कि 'प्रतीक' शब्द के पुराने अर्थों के अवशेष नए अर्थ के आयामों को निर्धारित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। जैसे अवचेतन में छिपी कुंठित पीड़ाएं चेतन को समझने में सहायक होती हैं, वैसे ही 'प्रतीक' के पुराने, पीछे छूटे हुए, विस्मृत-अर्थ उसके वर्तमान को परिभाषित करने में साधक हैं।

हिन्दी का 'प्रतीक' शब्द तन से तो शुद्ध संस्कृत-परंपरा का है, पर इसका मन (अर्थ) यूरोपीय परंपरा से विशेष जुड़ा हुआ है। सच तो यह है कि सौंदर्यशास्त्र तथा कला-चिन्तन के आधुनिक संदर्भ में यह अपने से अधिक अपने अंगरेजी पर्याय (सिम्बल) के अर्थ की व्यंजना करता है। इसलिए प्रतीक शब्द के अर्थ की सम्पूर्णता को निरूपित करने के लिए परंपरा के भारतीय ही नहीं, पाश्चात्य सूत्रों का भी अन्वेषण आवश्यक है।

व्युत्पत्तिपरक अर्थ के पश्चिमी सूत्र

प्रतीक का अंगरेजी पर्याय 'सिम्बल' अर्थ ही नहीं, रूप की दृष्टि से भी बड़ा अस्थिर रहा है। जहाँ 'प्रतीक' शब्द में ऋग्वेदकाल से अब तक विशेष उल्लेखनीय विकार नहीं आए[1], वहां 'सिम्बल' पांच शतियों में ही कई रूप बदल चुका है—Simbol (16 वीं), Symbola तथा Symbole (16-17 वीं) और Symbole (17 वीं)[2]। अर्थ की दृष्टि से इसकी यात्रा और भी वैविध्यपूर्ण है। दो हजार वर्ष से अधिक के यूरोपीय इतिहास के अनेक संदर्भों और लौकिक-अलौकिक कथाओं से जुड़ता-टूटता यह शब्द आधुनिक युग तक कितने ही अर्थ बदल चुका है और आज भी अपने वाच्यार्थ की सीमा से बाहर के अनकहे संदर्भों, संकेतों और अर्थ की अरूप झंकृतियों का व्यंजक होने के कारण आलो-आधारी व्याख्याओं का केन्द्र बना हुआ है, यहां तक कि इसके कलागत-स्वरूप के कतिपय अरूप आयामों के निर्धारण में स्वयं प्रतीकवादी भी एकमत नहीं हैं।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से सिम्बल परवर्ती लेटिन के दो शब्दों का रूपान्तरण माना जाता है। एक परंपरा इसे 'सिम्बोला' से जोड़ती है और दूसरी 'सिम्बोलम' से।[3]

लेटिन में प्रचलित 'सिम्बोला' ग्रीक 'सिम्बोलह'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का रूपान्तरण है।[4] इसके सामान्य आदिम अर्थ थे—[5]

(1) देय अंश अथवा दिए जाने वाला भाग
 (क) दावत में सहभोजी द्वारा दिया जाने वाला उसका भाग
 (ख) मदिरालय के बिल में सहपायी द्वारा चुकाए जाने वाला अंश

(2) निशाना या गोली मारना

(3) समाकलन

अब सिम्बोला के उक्त सभी अर्थ पुराने और प्रयोगातीत हो गए हैं। दूसरे (निशाना या गोली मारना) और तीसरे (समाकलन अर्थ इसके फ्रेंच रूपान्तरण सिम्बोल (Symbole) के साथ बहुत दिनों तक जुड़े थे, पर वहां भी वे अब प्रचलित नहीं रहे।

पहला अर्थ था 'देय भाग' जो वस्तुतः मदिरालय के बिलों या भोजों में सहपायी या सहभोजी द्वारा दिए गए अपने भाग के संदर्भ में प्रासंगिक था।[6] यह अर्थ भी अब निर्जीव व अप्रचलित हो गया है, पर किसी समय यही प्रमुख सामान्य अर्थ था और बहुत चलता था। ईसा के पूर्व ग्रीस में सुरापान-प्रतियोगिताएं अभिजातवर्गीय महत्त्व की प्रतीक थीं। उसमें भाग लेने वाले हर प्रतियोगी को खर्चे के अपने देयांश के बदले कोई वस्तु बंधक के रूप में रखनी पड़ती थी। ये बंधक वस्तुएं 'सिम्बोला' कहलाती थीं। प्रतियोगिता में प्रवेश के लिए ये वस्तुएं 'पारपत्र' (पासपोर्ट) का कार्य करती थीं, इसलिए यह शब्द भी इन 'पानोत्सवों में प्रवेशार्थ पारपत्र' और बाद में किसी भी सभा, गोष्ठी या उत्सव में प्रवेश दिलाने वाले पत्र अथवा सामान्य 'पारपत्र' (या प्रवेश पत्र) के लिए प्रयुक्त होने लगा।[7] इसी संदर्भ के कारण इसका प्रयोग 'सुरापायी विलासी व्यक्ति' अथवा 'सुरापान के बिल की वास्तविक देय राशि' के लिए भी किया जाने लगा था, पर फिर भी, सामान्यतः प्रचलित अर्थ था 'वह बंधक वस्तु जिसे देकर प्रतियोगिताओं या उत्सवों, गोष्ठियों में प्रवेश पाया जाता था'। व्यापक रूप से किसी भी 'प्रवेश पत्र' या 'पारपत्र' के लिए 'सिम्बोला' शब्द प्रयुक्त होता था।

'सुरापान-प्रतियोगिताओं' से 'सुरापान समारोहों' और 'सुरापान समारोहों' से सामान्य 'भोज-समारोहों' के रूप में इसका अर्थ-विस्तार होता गया। यहाँ से यह शब्द जब ईसाई धर्म के क्षेत्र में पहुंचा तो इसे एक नया अर्थ प्राप्त हो गया—'ईसाई समाज में प्रचलित सामूहिक संस्कार-भोज' का प्रसाद[8]। सामूहिक भोज के इस प्रसाद को मध्यकाल में 'ईसा के शरीर का अंश' मानते थे और उसे प्राप्त करने का अर्थ था—ईसा के साथ एकत्व प्राप्त कर लेना। इस प्रकार 'प्रतीक' उस 'प्रसाद' का वाचक था जो ईसा से संबद्ध कराने का साधन था। ईसाई-धर्म के क्षेत्र में यह एक और रास्ते से भी पहुंचा, पर अर्थ-विकास की इस यात्रा का प्रारंभ भी सुरापान-प्रतियोगिताओं से ही हुआ। बंधक रखी जाने वाली वस्तुओं में अधिकांशतः वैयक्तिक मुद्राओं (मुहर वाली अंगूठियों) का प्रयोग होता था या उनके स्थान पर मोम या मिट्टी पर अंकित हस्ताक्षरों को काम में लाया जाता था। ये वस्तुएं 'प्रतियोगिताओं' में भाग लेने वाले के लिए अप्रत्यक्ष रूप से चिन्हानी या प्रत्ययपत्र (विश्वसनीय परिचयपत्र) अथवा पारपत्र का कार्य करती थीं। फलस्वरूप सिम्बोला का अर्थ हो गया 'अधिकृत प्रत्ययपत्र या पारपत्र'। इस दूसरे मार्ग से जब यह शब्द ईसाई-धर्म की परिधि में पहुंचा तो यह ईसाई धर्मसूत्र (क्रीड) का पर्याय हो गया जो वस्तुतः स्वर्ग के पारपत्र के रूप में माना जाता था।[9] धर्म के क्षेत्र में यह और अनेक रूपों में भी वर्तमान रहा, पर इन सभी रूपों में एक अर्थ सभी जगह प्रस्तुत था और वह था 'किसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य का परिचय कराना'। यह उस 'दृश्यवस्तु' का द्योतक था जो स्वयं हमारी चेतना में किसी 'अदृश्य' का प्रतिनिधित्व करती थी।[10] इस प्रकार प्रतीक 'अदृश्य' को 'दृश्य' से जोड़ने का कार्य करता रहा है।[11] आज भी प्रतीक स्वयं को प्रस्तुत नहीं करता, किसी अन्य का परिचय कराता है। वह दूसरे को ही प्रस्तुत करने मे अपनी सार्थकता मानता है।

सिम्बल का जीवन्त संबंध लैटिन भाषा के 'सिम्बोलम' शब्द से है,[12] जो स्वयं ग्रीक सिम्बोलन[13] का रूपांतरण है। प्राचीन ग्रीस में सिम्बोलन कहा जाता था किसी वस्तु के उन अर्द्धांशों को जिन्हें दो गुट आपस में बांट कर दूसरे गुट की उपस्थिति के प्रमाण के रूप में रखते थे। आगे चलकर अन्य वस्तुएं भी जो इस प्रकार के प्रमाणों और पहचान-चिह्नों के रूप में प्रयुक्त होती थीं (जैसे लाख पर लगी सील या सील वाली अंगूठी) 'सिम्बोलन' कहलाने लगीं। सिम्बोलन के अन्य अर्थ भी इसी वर्ग के हैं; चिह्न, निशानी, टिकिट, टेसेरा (हड्डी का टुकड़ा जो रोम में संकेत या टिकिट के रूप में चलता था) पारपत्र, आदि।[14] व्युत्पत्ति की गहराई में जाने पर पता चलता है कि इस ग्रीक शब्द के भी दो अंश हैं एक है उपसर्ग ᵹ v r (Syn) जो Sym या 'सह' कवाचक हैं और दूसरा है Bolon 'बोल्हे' जिसकी आधारभूत धातु 'बोलोज' 'Bols जिसका अर्थ है 'फैंकना'।[15] इस प्रकार सिम्बोलन का मूल अर्थ हुआ 'साथ फैंकने' की प्रक्रिया। इसी का क्रिया-रूप (infinite form) हैं 'सिम्बेलिएन'। इसीलिए सामान्यतः कहा जाता है कि 'सिम्बल' शब्द सिम्बेलिएन' से बना है।[5]

प्रयोग के आधार पर सिम्बेलियन के जो अनेक अर्थ ग्रीक कोशों में दिए हुए हैं उनका विश्लेषण करने पर भी ज्ञात होता है कि उक्त मूल-अर्थ के अतिरिक्त जो अन्य अर्थ हैं, उनमें से अधिकांश किसी न किसी तरह 'मिलाना', 'जोड़ना' या 'एकत्र करना' की ध्वनि व्यक्त करते हैं।[17] शायद इसी आधार पर एक प्रश्न उभरा है कि कहीं संस्कृत 'संगम' अथवा 'संग' और 'ग्रीक' 'सिम्बोलन' का कोई आंतरिक संबंध तो नहीं है। श्रीमती मरे आयंसले द्वारा लिखित 'सिम्बोलिज़्म ऑफ दा ईस्ट एंड वैस्ट' की भूमिका की पाद-टिप्पणी में सर जार्ज वर्डवुड ने दबे स्वर में यह सुझाव दिया है। उनका कहना है कि अरकादिया में एल्फ्यूज (नदी) के उद्गम स्थल फाइलैंस के समीप बहुत से छोटे-छोटे सोते निकल कर इससे मिलते हैं। इसी मिलन को संकेतित करने के लिए 'सिम्बोला' नाम पड़ा है। (तुलनीय-संस्कृत 'संगम') बलकलावा को पुराने ग्रीस में 'सिम्बोलन पोर्टस' कहा जाता था, या तो इसलिए कि यह संकेत देने वाला स्टेशन था या इसलिए कि यह सुरक्षा के लिए Scyths के विरुद्ध Chersonsrus तथा Eupatorium से एक दीवार द्वारा जुड़ा था (तुलनीय-संस्कृत संग-पुल)[18] या फिर शायद इसलिये कि यह एक संधि-बंदरगाह (ट्रीटी-पोर्ट) था, परन्तु ग्रेस में, सिम्बोलम नाम क्यों पड़ा, यह मैं नहीं जानता।[19] संस्कृत 'संग' और 'संगम' दोनों में 'मिलन' का विशेषकर नदियों के मिलन का भाव व्यक्त होता है, पर 'सिम्बोलन' की आधारभूत धातु 'बोलोज़' और गम्) (सगम=स म् √गम् (जाना)+अप्) में रूपगत साम्य नहीं है। न 'गम्' 'बोलोज़' बन सकता है ओर न 'बोलोज़' 'गम्'। दोनों अर्थों में——'फैंकना' और 'जाना' में सिर्फ यह साम्य है कि दोनों में गति है, इससे अधिक कुछ नहीं और यह सादृश्य संयोगवशात् ही है।

इस संदर्भ में एक सुझाव और है। यह भी वर्डवुड द्वारा प्रस्तुत किया गया है। उनका कथन है कि हो सकता है कि एसीरो-बेबीलोनियन सूर्य-वाचक संज्ञा 'समस', हिब्रू के 'शेमेश' तथा ग्रीक के 'सेमिअन' में (जिनके अर्थ हैं, 'एक चिह्न', 'एक टोकेन' 'एक तारामण्डल') कोई परस्पर-संबंध न हो, परन्तु, सूर्य का प्राचीनतम अक्कादियन नाम 'कसेबा' (तुलनीय-कैसियोपी) का ऐसीरो-बेबीलोनियन् रूप 'सलम' (Tsalam) है। (तुलनीय-सूर्य-देवी सलम्बो)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसका अर्थ है 'बिम्ब', 'प्रतीक' आदि ।[20] इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि 'प्रतीक' का संबंध कभी सूर्यवाचक संज्ञाओं से रहा होगा । ऐसीरो—बेबीलोनियन रूप 'सलम' और उसके सूर्यदेवी वाचक स्त्रीलिंग रूप 'सलम्बो' का 'सिम्बोलम' से संबद्ध होने की कल्पना सरलता से की जा सकती है । पर मेरा अनुमान यह है कि यह साम्य भी संयोगवश ही है । जैसा कि वर्डवुड ने स्वयं संकेत दिया है, 'सलम' (Tsalm) रूप वस्तुत: अरबी के 'तिलस्म' का रूपान्तरण है और 'सिम्बोलम' 'सिम्बेलिएन' का । इसलिए सलम और सिम्बोलम दो भिन्न स्रोतों से आए हुए शब्द हैं और इनका आन्तरिक अर्थगत संबंध खोजना गलत है ।

सिम्बल के आधुनिक प्रचलित अर्थ :

इस संदर्भ में यह देखना भी आवश्यक है कि साहित्य के बाहर आजकल प्रतीक किन अर्थों को लेकर चलता है । वैसे उसके अर्थों के दो प्रमुख क्षेत्र हैं। एक है धार्मिक जहां वह अपनी विशिष्ट अस्मिता रखता है, दूसरा है लौकिक संदर्भ । इन्हीं दोनों की कतिपय विशेषताएं लेकर यह साहित्य की परिधि में आया है ।

धार्मिक क्षेत्र में सिम्बल के अर्थ हैं :

(1) ईसाई-चर्च या किसी विशेष चर्च अथवा संप्रदाय की धार्मिक आस्थाओं का औपचारिक आधिकारिक विवरण; सारांश;

ईसाई धर्म-सूत्र विशेषकर ईसा के दिव्य संदेश-वाहकों के धर्मसूत्र; धर्म की स्वीकृति[1]

उक्त प्रयोग लगभग 250 ई० से प्रचलित हैं, जब साइप्रेसवासी 'कार्थेज के बिशप' ने लैटिन शब्द सिम्बोलम का प्रयोग बपतिस्माई धर्मसूत्र के लिए किया था । यह धर्मसूत्र (क्रीड) ईसाई होने का चिह्न था, जो उसे बुतपरस्तों से अलग करता था । सिम्बोलम का एक पुराना अर्थ 'एकत्र करना' या 'एक साथ रखना' भी था। अतः सिम्बोलम-एपोसोलिकम का अर्थ लगा दिया गया 'एपोसिलों अर्थात् ईसा के दिव्य संदेश-वाहकों द्वारा एकत्र किया हुआ । वस्तुत: यह धारणा सही नहीं है । जैसा कि पीछे स्पष्ट किया जा चुका है ईसाई सामूहिक भोज के प्रसाद से (ऐलीमेंट ऑव सैक्रामेंट ऑव यूखेरिस्ट से) संबद्ध होने के कारण सिम्बोलम संज्ञा इसे प्राप्त हुई थी ।

(1) इसी अर्थ से सम्बद्ध एक स्थानांतरित अर्थ और है जो अब प्रयोगबाह्य हो गया है । वह है- संक्षिप्त अथवा सूत्रबद्ध वक्तव्य, फार्मूला, आदर्शव्यंजक वाक्य (मोटो), तत्त्वोक्ति (मेक्सिम), सारांश या संक्षिप्त रूप रेखा ।[21]

(2) कोई वस्तु किसी पवित्र वस्तु का प्रतिनिधित्व करे : विशेषकर (पुराना, अप्रयुक्त) ईसा के अन्तिम भोज के स्मारक रात्रिभोज के या उस अवसर पर बाँधी जाने वाली रोटी के तत्त्वों में से एक का अर्थ होता है ईसा के साथ एकता स्थापित कर लेना ।

लौकिक संदर्भ में इसके अर्थ हैं : (1) वह जो किसी अन्य के लिए प्रयुक्त हो या किसी अन्य का प्रतिनिधित्व करे या किसी अन्य को अभिधायित करे (पूर्ण सादृश्य द्वारा नहीं, वरन् अस्पष्ट संकेत द्वारा अथवा आकस्मिक या परिपाटीजन्य संबंध द्वारा) : विशेषकर कोई भौतिक वस्तु जो किसी अभौतिक या अमूर्त वस्तु का प्रतिनिधित्व करती है या करती हुई मानी जाती है, जैसे कि अस्तित्व, प्रत्यय, गुण, परिस्थिति, कोई प्रतिनिधिक या उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की जाने योग्य आकृति, चिह्न या निशानी ।[22]

वस्तुत: यही प्रतीक का प्रचलित सामान्य वाच्यार्थ है। इस भाव को वह कुछ विशिष्ट संदर्भ में कुछ भेद के साथ व्यक्त करता है, जैसे :

(2) मुद्रा के संदर्भ में इसका अर्थ होता है मुद्रा पर खुदा एक छोटा चिह्न जो प्राय : उस पर मुख्य अंकन से स्वतंत्र और उसके अतिरिक्त होता है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(3) एक लिखित अक्षर या चिह्न जो अन्य का प्रतिनिधित्व करने के लिए प्रयुक्त होता है; एक अक्षर; आकृति; चिह्न जो परिपाटी के कारण किसी प्रक्रिया या वस्तु आदि का प्रतिनिधित्व करे।

प्रतीक के अर्थों के पुराने सूत्रों और संदर्भों का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि इसके आदि-पुरुष आधारभूत ग्रीक शब्द 'सिम्बेलियन' का मूल अर्थ 'साथ-साथ फेंकना या प्रक्षेपण' या 'साथ-साथ रखना' आज भी प्रतीक की आंतरिक सूक्ष्म विशेषता है। अभिव्यक्ति के क्षेत्र में वह 'प्रस्तुत' को 'अप्रस्तुत', 'व्यक्त' को 'अव्यक्त' और प्रतिनिधि वस्तु को 'प्रतिनिधेय' के साथ रखता है। इन में एक 'कथित' रहती है. दूसरी 'अकथित' (वस्तुत : कथ्य ही अकथित रहती है) और कथित अकथित की व्यंजक, संकेतक, सूचक प्रतिनिधि बन जाती है। केवल 'फेंकने' का अर्थ लें, तो भी प्रतीक में उसका निर्वाह होता है। प्रतीक की विशेषता ही है—'अर्थ का स्थानान्तरण'। वह अर्थ को एक जगह से उठाकर दूसरी जगह फेंकता है। जहाँ या जिसकी ओर अर्थ फेंका जाता है, वही प्रतिनिधेय होता है। इस प्रकार प्रतीक की अर्थ-निष्पत्ति की प्रक्रिया में 'प्रक्षेपण' एक अनिवार्य तत्त्व है।

प्रतीक की 'सिम्बोला' वाली परंपरा के अर्थ अपने पुराने रूप में अब प्रचलित नहीं है, पर 'सिम्बोलन' की परपरा के अर्थों में से अनेक अब भी जीवन्त सदर्भों से जुड़े हुए हैं। इन अर्थों में से अधिकांश दो वर्गों में रखे जा सकते है :

(क) 'प्रतिनिधित्व' को गर्भ में रखकर विकसित अर्थ

(ख) 'संक्षिप्तता को केन्द्र में रखकर विकसित अर्थ (सूत्रबद्ध कथन, मोटो, मैक्सिम . इत्यादि)

आधुनिक प्रतीक में ये दोनों तत्त्व भी किसी न किसी रूप में समाए हुए हैं। 'सूक्ष्मता' या 'संक्षिप्तता' वस्तुत: कथन के 'घनीभूत रूप में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति है। अधिक से अधिक अर्थगत घनीभूतता प्रतीक का स्वभावत: गुण है। इसी प्रकार प्रतिनिधित्व भी प्रतीक के साथ प्रारंभ से ही प्रस्तुत करने में ही प्रतीक की सार्थकता है। प्रति-निधित्व की क्षमता से हीन वस्तु 'प्रतीकत्व' की विशेषता भी खो देती है। इस तरह मूल अर्थ और समसामयिक वाच्यार्थों (कोशार्थों) में से तीन तत्त्व 'कला प्रतीक' में अदृश्य रूप से आज भी व्याप्त हैं। ये तत्त्व हैं......

(1) **अर्थ का प्रक्षेपण (फेंकना) :** यह सिम्बल का मूल व्युत्पत्तिपरक अर्थ है। अंग्रेज़ी में प्राय: इसे 'डिसप्लेसमेंट ऑफ मीनिंग' कहा जाता है क्योंकि फेंकना ही स्थानान्तरण में परिवर्तित हो गया है। इसमें शब्द का अर्थ दृश्य से अदृश्य की, ज्ञात से अज्ञात की, स्पष्ट से अस्पष्ट की और संवेद्य से असंवेद्य की ओर प्रक्षेपित किया जाता है। यह प्रक्षेपण ही सम्बद्ध शब्द को प्रतीकत्व प्रदान कर देता है।

(2) **अर्थगत घनीभूतता और संक्षेपीकरण :** वस्तुत: यह अर्थ ईसाई धर्मसूत्रों के मार्ग से विकसित हुआ है। प्रतीक में बहुत से अनकहे संकेत और व्यंजनाएं सूक्ष्म रूप में समाए रहते हैं। यही घनीभूतता प्रक्षेपण के सहारे उसे एक ऐसा विस्तार देती है जिसे परिभाषित करना सरल नहीं है।

(3) **प्रतिनिधिकत्व और पहचान :** मध्यकाल में सुरा-पान प्रतियोगिताओं में प्रवेश पाने के अधिकारी की पहचान कराने वाली वस्तु प्रतीक कहलाती थी। ईसाई धर्म में संस्कार-भोज का प्रसाद (जो ईसा के शरीर का प्रतीक माना जाता था) प्रतिनिधित्व के बल पर ही महत्त्व पा गया था। प्रतीक आधुनिक अर्थ में भी इन दोनों तत्त्वों को समेटे हुए है। वह अब अभ्युदिष्ट से अलग किसी अन्य की पहचान कराता है और जिसकी पहचान कराता है उसी का प्रतिनिधि बन जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त तीन अर्थों के अतिरिक्त और बहुत-से अर्थ प्रतीक के यूरोपीय पदार्थों के साथ जुड़े थे, पर वे तात्कालिक ही थे और संदर्भ के बदलाव के साथ ही, बदल गए। उक्त अर्थ वस्तुतः प्रतीक के आधुनिक अर्थ के संयोजक तत्त्व बनकर उसकी आत्मा में समा गए हैं और उसकी अस्मिता के अंश बन गए हैं।

प्रतीक के परंपरागत अर्थ के भारतीय रूप

'प्रतीक' की भारतीय अर्थ-परंपरा पश्चिमी परंपरा से कहीं अधिक पुरानी है, पर उसके अर्थगत व्यक्तित्व में न उतनी अस्त-व्यस्तता है और न उसकी यात्रा उतने भटकाओं से भरी है। जो भी हो, 'प्रतीक' शब्द बहुत पुराना है। संसार के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ ऋग्वेद में उसका प्रयोग है—'वि सानुना पृथिवी सस्र उर्वी पृथु प्रतीक मध्ये अग्निः।'[23] सायणाचार्य ने इसका भाष्य करते हुए कहा है—'तदाक्षिनः पृथु विस्तीर्ण प्रतीकं पृथिव्या अवयवम्।' 'अवयव' या 'अंग' की ओर संकेत करने वाले इस प्रयोग का उल्लेख मैं इसलिए कर रहा हूं कि यह संयोग की बात है कि यूरोप में भी इसके आधुनिक पर्याय सिम्बल के ग्रीक पूर्वज का प्रयोग कभी 'अंग' के अर्थ में होता रहा है,[24] पर यह केवल संयोग की बात है। उपनिषद्काल में भी प्रतीक शब्द प्रयुक्त होता रहा है।

संस्कृत में ही नहीं, प्राकृत में भी इसके रूप मिलते हैं और संस्कृत के अर्थ में ही। प्राकृत की 'रंभामंजरी' में 'पईअ' (प्रतीक) तथा 'पइप्पईयन' (प्रतिप्रतीक) अंग (अवयव) तथा प्रत्यंग के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।[25]

हिन्दी की बोलियों में भी प्रतीक या उसके रूपान्तर मिलते हैं राजस्थानी के ग्रंथ 'प्रतापसिंघ म्होकम सिंघ की बात' में 'प्रतीख'[26] प्रयोग मिलता है जो प्रतीक का ही रूपान्तर है।

'प्रतीक' शब्द के प्राचीन अर्थ का एक सूत्र उसकी व्युत्पत्ति से भी उपलब्ध होता है। व्युत्पत्ति शब्द के उद्गम के निकट ले जाती है और उन अवधारणाओं की ओर संकेत करती है, जो शब्द की रचना के प्रारंभिक दौर में रचनाकारों के सामने जाने या अनजाने अस्तित्व में थीं। इस दृष्टि से देखने पर पता लगता है कि 'प्रतीक' शब्द 'प्रति' पूर्वक गमनार्थक 'इण्' धातु से बना है। 'गतिः गमनम्, गतिः प्राप्तिः, गतिर्ज्ञानम्' के अनुसार इसका मूल अर्थ होता है—चलना, प्राप्ति या पहुंचना और ज्ञान। (प्रति+इण+क्वण्+स्वार्थेकन्। प्रति-इण् गतो में 'इण' का 'इ' ही शेष रहेगा। इसमें 'क्विप्' प्रत्यय तथा दीर्घीकरण के कारण 'प्रती' बनता है और फिर स्वार्थे 'कप्' प्रत्यय के योग से 'प्रतीक' शब्द सिद्ध होता है।) 'प्रति' जब उपसर्ग के रूप में संज्ञाओं और क्रियाओं के पहले लगाया जाता है, तो इससे कई अर्थ निकलते हैं, जैसे (क) किसी काम या बात के आधार परिणाम या फलस्वरूप होनेवाला (ख) विपरीत, विरोधी या समानान्तर पक्ष में होने वाला (ग) किसी के अनुरूप बनने या होने वाला आदि। पर 'गति' के साथ इसे जोड़कर यही अर्थ सिद्ध होता है कि वह तत्त्व (शब्द, वस्तु आदि) जो ले चले, पहुंचाएं या परिचय कराए। इस प्रकार प्रतीक के उक्त व्युत्पत्तिपरक अर्थ में अपने से बाहर को अन्यत्र ले जाने या किसी अन्य के परिचय कराने का भाव सहज रूप में निहित है।[1] इस प्रकार भारतीय परंपरा हमें प्रतीक के निम्नलिखित अर्थ देती है :

(1) गतिपरक अर्थ—ले जाने वाला और पहुंचाने वाला आदि के सभी अर्थ जो गति से निसृत होते हैं।

(2) अवयव या अंग, शिशुपालवध (18-19) आदि ग्रंथों में आनेवाला यह अर्थ अब लुप्त हो गया है। अमरकोशकार ने जिन संदर्भों के कारण यह अर्थ दिया था, वे अब पीछे छूट गए हैं।

(3) विलोम—इस अर्थ की प्रासंगिकता अब नहीं रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(4) प्रतिरूप—यह अर्थ उपासना के क्षेत्र से आया है और प्रतिनिधिकत्व का बोध कराता है।

इस प्रकार भारतीय परंपरा के अर्थों के दो रूप प्रतीक के आधुनिक अर्थ में दिखाई पड़ते हैं। एक सूत्र है, व्युत्पत्तिपरक अर्थ का जिसमें 'गति' का भी समावेश है। आज का प्रतीक भी कहीं ले जाने का काम करता है। वैसे तो हर शब्द अपने तन की सीमा से—नादात्मक स्थूल रूप से—बाहर ले जाता है, पर प्रतीक अपने नादात्मक (शब्दरूप) से बाहर जाकर जिस अर्थ पर पहली बार टिकता है, वहां से भी आगे कहीं अन्यत्र ले जाता है। यह दूसरी यात्रा ही उसे प्रतीकत्व प्रदान करती है। प्रतीक के 'विलोम' आदि अर्थ अब लुप्त हो गए हैं। 'प्रतिरूप' किसी न किसी रूप में चला आ रहा है क्योंकि मूल का कुछ अंशों में प्रतिरूप हो सकता है।

यह वस्तुतः आश्चर्य की बात है कि भारतीय परंपरा प्रतीक के भीतर 'गति' का भाव लेकर चली थी और पाश्चात्य परंपरा 'सिम्बल' के आदिम रूप के भीतर 'फेंकने' का भाव। 'सिम्बल' और 'प्रतीक' दोनों भारोपीय परंपरा के प्रतीक हैं और इसके पूर्वज एक हो सकते थे, पर विकास परंपरा के किसी युग में ऐतिहासिक रूप से जुड़े होने का कोई प्रमाण नहीं है। इनके रूप में इतना अंतर है कि इन्हें किसी एक ही पूर्वज की संतान मानने का भ्रम भी नहीं हो सकता है। फिर भी दो मित्र परंपराओं के मूल अर्थ——'फैंकना और जाना' अपने सूक्ष्म रूप में इसके साथ आज भी जुड़े हुए हैं। और इसके साथ काव्यगत व्यंजक व्यक्तित्व के निर्धारण में निर्णायक भूमिका निभाते हैं।

---

1. प्रतीक का केवल एक रूपान्तर प्राकृत में मिलता है 'पईअ' (रंभामंजरी में, पाइअ सद्दमहण्णवो, पृष्ठ 495)
2. The OXF English Dictionary (Vol. X), pp. 362
3. OXF (X) pp. 363
4. (L) Symbola (Sumb) (GK) (Borrowed) OXF (X) pp. 363
5. A contribution of money to a feast, a share of a reckoning one's scot, shot; collecta (ante and post-class)—A Latin Dictionary, ed. Lewis & Short (OXF) pp. 1829
6. "A share of a reckoning"—A latin Dictionary, Lewis & shorts pp. 1829 "The original Symbol was a pledge to pay one's proportions of the cost of a Greek drinking match"—Symbolism of the East & West pp. XVIII (F. notes)
7. G. K. English Lexicon, Liddill & Scott (OXF) pp. 1676
8. Elements of Sacrament of Eucharist
9. This may also partly explain the application of the term to a "Creed"—as a passport to heaven—as in the instance of 'Symbolism Apostolicum'—Symbolism of the East & West, introduction, pp XVIII
10. Symbol the term given to a visible object representing to the mind the semblance of some thing which is not visible............Ency. Birt. Vol. XXI
11. ...It presents the concrete material world of roses, toads, canes, stars etc. and through them reveal an otherwise invisible world. —A Greek English Lexicon, pp. 1676
12. Symbolum जो आंशिक रूप से फ्रेंच Symbola (.6वीं शती) इतालवी तथा स्पेनिश Symbole पुर्तगाली से होकर अंगरेजी के वर्तमान रूप तक आया हैं। OXF (X) pp. 362
13. ग्रीक Symbolum तथा Symbolus से Symbolum तथा Symbolus बने (lus रूप पुराना और प्रयोग बाह्य है।).

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

14. Greek English Lexicon, Liddell & Scott (OXF) pp. 1676

15. OXF (X) pp. 362

16. Derived from G. K. 'Symbollien' 'to throw' which thus suggests the essential quality of symbolism, the drawing together of two worlds; it presents the concrete material world of roses, toads, caves, stars etc., and through them reveals an otherwise invisible world. As a noun the original Greek word denoted half of something broken into two, and thus the word suggests not something that stands for something else, but something that is a part of larger unit"—Dictionary of Literary Terms (Constable & Co. Ltd.)

17. A Greek English Lexicon, II Vol. pp. 1676 पर सिम्बेलिएन के निम्नलिखित अर्थ दिए हुए हैं :

* **Throw together,** dash together of man in close combat.
* **Bring together**, unite i.e. of rivers that fall into one another
* **Collect**, accumulate, jumble up together, come together, close the eyes.
* Fit, suitable, make a contract, conribute compare, converse, agree etc.

18. संग (सङ्ग) का अर्थ संस्कृत में पुल नहीं है, मिलन, नदियों का संगम...आदि है——(मानक हिन्दी कोश, पांचवां खण्ड, पृष्ठ 211)
वर्डवुड का यह अनुमान भ्रमपूर्ण है।

19. Symbolism of the East & West, Introduction pp. XIX

20. There may be no connection between Assyro, Babylonian name for the sun, samas, in Hebrew Shemesh, and Greek Semion, "a mask" "a device" "a Sign" "a constellation" "a token". But the earlier Akkadian name for the Sun Kasseba (of Cassiopea) is rendered in Assyro Babylonican by tsalam (of the sun-goddess Salambo) meaning "image" "symbol". This is the Arbic tilsam, in plural talsim, from which comes, through the spanish, our "Talisman" and possibly the Greek "TALESMAN" a payment" "imitation" "mystery"—"Symbolism of the East and West, Mrs. Murray Aynslay, Introduction pp. XVII.

21. 1490=CAXTON—How to Die 4 "Thv Credo and Symbol of the fayth."

1877 A.D. CAROLINE HAZARD Mem. F. L. Diman VII 150 "The Nicene Creed, the great symbol in which the divinity of Christ is asserted and and defined.

1912 A.D. Christian Quarterly Review July, 349 "Salnar" in 1581 gathered the ten chief symbols of the Reformed Churches———"

OXP (X) pp. 362 II

22. 1751 Jonson Rambler No. 117—The celebrated symbol of Pythagoras—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"When the wind blows worship its echo—"
1656 Blount Glossogr—"Symbol...a short and intricate riddle or sentence,"
OXF (X) pp. 362 (II)

23. An object representing something sacred; specially (absol) either of the elements in the eucharist as representing the body and blood of christ OXF pp. 362.

24. Something that stands for represents or denotes something else (not by exact resemblance, but by vague suggestion or by some accidental conventional relation); especially a material object representing or taken to represent something in material or abstract, as a being, idea, quality or condition; representative cr typical figure, sign, or token; occasionally (obsolate) a type (of some quality) OXF 362

25. A written character or mark used to represent some thing, a letter, figure or sign conventionally standing for one object, process etc. OXF pp. 362

26. Displacement of meaning

27. 7/36/1

28. Dictionary of Literary terms :
As a noun the original Greek word denoted half of something broken into two, and thus the word suggests ....something that is part of a larger unit.

29. रंभामंजरी, निर्णयसागर प्रैस, बम्बई (1889)

30. 'सांचवट सूं अंगोअंग बाकारने मारणो अरु प्रथी प्रतीख चोख रो बचन उवारणो' राजस्थानी शब्दकोश, तृतीय खण्ड, पृष्ठ 2644

31. तिष्ठक ने गीता रहस्य (पृष्ठ 415) में इसकी व्याख्या इस प्रकार की है :
प्रतीक :—प्रति=अपनी ओर, इक=झुका हुआ।
जब किसी वस्तु का कोई भाग पहले गोचर होता है, फिर आगे उस वस्तु का ज्ञान हो, तब उस भाग को प्रतीक कहते हैं।'
—(आधुनिक हिन्दी काव्य में प्रतीक विधान से उद्धृत, पृष्ठ 19)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा० राजकिशोर पाण्डेय
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग,
उस्मानिया विश्व-विद्यालय,
हैदराबाद

यार मुहम्मद : दिल्ली का मध्य युगीन सूफ़ी साधक

जीवन-वृत्त :—

उत्तर मध्य-युग के सुप्रसिद्ध संत यारी साहब का बचपन का नाम यार मुहम्मद था। कहा जाता है कि इनका सम्बन्ध किसी शाही घराने से था। बाद में इन्हें वैराग्य हो गया और ये सत्य की खोज में लग गये। पहले इनका सत्संग सूफी फकीरों के साथ हुआ किन्तु उनके उपदेशों से तृप्त न हो कर इन्होंने नीरु साहब से दीक्षा ग्रहण कर ली। यारी साहब एक मस्तमौला फकीर थे। इनकी साधना से प्रभावित हो कर बहुत से लोग इनके शिष्य हो गये। इनके चार शिष्यों —केशवदास, सूफीशाह, शेखन शाह और हस्त-मुहम्मद ने दिल्ली के आस-पास के क्षेत्र में इनके विचारों का प्रचार किया और इनके पाँचवें शिष्य बूला साहब ने उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में इनकी विचारधारा को फैलाया।

यारी साहब के जन्म एवं मृत्यु-तिथि के सम्बन्ध में ठीक जानकारी नहीं है। पं० परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार ये संत मलूकदास (मृ. सन् 1682) और संत प्राणनाथ (मृ. सन् 1694) के समकालीन रहे होंगे।[1] किन्तु कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार ये सन् 1668 और 1723 के बीच वर्तमान थे।[2] यारी साहब की समाधि दिल्ली में है।

पंथ और गुरु : यारी साहब ने अपने नाम से कोई पंथ नहीं चलाया। इनकी गुरु-परम्परा का सम्बन्ध बावरी पंथ से है। बावरी पंथ का प्रारम्भ रामानन्द से माना जाता है जो सुप्रसिद्ध रामानन्द से भिन्न थे। रामानन्द, गाजीपुर जिले में पटना नामक गाँव के रहने वाले थे। इनके शिष्य रामानन्द ने उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिलों में इनके विचारों का प्रचार किया और दिल्ली में संप्रदाय का केन्द्र स्थापित किया। रामानन्द की शिष्य-परम्परा में बावरी साहिबा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिनके नाम से यह पंथ "बावरी पंथ" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बावरी पंथ के मठों में शिष्य-परम्परा से ज्ञात होता है कि ये मायानन्द की शिष्या थीं। और इनका सम्बन्ध किसी उच्च-घराने से था। सत्य की खोज में इन्होंने अनेक कष्ट उठाये। कई साधु-सन्तों से सत्संग करने के पश्चात् इनकी भेंट मायानन्द से हुई और उनके व्यक्तित्व से प्रभावित हो कर ये उनकी शिष्या बन गयीं।

बावरी साहिबा के वास्तविक नाम के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं है। सम्भवतः यह इनका संप्रदाय का नाम हो। कुछ लोगों ने इनकी एक सवैया भी उद्धत किया है, जिसमें "बावरी" उपनाम का प्रयोग हैं।[3]

नीरु साहब, बावरी साहिबा के शिष्य और यारी साहब के गुरु थे। इनके सम्बन्ध में भी अधिक जानकारी नहीं है। बावरी साहिबा का देहान्त हो जाने पर ये बाद में उनकी गद्दी पर बैठे और दिल्ली में रह कर मृत्यु-पर्यन्त पंथ के सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे। पं. परशुराम चतुर्वेदी का कहना है कि चित्रों में इनकी वेश-भूषा एवं प्राप्त रचनाओं के भाषा-रूप से ज्ञात होता है कि इनका सम्बन्ध पूर्वीय प्रान्त से रहा होगा और इनकी जन्म-भूमि सम्भवतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक रामानन्द की जन्म-भूमि रही होगी।

रचनाएं : यारी साहब की बहुत थोड़ी रचनाएं उपलब्ध हैं, जिनका संग्रह "रत्नावली" नाम से बेलवेडियर प्रैस, प्रयाग से प्रकाशित हो चुका है। "शब्द", "अलिफ़नामा", "कबित्त", "झूलना" और "साखी" नाम के पांच शीर्षकों में विभक्त है। "शब्द" गेय पदों में है किन्तु राग-रागिनियों का उल्लेख नहीं है। "अलिफ़नामा" फारसी के वर्णानुक्रम से लिखा गया है। इसमें दोहा और चौपाई छन्दों का प्रयोग है।

विचारधारा : यारी साहब की विचारधारा युगीन संतों की विचारधारा से मिलती है किन्तु उस पर सूफ़ीमत का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक है। यारी ने अपने उपास्य को "राम", "निरंजन", "खालिक" "नारायण", "हरि", "सत्त-पुरुष" आदि नामों से सम्बोधित किया है। वह अविगत और अविनाशी है, वह अगम्य एवं अपार तथा आदि अन्त एवं मध्य से परे है। वह पिण्ड एवं ब्रह्मांड सर्वत्र व्याप्त है किन्तु दोनों से भिन्न है "अंधे को हाथी" वाली कहावत का सहारा लेते हुए यारी कहते हैं कि जिस प्रकार अन्धे हाथी के अलग-अलग अंगों का स्पर्श करके अपनी स्पर्शानुभूति के अनुकूल हाथी के रूप का वर्णन करते हैं वैसे ही अज्ञानी ब्रह्म के विभिन्न रूपों की एकांगी कल्पना करते हैं।[4]

ब्रह्म, जीव एवं सृष्टि की एकता का प्रतिपादन करते हुए यारी कहते हैं कि जैसे सोने से विभिन्न प्रकार के आभूषण बनते हैं किन्तु उन विभिन्न रूपों के मूल में सोना है वैसे ही जीव एवं सृष्टि के अगणित पदार्थों के रूप में ब्रह्म है—

गहने गढ़े तें कहीं सोनों भी जातु है
सोनो बीच गहनो और गहनो बीच सोन है।
भीतर भी सोन और बाहर भी सोन ही है।
सोनों तो अचल अंत गहनो की मौज है।[5]

ब्रह्माण्ड में अनन्त चैतन्य की धारा प्रवाहित हो रही है। पिंड के भीतर भी वही चैतन्य है :—

जैसे कुंभ नीर बिच भरिया,
बाहर भीतर खालिक दरिया।
उठ तरंग तहं मानिक मोती,
कोटिन चंद सूर कै जोती॥[6]

अविनाशी ब्रह्म से उत्पन्न होने वाले नश्वर एवं क्षण भंगुर जीव एवं दोनों की एकता का उल्लेख करते हुए यारी कहते हैं कि जीव, जल की धारा के बीच में उत्पन्न होने वाले बुलबुले के समान है। बुलबुला, क्षण-भंगुर है किन्तु वह जल की निरन्तर प्रवाह-शील धारा से अलग नहीं है —

हम तो एक हुबाब हैं रे,
साकिन बहर के बीच सदा।
दरियाव के बीच दरियाव के मौज है,
बाहर नाही गैर खुदा।
उठने में हुबाब है देखो,
मिटने में मुतलक़ सौदा।
हुबाब तो ऐन दरियाव यारी,
वोहि नाम धरौ है बुदबुदा॥

ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। वह तो हमारे शरीर के भीतर ही है—

आठ पहर निरखत रहौ, सन्मुख सदा हुजूर।
कह यारी घर ही मिलै, काहे जाते दूर॥[7]

यारी साहब "अपने को" अपने भीतर देखने का उपदेश देते हैं और कहते हैं कि जिसने अपने आप को प्राप्त कर लिया है उसे और किसी साधन की आवश्यकता नहीं है—

आप में आप को देखे,
और कहूं नहिं चित्त जावै।
यारी मुदा हासिल हुआ,
आगे को चलना क्या भावै॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यारी मन को अन्तर्मुखी करके त्रिकुटी में ध्यान लगाने एवं शून्य-गुफा में अनहद नाद सुनने की बात कहते हैं। योग की क्रियाओं के द्वारा वे ऐसी स्थिति में पहुंच जाते हैं, जहां धरती, आकाश, सुरज-चन्द्रमा दोनों मिल जाते हैं, जहाँ चन्द्रमा के बिना चाँदनी, दीपक के बिना प्रकाश, आकाश के बिना दामिनी और समुद्र के बिना मोती प्राप्त होते हैं—

चांद बिना जहं चांदनी रे
दीपक बिना जगमग जोती।
गगन बिना दामिनी देखो,
सीप बिना सागर मोती ।।[8]

यारी साहब ने योग-क्रियाओं का वर्णन अधिक नहीं किया है किन्तु योग-परक जो पद उपलब्ध हैं उनमें पर्याप्त सरसता है। अतिशयोक्ति, विरोधाभास आदि अलंकारों के सहारे उन्होंने वर्ण्य-विषय को अत्यन्त आकर्षक बना दिया है। निम्न पद में सहस्र-दल चक्र एवं वहाँ पहुंचे आत्मा का भावात्मक वर्णन देखिए—

जहं मूल न डारिन पात है रे,
बिन सींचे बाग सहज फूला।
बिन डांडी का फूल है रे,
निर्बास के बास भंवर भूला ।।
दरियाव के पार हिंडालना रे,
कोउ विरही बिरला जा झूला।
यारी कहै इस झूलने में,
झूले कोऊ आसिक दोला ।।[9]

आत्मा को पनिहारिन का रूपक देते हुए यारी कहते हैं कि "चन्द्रमा" का तिलक और "शब्द" का सिन्दूर लगा कर अपने सिर पर कंचन का कलश रखे हुए जब वह अपने को देखती है तो उसे अपने ही रूप में ज्योति-पुंज की दीप्ति दिखलाई पड़ती है—

चंद तिलक किए सुन्दरि नारी।
सोहू पतिबरता पियहिं पियारी।
कंचन कलस धरे पनिहारी।
सीस सुहाग भाग उजियारी।
सब्द सेंदुर कै मांग संवारी।
बेंदी अवल टरत नहिं टारी ।।
अपुन रूप जब आप निहारी।
यारी तेज पुंज उजियारी ।।[10]

यारी ने अपने कुछ पदों में भक्ति के साधन एवं स्वरूप आदि पर विचार किया है। भक्ति के साधनों के रूप में उन्होंने योग-मार्ग के अतिरिक्त गुरु, सत्संग, वैराग्य, नाम-स्मरण आदि का वर्णन किया है, गुरु को उन्होंने भवसागर को पार कराने वाला सर्व-समर्थ कहा है। उनका कहना है कि गुरु की चरण-धूलि का अंजन जब मैंने अपनी आँखों में लगाया, सारा अंधकार मिट गया, प्रिय दिखलाई पड़ने लगा—

गुरु के चरन की रज लै के,
दोउ नैनन के बीच अंजन दीया।
तिमिर मेटि उजियार हुआ,
निरंकार पिया को देखि लिया ।।[11]

उनकी सम्मति में गुरु और साधु की संगति से ही जीव आवागमन के बन्धन से मुक्त हो सकता है।[12] अपने कुछ पदों में उन्होंने घट-घट में व्याप्त "सत्तपुरुष" को ही सतगुरु कहा है—

सतगुरु है सत पुरुष अकेला,
पिंड ब्रह्मांड के बाहर मेला।

भक्त के लिए यारी, वैराग्य को आवश्यक समझते हैं। उनका कहना है कि चाहे कोई कितना ही वेद-शास्त्रों का अध्ययन करे जब तक उसमें वैराग्य नहीं है तब तक वह ब्रह्म के "भेद" को नहीं समझ सकता।[13] वे अहंभाव का परित्याग कर "सत्त पुरुष" के चरणों में चित्त लगाने एवं "उनमनि रहनि" का उपदेश देते हैं।[14] वह संत के लिए जीवन-मृत दशा का आदर्श प्रस्तुत करते हैं जिसमें मन पाँच महाभूतों, तीन गुणों तथा पचीस तत्वों से ऊपर उठ जाता है।[15] यारी का कहना है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि आंखों से हम जो कुछ देखते हैं, वह नश्वर है किन्तु इसके कण-कण में अनश्वर ब्रह्म व्याप्त है। संसार की नश्वरता में अनश्वर ब्रह्म की अनुभूति ही सच्चा ज्ञान है—

आँखी सेंती जो देखिये,
सोतो आलम फानी है।
कानों सेती जो सुनिये रे,
सो तो जैसे कहानी है ।।
इस बोलते को उलटि देखे,
सोइ आरिफ ज्ञानी है।
यारी कहै, यह बूझि देखा,
और सबै नादानी है।

"रामहिं सुमिरौ तजो विकारा" कह कर यारी नाम-स्मरण के सभी विकारों को दूर करने वाला कहते है और भक्ति के प्रमुख साधन के रूप में स्वीकार करते हैं। "अजपा जाप" के महत्व का प्रतिपादन करते हुए यारी कहते हैं कि जो बिना जिह्वा की सहायता के जप करते हैं और मन को अन्तर्मुखी करके अनहद-नाद सुनते हैं उन्हें पूर्ण ब्रह्म का दर्शन होता है—

बे-बिन जिहवा सुमरिन करे,
उनमनि सौं मन की धुनि धरे।
पूरन ब्रह्म जहां तहं आप,
ताहि आप को कीजै जाप ।।[16]

संत-साहित्य में जप के तीन प्रकारों का उल्लेख मिलता है, जिन्हें पिपीलिका, मीन एवं विहंगम मार्ग कहा गया है। निम्न दोहे में इन तीनों प्रकार के जपों के स्वरूप का संकेत मिलता है—

कंठ की जाप पिपीलिका, स्वांसा की है मीन।
सूरत जाप विहंग है, जानत परम प्रबीन ।।

अर्थात् कंठ द्वारा जप की विधि पिपीलिका मार्ग के अन्तर्गत, श्वास-प्रश्वास द्वारा जप की विधि मीन मार्ग के अन्तर्गत और सुरति-जाप विहंगम मार्ग के अन्तर्गत है। जप का तीसरा प्रकार सर्वश्रेष्ठ प्रकार है। पिपीलिका जप का सम्बन्ध साधना की सविकल्प या सकाम स्थिति से है, जिसमें साधक का मन सांसारिक आसक्तियों के प्रति वैसे ही आकृष्ट होता है, जैसे पिपीलिका मिठास के प्रति। स्वभावतः ऐसी स्थिति में साधना अन्तर्मुखी नहीं होती और जप भी कंठ तक ही सीमित रहता है। मीन मार्ग में जप का स्वरूप प्रथम मार्ग की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म हो जाता है। इस मार्ग का सम्बन्ध साधना की उस स्थिति से है जिसमें साधक में अपने उपास्य के प्रति वैसे ही एकनिष्ठता आ जाती है जैसे मीन में जल के प्रति। इस स्थिति में साधना प्रथम मार्ग की तुलना में अधिक अन्तर्मुखी हो जाती है। साधक को कंठ से जप की आवश्यकता नहीं रहती। उसके श्वास-प्रश्वास के साथ सोऽहम्, ओम् अथवा राम का जप होता है। "ध्यान बिन्दु उपनिषद्" में जप के इसी रूप का वर्णन निम्न प्रकार किया गया है—

हकारेण बहिर्जाति, सकारेण विशेत् पुनः।
हंस हंसेत्यमुं मंत्रं, जीवो जपति सर्वदा ।।

विहंगम जप का सम्बन्ध सहज समाधि से है। इसे निर्विकल्प समाधि के नाम से भी अभिहित किया जाता है। यही संतों का चरम लक्ष्य है। जिस प्रकार पक्षी आकाश में निराधार उड़ता है वैसे ही जब जप के लिए किसी आधार की आवश्यकता नहीं रह जाती, जब जप पूर्णतः अन्तर्मुखी और आधार-हीन हो जाता है तब उसे विहंगम जप कहा जाता है।

यारी की रचनाओं में इन तीनों प्रकार के जपों एवं साधना-स्थितियों का संकेत मिलता है। किन्तु उन्होंने प्रथम प्रकार के जप को निस्सार बतलाया है और बाद के दो प्रकार के जपों पर जोर दिया है "शोर का नाहीं काम इंगल पिंगल बोलहिं राम" कह कर उन्होंने ऊंचे साधक के लिए पिपीलिका जप या कण्ठ जप की आवश्यकता बतलाई है। मीन-जप को उन्होंने कर्म के बंधनों को काटने वाला बतलाया है —

बे-खाविन्द कौं जो कोई ध्यावै,
अरध उरध बीच तारी लावै।
सांस उसांस से सुमिरन मंडे,
करमं कटै चौरासी खंडे ।।[17]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यारी ने विहंगम साधना का उल्लेख दो पदों में किया है, निम्न पद में साधना की इस चरम स्थिति के वर्णन के साथ इस स्थिति के जप के स्वरूप का भी संकेत किया गया है—

जोगी जुगुति जोग कमाव।
सुखमना पर बैठि आसन, सहज ध्यान लगाव।
दृष्टि सम-करि सुन्न सोवो, आपा मेटि उड़ाव।
प्रगट जोति अकार अनुभव, सब्द सोहं गाव।।
छोडि मठ को चलहु जोगी, बिना पर उड़ि जाव।
यारी कहै यह मत विहंगम, अगम चढ़ि फल खाव।।

यारी ने "उनमनि रहनि सकल को त्यागीं, नवधा प्रीति विरह वैरागीं" कह कर परंपरागत भक्ति के नौ प्रकारों का संकेत किया है किन्तु उनके अधिकांश पदों में दांपत्य भावना की अभिव्यक्ति हुई है। वे निर्गुन की चूनरी पहन कर; शब्द के सिन्दूर से मांग संवार कर, ध्यान की बिन्दी लगाकर "यार" से मिलने के लिए अपने को सुसज्जित करते हैं। वे ज्ञान का दीपक जला कर रंगमहल को प्रकाशित करते हैं और सुखमन की शय्या पर अपने निर्गुण प्रिय का दर्शन करते हैं।[18] वे कभी अपने प्रिय की आरती करते हैं कभी उसके साथ मिल कर झूला झूलते हैं और कभी होली खेलते हैं। वे प्रिय के रूप को देखकर पागल हो उठते है। जब से प्रिय के ऊपर उनकी दृष्टि पड़ी है तब से उनकी आँखों में जैसे ठगोरी पड़ गई हैं—

हौं तो खेली पिया संग होरी।
दरस परस पतिबरता पियकी,
छवि निरखत भइ बौरी।
सोरह कला संपूरन देखौं,
रवि ससि भे इक ठौरी।
जबतें दृष्टि परो अविनासी,
लागी रूप ठगोरी।।[19]

काव्य-दृष्टि—यारी की भाषा ब्रजभाषा है। भाषा में अवधी, खड़ी बोली के प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिले हुए हैं। इन्होंने अपनी भाषा में क़नाअत, मुर्शिद, जुहद, हलीम, ज़ौक, जिक्र, ग़ैब आदि अरबी, फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया है। इनकी रचनाओं में संत साहित्य में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों के साथ मलकूत, जबरूत, लाहूत, हाहूत आदि सूफियों द्वारा प्रयुक्त शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।

यारी की रचनाओं में पर्याप्त काव्यात्मकता है। अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकारों उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, विषम, विरोधाभास आदि अर्थालंकारों का स्वाभाविक प्रयोग यारी साहब की रचनाओं में दिखलाई पड़ता है।

---

1. उत्तरी भारत की संत परम्परा पृ. 478
2. संत महात्माओं का जीवन चरित्र संग्रह-पृ. 65
3. बावरी रावरी का कहिये,
   मन ह्वै कै पतंग भरै नित भांवरी।
   भांवरी जानहिं संत सुजान,
   जिन्हें हरि रूप हियै दरसावरी।
   सांवरी सूरत मोहनी मूरत,
   दै करि ज्ञान अनन्त लखावरी।
   खांवरी सौंह तिहारी प्रभू,
   गति रावरी देखि भई मति बावरी।
   —उत्तरी भारत की संत परंपरा-पृ. 433
4. रत्नावली—पृ. 12, कवित्त-3
5. वही—पृ. 13 कवित्त-9
6. वही—पृ. 6, शब्द सं. 18
7. वही—पृ. 13; साखी सं. 7
8. वही—पृ. 16, झूलना सं. 13
9. वही—पृ. 15, पद सं. 9
10. वही—पृ. 4, शब्द सं. 14
11. वही—पृ. 17, साखी सं. 10
12. वही—पृ. 3, शब्द संख्या 9
13. बिनु बैराग भेद नहिं पावै, केतो पढ़ि पढ़ि रचि रचि गावै; वही—पृ. 6
14. उनमनि रहनि सकल को त्यागी, नवधा प्रीति विरह वैरागी। वही—पृ. 6
15. हरि जन जीवता नहिं मुआ।
    पांच तीन पचीस पायक, बाँधि डारु कुंवा।
    वही—पृ. 2
16. वही—पृ. 7
17. वही—पृ. 7
18. वही—शब्द सं. 1, 6, 14
19. वही—शब्द सं. 2

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० विश्वनाथ अय्यर
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
कोचिन विश्वविद्यालय,
कोचिन-22

साठोत्तरी निषेधात्मक कविता का सांस्कृतिक और सामाजिक पक्ष—एक झलक

अपने सीमित अध्ययन के बल पर हिन्दी के विकास की सीमा-रेखाएं मन ही मन बाँधे हुए मुझे प्रारम्भ में साठोत्तरी कविता जैसी निरर्थक चीज़ पर विचार विनिमय बेकार ही लगा। निराला, प्रसाद, पंत, महादेवी और बहुत हुआ तो अज्ञेय के बाद के खद्योतसम कवियों का इत-उत प्रकाश देखने की दुश्चेष्टा हास्यजनक लगी। मगर जब मैंने इसी बहाने कुछ-कुछ पढ़ना शुरू किया तब सचमुच हंसी आई। अब की बार हंसी का लक्ष्य मेरा "अहम्" था जो कुएं के मेंढक की तरह प्रतिगामी रहा। ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, सोचता गया, त्यों-त्यों विषय की गंभीरता बढ़ती सी लगी। वस्तुत: यह शीर्षक गहरा अध्ययन और लम्बा प्रबन्ध माँगता है। इस विषय के अनेक काव्य संकलन हैं। मैं तो यहां सिर्फ एक पहलू पर विचार केंद्रित करना चाहता हूं। इसके लिए मेरे लिए आधारभूत काव्य-सामग्री "निषेध" नामक कविता संकलन है। इसके संपादक हैं श्री जगदीश चतुर्वेदी। "निषेध" की अंतरंग चर्चा के पहले विषय की बहिरंग भूमि पर ज़रा सा विचार करें।

"साठोत्तर" कविता शब्द का मानी है, उन्नीस सौ साठ के बाद की लगभग सत्रह वर्ष की कविता। इस युग के समाज एवं संस्कृति की परीक्षा के बाद ही कविता से उसके सम्बन्ध पर विचार हो सकता है। सर्वविदित बात है कि गरीब भारत आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा था ही, राजनीतिक दृष्टि से गुलाम भी रहा। उस दासता की समाप्ति स्वाधीनता-लाभ के साथ हो गई। बापू के रचनात्मक कार्यक्रमों की पुकार, देश-प्रेमियों का बलिदान, आदर्शवादिता, साहस आदि के कारण लोग यही आशा बाँधे हुए थे कि आज़ाद हिन्दुस्तान कहीं बेहतर होकर ही रहेगा। सभी देश-प्रेमी लोगों का ध्यान विदेशी शासन समाप्त करने पर केन्द्रित था। मगर उस समय भी थोड़े से आदर्शवादी देश प्रेमियों को छोड़ कर अस्सी प्रतिशत लोग पुरानी सामन्तवादी नीति पर ही चलते थे, आराम से रहते थे। जैसे, जहां काशी विद्यापीठ में कुछ आचार्य और थोड़े शिष्यगण स्वाधीनता संग्राम के लिए स्वार्थ त्याग कर एकत्र हो नए कार्यक्रमों की तैयारी में लगे थे वहां उसी वक्त काशी नगरी की गंगा की घाटों पर वही पुराना रूढ़िवादी समाज था, आचार-विचार की परंपरा थी, चौक पर व्यापारी शोषण था, दाल मंडी पर रूप की बिक्री थी—सब चलते रहे।

आजादी के लिए वर्षों तक साधना चली। फलस्वरूप विदेशी शासक बोरी-बिस्तर बांधकर जहाज़ों पर रवाना हो गए। हमारी कल्पना थी कि सब कुछ का कायाकल्प होगा। परन्तु हमारे देश की केन्द्रीय एवं प्रान्तीय शासन-व्यवस्था की गठन ऐसी रही कि उसमें कोई क्रान्ति अचानक नहीं हो सकती थी। यहां समाज का संचालन करने वाली "विधि" और "नीति" की व्यवस्था एकाएक तो क्या धीरे-धीरे भी बदल नहीं सकती थी। देश स्वतन्त्र हुआ; देश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में भाषावार प्रान्त विभाजित किये गये; प्रजातन्त्र-वादी ढंग से चुनाव हुए; कई समाजोद्धारक विधेयक पारित हुए और गरीबों और दलितों का उद्धार करने वाले कानून भी पास हुए।

देश के सजग सेवकों को पहले ब्रिटिश सत्ता से लोहा लेना पड़ा था। बाद में पाकिस्तान और चीन से हमारा संघर्ष हुआ। इन दोनों से हम बुरी तरह प्रभावित हुए। हमारे देश की आर्थिक शक्ति बहुत गिर गई और चीज़ों का दाम बढ़ता ही गया। देश के भीतर एक ओर राष्ट्रीयकरण के ज़रिए समाजवाद लाने का प्रयास जोरों पर है। पिछड़ी जाति के लोगों को हर तरह की रियायत व प्रेरणा देकर आगे बढ़ाने की सरकारी व्यवस्था है। स्त्रियों और बच्चों के प्रति, लंगड़ों-लूलों के प्रति, जो अन्याय होता था उसको समाप्त करने शैक्षणिक प्रयास और विधेयक रचना-दोनों चालू हैं। हम समाज-कल्याण के क्षेत्र में अभी तक सम्पन्न नए कानूनों और विधेयकों का अध्ययन करें तो स्पष्ट होगा कि थोड़ा-बहुत परिवर्तन जरूर लाया जा रहा है। मगर मूल बात में—अर्थात सामाजिक जीवन के मूल्यों में—उसकी नैतिक कसौटी में कोई खास फर्क नहीं आया है। मुझे 'गोदान' का गोबर याद आ रहा है। समीक्षक प्रेमचन्द जी के गोदान को प्रगतिवाद में समाप्त होते देखना चाहते थे। उन्हें गोबर की समाप्ति निराश बना देती है। किन्तु लाचारी है। भारत में सर्वत्र वही स्थिति रही है। व्यक्तिवादी एवं धनपूजक सभ्यता के कारण गोबर भी रुपया सूद पर उधार देने वाला छोटा साहूकार बनता गया—उसकी क्रान्ति सिर्फ ढकोसला लगी। वही स्थिति अब भी बनी रहती है। जीवन में वर्षों तक क्रान्ति-कभी खूनी क्रान्ति में लगे लोग भी बाद में आराम के लिए धन जुटाकर पूंजीवादी स्टॉक पर ही जीने के लिए विवश होते हैं।

अब विचारणीय है कि कविगणों का इन सब से सम्बन्ध क्या रहा है? आधुनिक हिन्दी काव्य में सामाजिक सजगता का तत्व बढ़ता ही चला गया है। "वह तोड़ती पत्थर", (निराला) और "ताजमहल" (पंत) छायावादी युग में ही दलित के आक्रोश की बोधक रहीं। यह स्वर आगे और भी सबल होता गया। अंचल, शिवमंगलसिंह सुमन, दिनकर आदि भी अपने अपने ढंग से वर्तमान पर असंतोष और क्रान्ति की पुकार सुनाते रहे। यह 'युगे युगे क्रान्ति' समाज की प्रकृति है। इसलिए प्रयोगवाद और नई कविता को पारकर अकविता वाले युग तक यह क्रान्तिभावना बढ़ती ही गई है और कविता में रह-रहकर गूंजती रही है। इस प्रवृत्ति को कोई अप्राकृतिक या नई करामात नहीं कहा जा सकता। असल में प्रत्येक सहृदय कवि के हृदय में वाल्मीकि का तत्व है; उसके देखते-देखते जब कभी कोई क्रौंचवध होता है—याने हृदय को व्यथित या भावा-कुल करने वाली घटना घटती है—तब उसकी वाणी क्रुद्ध हो उठती है—वह शाप तो नहीं दे सकता—न शाप में उसका भरोसा है। मगर वह नई व्यवस्था का आह्वान करता है—अन्याय को फटकारता है। काव्य-रचना की प्रेरणा के इसी सिद्धान्त को साठोत्तरी निषेधात्मक कविता को मूल सिद्धान्त माना जा सकता है। इस व्याख्या से हम साठोत्तरी कवियों को खासकर "निषेध" कवियों को भी अपना योगदान करते पाते है।

व्यावहारिक जीवन से संबन्धित विविध पेशों में विशेषज्ञों और तथाकथित प्रोफेशनलों (व्यावसायिकों) का पल्ला भारी रहा है। जस्टिस वी. आर. कृष्णाय्यर के शब्दों में--हमारे दिनों में जीवन का कोई विभाग ऐसा नहीं जो अतिशय रूप से विशेषज्ञों का या व्यावसायीकृत न हो। चिकित्सा हो या विधि, इंजीनियरी हो या तक्नालॉजी, खेती, शिक्षा और बिज़िनेस-मैनेजमेंट और जन-कल्याण, के हर क्षेत्र में कला का व्यवसायीकरण हुआ है। इसे मैं व्यावसायिक एकप्रभुतावाद (प्रोफेशनल टोटलिटेरिनिज़्म) कहूंगा। इसका मूल व्यापार और आदर्श सिर्फ स्वार्थ पर केन्द्रित है; साधारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रेणी के जनों पर कोई ध्यान नहीं रहता।——यह नया सम्राट-व्यावसायिक विशेषज्ञ हर विकासात्मक प्रक्रिया पर—बालक को संसार में लाने की प्रसूतिका विधि से लेकर मानव की मृत्यु पर अंतिम धार्मिक संस्कार कराने की विधि तक—एकाधिकार रखते हैं। समाज की अपनी प्रासंगिक भूमिका में इनका नंगा और यथार्थ शोषक रंग देखा जा सकता है।

संक्षिप्त समाज-पर्यवेक्षण के बाद अपने विचारणीय ग्रंथ "निषेध" की चर्चा करूं। इस में जगदीश चतुर्वेदी, चन्द्रकान्त देवताले, विनय, सौमित्र मोहन, श्याम परमार, रवीन्द्रनाथ त्यागी, परेश, मुद्राराक्षस, कुमार विकल, रमेश गौड़ और सकलदीप सिंह—ग्यारह कवि निषेध का स्वर सुनाते हैं। यहां ग्यारह निषेधी हैं। मलयालम में 'निषेधी' का अर्थ है—जो बड़ों की आज्ञाएं ठुकराता है,—दुस्साहसी है। इन निषेधियों के जलूस में झंडा लेकर चलने वाले अग्रणी-कविवर जगदीश चतुर्वेदी हैं। भूमिका के मंच पर वे अपने और साथियों के नये दल का घोषणापत्र यों सुनाते हैं।

"एक ओर देश का संकट है, दूसरी ओर राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय घटना-चक्रों के बीच पिसती मानव-नियति है। ऐसे में कवि की सजगता उसे इन घटना-चक्रों से जोड़ती है और एक प्रति-क्रिया जन्य विद्रोह उसकी धमनियों में कौंध उठता है। किन्तु समाज नामक तंत्र में उसकी सत्ता अत्यन्त नगण्य है। अतः वह विद्रोह के लिए प्रतिश्रुत हो उठता है। यह विद्रोह की भूमिका उसकी कृतियों में निषेधात्मक प्रवृत्तियों को रचना-मूल्य के रूप में प्रतिष्ठापित करती है। वह इस नकार को सृजन की अनिवार्यता मानकर अपने लेखन में संलग्न दिखाई देता है और जड़ परंपरा से अनायास ही पृथक् हो जाता है। यह निषेध ही आज के काव्य की आधुनिकता का यथार्थ है। यों भी आधुनिकता का अर्थ मात्र फैशनपरस्ती या वितण्डावाद पैदा करना नहीं, बल्कि निष्पन्न स्थिति और मानव-नियति को एक स्वस्थ तथा समाज-सापेक्ष जीवन की ओर ले जाना है।" अपने काव्य की विषयवस्तु का परिचय देते हुए जगदीश जी कहते हैं—"वस्तुतः आज की कविता ने वर्तमान जीवन की विसंगति को पूरे आवेग के साथ महसूस कर काव्य-सृजन के नए आयाम स्थापित किए हैं, हम दोहरी जिन्दगी को जी रहे हैं यांत्रिक जीवन की ऊब से संत्रस्त हैं, जिस भीड़ के बीच अकेलेपन का एहसास लेकर हम अपने अस्तित्व के लिए संघर्षरत हैं।... ....आज की कविता जीवन के अत्यन्त समीप है। यह उस जीवन के समीप है जिसे हम मात्र फैशन के वशीभूत होकर नहीं, वास्तविक अर्थों में जीते हैं।"

इस वक्तव्य से कुछ बातें जाहिर हैं। भारतीय संस्कृति की जो पुरानी प्रतीकभूत मान्यताएं हैं उन पर इन कवियों की आस्था नहीं है। समाज की पुरानी रूढ़ियों पर-खासकर नैतिक मान्यताओं पर इनकी आस्था नहीं है। जनतंत्र और राजशासन आदि की रूढ़ियों से इनका विश्वास उठ गया है। समाज में ही उनकी आस्था नहीं, भीड़ के बीच अकेलेपन का एहसास इनकी खास मुद्रा है।

यह प्रवृत्ति सिर्फ़ हिन्दी के साठोत्तर कवियों की नहीं हैं। विश्वभर में-खासकर अफ्रीका जैसे शोषित व दलित काले लोगों के देश में वर्णद्वेष की राजनीति पर आक्रोश का स्वर ऊंचा रहा है। समाजवादी कविगण पूंजीवाद की गिरती दीवारों की कहानी सुनाते हैं। उस सभ्यता में धनपूजा के कारण जो दूषित विकृत मान्यताएं हैं उनका पर्दा-फ़ाश करते हैं। चीन, रूस, पूर्व जर्मनी या ऐसे ही देशों में ऐसी रचनाएं विशेषतः लोकप्रिय हैं। पूंजीवादी अमरीका जैसे देशों में भी पुरानी नैतिक मान्यताओं को ललकारने वाली हिप्पी-संस्कृति फैलती जा रही है। वह भारत में भी जड़ें जमाने पर तुली हुई है। नागरिक जीवन की अनेक विडंबनाओं के कारण यूरोप के प्रत्येक बन्दरगाह वाले नगर में, लाइसेंस लिए वेश्यावृत्ति बड़े पैमाने पर चलती है। यह अवैध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप से भारत के नगरों में भी चालू है। भारत में जो नैतिक बन्धन हैं वे दूसरे देशों में नहीं रहे हैं। फिर भी भारत में भी बढ़ती आबादी को रोकने के लिए अब गर्भपात को वैधता दे दी गई है। यही पहले भ्रूणहत्या के अपराध में साल भर के कारावास के दंड का कारण होता था।

समाचार-पत्र, रेडियो, फिल्म, जनसंपर्क आदि के माध्यम से नए युग के कवि उपर्युक्त सारी बातें समझ लेते हैं। वे इन नई बातों को अपनी कलम से प्रस्तुत करते हैं। अपने युग से खीझ, पूर्वजों के प्रति क्रोध सरकारी व्यवस्था के प्रति आक्रोश-आदि कारणों से ये कवि उपर्युक्त नए ढंग के विषयों पर कविता रचते हैं। इन कारणभूत परिस्थितियों को हम नकार नहीं सकते। ये तथ्य हैं। ऐसे कवियों के कुछ उद्धरण दूं—

जगदीश चतुर्वेदी : (गूंगों की बस्ती में)

अब नहीं सहा जाता यह अभिशाप जिसे
सिर पर लादे गुजर गए कई वर्ष

....

कहीं कुछ नहीं होता है
गुजर रही हैं सदियाँ और वैज्ञानिक आविष्कारों के
समाचार मेरी आँखों में एक ऐसा कालनेमि बैठा है
जो प्रत्येक चीज को
देख घृणा से मुंह बिरोता है !

....

एक कानी आंख से चाहता हूं, घूरकर
मिटा दूं
यह अनवरत चलने वाली जिन्दगी, प्रेम की आग
और घृणा का संसार !

चन्द्रकान्त देवताले : (प्रजातन्त्र के बुखार में)

अस्पताल या संसद
नर्स या झण्डा
कुछ नहीं .. कुछ नहीं ..
सिर्फ सैकडों मुख भाषण उगल रहे हैं
घोषणा-पत्र गधे के मुंह में
चबता जा रहा है

सौमित्र मोहन : (कोरे कागज का भटका सन्दर्भ)

जिन्दगी के टूटते-टूटते संबन्धों के पुल पर
मैं पूरी बोरियत के साथ दौड़ रहा हूं
मुझे मत दो किसी भी किश्ती का आश्वासन
मैं मौत की भयद विरक्ति चाहता हूं।

श्याम परमार : (कविता से आगे)

आग, आँच और पहचान की स्थितियों में
मेरी कविता से और चाहते हो मेरे दोस्त
दर्द का जो छींटा अपनी छाती पर अब तक
चमकता रहा
उस से मेरा तिलक करने का इरादा छोड़ दो
तुम्हें पता है मेरी कविता चिल्ला कर नारे लगाने
नहीं जानती

....

सतह पर इतना अधिक आंखों में है कि प्रश्नों के पंजों
ने
निश्चय के कई रास्तों को दबोच रक्खा है

....

कविता के आगे की एक तासीर का मुझे एहसास
होता है :
कविता को कविता से और भी आगे ले आता है
उसका अन्दाज......

परेश : (कविता इसी रास्ते आएगी)

इसी यंत्रणा से और इसी धूप से
वह कविता आएगी

....

हंग्री जनरेशन यानी अगली जनरेशन
हस्तमैथुन से आएगी
लड़कियाँ—मैस्कुलिन लड़कियाँ सीटियाँ बजाएंगीं
और कवियों को जनखा बताएंगी
कविता इसी रास्ते आएगी
भूखी पीढ़ी गमगी जरूर जाएगी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम उसे रोकोगे ?
कविता इसी रास्ते आएगी,

कुमार विकल : (शहर का नाम)
दुनियाँ का सब से सुखी आदमी
सुअर
और दु:खी जानवर
आदमी
प्रार्थना-गृहों में दु:खी जानवर
प्रार्थनाएं करते हैं
सुखी आदमी बनने के लिए
कि शहर का नाम जंगल हो
आदमी के बस मुखौटे हों
सुविधाएं सभी सूअर की हों
जिस से जंगल में खूब मंगल हो।

गोदो की प्रतीक्षा में
गोदो !
तुम कभी नहीं आते।
हम सभी जानते हैं
तुम कभी नहीं आओगे
फिर भी हम सभी तुम्हारी प्रतीक्षा में रहते हैं
सुनते हैं, तुम भेड़ों के मालिक हो,
दूर चरागाहों में रहते हो,
और तुम्हारी श्वेत धवल दाढ़ी बहुत भली लगती है।
तुम जब आओगे—
बेकारों को रोज़गार, भूखों को रोटी
उम्र कैदियों को छुट्टी, बच्चों को चाक्लेट—
औ' कॉफ़ी-हाउस में बैठे लोगों के बिल दे जाओगे।

नई पीढ़ी के इन कवियों की वाणी में कटु-सत्य है। यह वाणी इन कवियों की एक विशेष मनःस्थिति पर प्रकाश डालती है। ऐसी मनःस्थिति प्रत्येक व्यक्ति के मन में हुआ करती है। परन्तु इसी को जीवन का सर्वस्व, जीवन से अभिन्न मान लेना उचित नहीं लगता। आखिर कविता भी अवकाश के क्षणों में मन से निकलती वाणी है जिस में आप अपने मन के भावों विचारों को प्रकट करते हैं।

किसान खेती करते हैं, कारखानों में मशीनें और रासायनिक वस्तुएं बनती हैं, अस्पतालों में दवा करके आदमी स्वस्थ होते हैं। मिलों में कागज़ बनता है जिस पर अकविता की पुस्तकें भी छपती हैं। रेडियो कारखानों में बनते हैं। तभी आकाश-वाणी पर ये अकविताएं भी पढ़ी जाती हैं। जीवन के सकारात्मक पक्ष की ओर स आंख मूंदना ठीक नहीं हैं। सामाजिक विकृतियों को दूर करने के लिए निषेधात्मक कविताएं प्रेरणा दे सकती हैं। मगर इस से अधिक प्रेरणा तो प्रतिबद्ध कविताएं दे सकती हैं। मंच पर लंबे भाषण झाड़ने वाले नेताओं से अधिक सक्रिय कार्य एक विद्रोही करता है—अगर आदमी सचमुच आस्था रखता है, उस पर जान दे सकता है। मतलब यह है कि सामाजिक पक्ष में अकविता वर्तमान विद्रूपता के विषय में हमें सजग अवश्य करती है। पर यही उस कविता का स्थायी मूल्य नहीं हो सकता।

संस्कृति-खासकर नैतिक संस्कृति को ललकारने की स्पष्ट रूप से यौन प्रवृत्तियाँ प्रस्तुत करने की—ईमानदारी निषेधात्मक कविता में है। शायद ये कवि जानते हैं कि हमारी रचना कोर्स में रखी नहीं जाएगी। यहां हम पाठक क्या कहें ? प्रजातन्त्र में मौलिक अधिकार हैं। मैं गाय का दूध पीऊंगा कैंटीन में—आप मुझे रोक नहीं सकते। आप जिन या विस्की पीना चाहें तो मेरा क्या अधिकार है, आप को रोकने का ? विदेशी मंचों पर होने वाले—नग्न अभिनय की खबरें पढ़ते हैं। कहते हैं, स्वीडन आदि देशों में यौन स्वतन्त्रता है। वहाँ टिकट खरीद कर आदर्श रतिलीलाएं देखने की सुविधा है। ऐसी बातों को निषेधात्मक कवि अपनी कविता में प्रस्तुत करते हैं तो हमें चौंकने की ज़रूरत नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथापि ऐसी प्रवृत्तियाँ देश को सच्ची प्रगति पर नहीं ले जा सकती। उन्हें रोकने के लिए ठोस कदम उठाने पड़ते हैं। बढ़ती धनपूजा, विदेशी सभ्यता की नकल आदि को रोकना है तो उसका संदेश, प्रचार सकारात्मक रूप से करना ही अधिक श्रेयस्कर होगा। भारत की भारतीयता में - हमारे गाँवों की सरलता में मानवता की प्रगति देखने का भी प्रयत्न जरूरी है। यह स्वस्थ संदेश ऐसे सशकत कवि दे सकें तो वह अच्छा सामाजिक और सांस्कृतिक प्रदेय रहेगा।

अकविता में जवानी का जोश बोलता है, वही जवानी जब कुछ वर्ष के अनुभव से विवेक पाएगी तब ठोस बात बताएगी। पर जवानी का जोश सड़ी गली को दूर कर जरूर देगा। वह जोश भी आवश्यक है।

---

1. उस्मानिया विश्वविद्यालय की साठोत्तरी कविता पर संगोष्ठी में प्रस्तुत लघु-निबन्ध।
2. पब्लिक लैक्चर्स—डेवैलपमेंट एंड लॉ—कोचिन विश्वविद्यालय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा
रीडर, हिन्दी विभाग,
रोहतक विश्वविद्यालय,
रोहतक

अर्थ-बोध और भाषा

भाषा मनुष्य की सबसे रहस्यपूर्ण उपलब्धि है। भाषा के विकास का इतिहास मानव-संस्कृति के विकास-क्रम से पृथक् नहीं है। मानव-संस्कृति के मूल में हमेशा बाह्य जगत् (परिवेश) और अन्तर्जगत् (मानव-मन) का संघर्ष क्रियाशील रहा है। इसलिए मनुष्य को अपने परिवेश को तथा स्वयं को समझने के लिए सदैव ऐसे माध्यम की आवश्यकता रहती है, जो विविध रूपात्मक बाह्य परिवेश को तथा उसके प्रति उसके मन की प्रतिक्रियाओं को व्यक्त कर सके। भाषा ही वह समर्थ माध्यम है, जिसका सम्बन्ध एक ओर मानव-मन (मनोविज्ञान) से है और दूसरी ओर जगत् की वास्तविकता से है। भाषा की सार्थक ध्वनियों और उनकी वाक्य-रचना सम्बन्धी व्यवस्था के द्वारा ही यथार्थ के विविध रूपों के प्रति व्यक्ति की विभिन्न मनोदशाओं को व्यक्त किया जा सकता है। भाषा के द्वारा जगत् की वस्तु-सत्ता और मनुष्य की बोध-सत्ता शब्द-संकेतों में संग्रथित हो जाती है। भाषा के बोल-चाल के रूप की ही प्रधानता होने के कारण प्राचीन ग्रंथों में उसे वाक् या वाणी नाम से अभिहित किया गया है। विश्व की वास्तविकता को ग्रहण करने के कारण वाणी को 'विश्व' कहा गया है।[1] और विश्व ब्रह्म का ही व्यक्त रूप होने के कारण वाणी को 'ब्रह्म' कहा गया है।[2] ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर सर्वव्यापी वाक् की स्तुति की गई है।[3] भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के प्रारम्भ में ही शब्द-तत्त्व को अनादि, अनन्त, अक्षर, ब्रह्म कहा है, जिसकी अर्थ-भावना से जगत् की व्यवहार-क्रिया चलती रहती है।[4]

संसार नाम-रूपात्मक है। नाम शब्द है और रूप अर्थ है। संसार में जो कुछ दिखाई दे रहा है, वह पदार्थ है अर्थात् पदों (नामों या शब्दों) का अर्थ। जाति, गुण द्रव्य और क्रिया आदि के विषय में हमारा सारा अनुभव नामों अर्थात् शब्दों के रूप में ही संचित रहता है। प्रत्येक अमूर्त शब्द का जन्म मूलतः मूर्त अर्थ से हुआ है। भर्तृहरि ने शब्द में ध्वनि और अर्थ का संयोग माना है। उसके अनुसार शब्द के दो रूप हैं—प्राण-अधिष्ठित (ध्वनि) और बुद्धि-अधिष्ठित (अर्थ)।[5] बाह्य जगत् के पदार्थ अपना इन्द्रिय-गम्य वस्तुगत अर्थ तो देते ही हैं, साथ ही वे मानव-सापेक्ष अनुभव-गम्य सूक्ष्म भावात्मक अर्थ भी देते हैं। "हमारे प्रेम, भय, आश्चर्य, क्रोध, करुणा इत्यादि भावों की प्रतिष्ठा करने वाले मूल आलम्बन बाहर ही के हैं—इसी चारों ओर फैले रूपात्मक जगत् के ही हैं। जब हमारी आंखें देखने में प्रवृत्त होती है, तब रूप हमारे बाहर प्रतीत होते हैं, जब हमारी वृत्ति अन्तर्मुख होती है तब रूप हमारे भीतर दिखाई पड़ते हैं। बाहर भीतर दोनों ओर रहते हैं रूप ही। सुन्दर, मधुर, भीषण या क्रूर लगने वाले रूपों या व्यापारों से भिन्न सौन्दर्य, माधुर्य, भीषणता या क्रूरता कोई पदार्थ नहीं है।"[6] इस प्रकार वस्तुओं से पृथक् भावों की परिकल्पना नहीं की जा सकती। "भाव सूक्ष्म अर्थ ही है।"[7]

विश्व की वास्तविकता और उससे प्राप्त बोध अथवा अनुभव को व्यक्त करने के लिए ही समस्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कलाओं, दर्शनों, विज्ञानों और भाषाओं का उदय हुआ है। विश्व की विविधता और उसके प्रति उदित मानसिक प्रतिक्रियाओं का कोई अन्त नहीं है, इस लिए अभिव्यक्ति के उक्त सभी साधनों द्वारा विश्व की वास्तविकता के विषय में जो कुछ व्यक्त हुआ है, वह आंशिक ही है। देश और काल के सन्दर्भ में निरन्तर व्यक्त होने के लिए कुछ-न-कुछ अवश्य शेष रहेगा। विश्व-बोध की नित्य नवीनता और अनन्तता अभिव्यक्ति की नवीनता और अनन्तता का आधार है। अभिव्यक्ति के उपर्युक्त माध्यमों में भाषा का माध्यम ही सबसे अधिक समर्थ और अन्तिम है। चित्रकला, मूर्ति-कला आदि कलाओं के (जिनमें अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा नहीं है) अभिप्रेत अर्थ को समझने और समझाने के लिए भी अन्ततः भाषा की ही आवश्यकता पड़ती है। विज्ञान और दर्शन का माध्यम तो भाषा ही है, भले ही वह विशेष प्रकार की तकनीकी और पारिभाषिक भाषा क्यों न हो। इस प्रकार अभिव्यक्ति का अन्तिम माध्यम भाषा है। प्रत्येक भाषा शब्द-संकेतों से विश्व की समूची वास्तविकता को ग्रहण करते चलने की चेष्टा करती है, इसलिए उसके शब्द-कोश में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। "हमारा शब्दकोश इस तथ्य को प्रतिबिम्बित करता है कि स्वयं वास्तविकता भी, जिस रूप में वह भाषा में समाहित रहती है, आपस में गुंथे हुए आकारों का ही एक व्यापक क्रम है।"[8] केवल जैविक धरातल पर मनुष्य का जीवन निरर्थक है, उस स्थिति की परिकल्पना तो की जा सकती है, जिसमें हम जीवन का प्रत्यक्ष-बोध या अन्तर्ज्ञान प्राप्त कर लें, किन्तु जीवन का अर्थ किसी न किसी प्रकार की भाषा के बिना न तो समझा जा सकता है और न व्यक्त किया जा सकता है। इस प्रकार अभिव्यक्ति अथवा सम्प्रेषणीयता स्वयं जीवन-प्रक्रिया का ही अंग है।[9]

भाषा अपने आठ अवयवों (पार्ट्स ऑफ स्पीच) के द्वारा सारी वास्तविकता को पकड़ पाने की चेष्टा करती है। संज्ञा-शब्द (व्यक्तिवाचक, जातिवाचक और भाववाचक) विभिन्न वस्तुओं, व्यक्तियों, परिस्थितियों और उनके समूहों तथा भावों के सूचक होते हैं। सर्वनाम उन्हीं को सामान्य रूप से सूचित करते हैं, विशेषण उनके गुण-धर्म आदि को प्रकट करते हैं, क्रियाएं कार्यों और घटनाओं को सूचित करती हैं, क्रिया-विशेषण इन्हीं की विशेषताओं से अवगत कराते हैं, सम्बन्ध-बोधक शब्द देश-काल-सम्बन्ध की सूचना देते हैं, संयोजक शब्द दो प्रसंगों को संयुक्त करते हैं तथा विस्मयादि बोधक शब्द तीव्र भावात्मक प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करते हैं। क्योंकि संसार केवल रूपात्मक ही नहीं भावात्मक भी है, इसलिए भावात्मक संज्ञाओं द्वारा भावों के नामकरण की भी चेष्टा की जाती है। ये भाववाचक संज्ञाएं, व्यक्तिवाचक और जातिवाचक संज्ञाओं, सर्वनामों, विशेषणों और क्रियाओं से बनती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वस्तु के रूप-तत्त्व के सभी गोचर पक्षों का भावात्मक रूप भी सम्भव है अर्थात् वस्तु का आकार-प्रकार (रूप), रंग, रस, गंध, ध्वनि, क्रिया आदि सभी द्रष्टा के मन में भाव जागरित कर सकते हैं। भाववाचक संज्ञाओं में वे शब्द भी अन्तर्भुक्त हैं, जो बाह्य वस्तुओं के प्रति व्यक्ति की बौद्धिक प्रतिक्रियाओं को व्यक्त करते हैं। जब व्यक्ति वस्तु-जगत् की रूपात्मक सत्ता का अतिक्रमण करके उनके पीछे निहित किसी बौद्धिक सामान्य सत्य की खोज करने लगता लगता है तो वैचारिक अर्थों (कन्सेप्चुअल मीनिंग्स) की प्राप्ति होती है। क्षणभंगुरता, विकास, परिवर्तन, जीवन, मृत्यु, सत्य, धर्म, सृष्टि, ह्रास, विकास आदि ऐसे ही वैचारिक अर्थों के सूचक शब्द हैं।

मन से प्रेरित होकर ही वाणी व्यक्त होती है, इसलिए वक्ता द्वारा व्यक्त शब्दों के सही अर्थों को समझने के लिए वक्ता की मनःस्थिति को समझना आवश्यक है। वक्ता के बुद्धिस्थ अर्थ से शब्द का उदय होता है। वाणी के अर्थ की पूर्णता तभी होती है, जब जिस बुद्धिस्थ अर्थ को लेकर उसका प्रयोग किया गया है, उसी अर्थ की अभिव्यक्ति में वह समर्थ हो जाय। शब्द-व्यापार या सम्भाषण दो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनों के मध्य आदान-प्रदान की प्रक्रिया है। इसलिए वक्ता और श्रोता के मन का सहयोग अर्थ की पूर्णता के लिए आवश्यक है।[10] भर्तृहरि ने वाग्-व्यापार की पूर्णता के लिए वक्ता, श्रोता, अभिधेय (बुद्धि) और शब्द (भाषा) के रूप में चार आधारों को अनिवार्य माना है।[11]

जब व्यक्ति रागात्मक दृष्टि से बाह्य वस्तुओं को देखता है, तो उसका हृदय उन वस्तुओं की सुरूपता अथवा कुरूपता के अनुरूप आकर्षण अथवा विकर्षण से भर जाता है, ऐसी स्थिति में भावात्मक अर्थ की प्रमुखता रहती है। जब वह तटस्थ रूप में बाह्य वस्तुओं के भौतिक रूप के पर्यालोचन तक ही अपनी दृष्टि केन्द्रित रखता है, तो सूचनात्मक अर्थों की प्रतीति होती है, किन्तु यदि वह अपनी बुद्धि को भौतिक वस्तुओं के निरीक्षण-परीक्षण में नियोजित करके किन्हीं भौतिक तथ्यों या नियमों की खोज में उस पर्यालोचन को आगे बढ़ाये तो वह सूचना के स्तर से आगे बढ़कर वैज्ञानिक स्तर तक पहुंच जाता है और उस समय वैचारिक अर्थों की उपलब्धि होती है। यदि वह व्यक्ति अपने लम्बे अनुभव-ज्ञान और अध्ययन के आधार पर प्राप्त किसी विशिष्ट दृष्टिकोण से बाह्य वास्तविकता की बौद्धिक व्याख्या करके जीवन और जगत् के विषय में सामान्य-सत्यों की खोज करने लगे तो दार्शनिक अथवा वैचारिक अर्थों की प्राप्ति होती है। वास्तव में, विश्व की रूपात्मक विविधता और उसके प्रति व्यक्तियों के दृष्टिकोणों की अनेकता के कारण अर्थों के रूपों की भी कोई निश्चित संख्या नहीं है फिर भी प्रायः सभी अर्थ उपर्युक्त अर्थ-वर्गों—भावात्मक, वैज्ञानिक और वैचारिक अर्थ...के अथवा इनके विविध सम्मिश्रणों के अन्तर्गत आ जाते हैं।

विश्व की वास्तविकता (गोचर और अगोचर) ज्ञेय है, व्यक्ति-मन ज्ञाता है और भाषा ज्ञान का माध्यम है। इन तीनों का सम्पर्क ही सम्पूर्ण ज्ञान का आधार है। वास्तव में ये तीनों अपने स्वरूप में एक दूसरे पर निर्भर भी हैं और साथ ही इनमें परस्पर स्वरूपगत साम्य भी है, जिस प्रकार विश्व गोचर और सूक्ष्म अर्थों का आधार है, उसी प्रकार मन में रूपात्मक अर्थों के अतिरिक्त भावात्मक और वैचारिक अर्थों के ग्रहण की क्षमता होती है, और इसी प्रकार भाषा में स्थूल अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए वाचक शब्दों और सूक्ष्म अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए लाक्षणिक और प्रतीकात्मक शब्दों की व्यवस्था रहती है। भाषा के स्थूल ध्वनि-तत्त्व (Phonetics) नहीं है, उसमें मानसिक अर्थ-तत्त्व (Semantics) और अर्थ-तत्त्व के सन्दर्भों या परिवेश (Phenomenology) का भी योग रहता है।

यहाँ यह विशेष उल्लेखनीय है कि मनुष्य अपने सहज रूप से रागात्मक प्राणी ही है, उसकी बौद्धिकता सूचनात्मक स्तर से आगे विशेष शिक्षा और अभ्यास के आधार पर ही बढ़ती है और वह भी सभी व्यक्तियों की नहीं, क्योंकि सभी व्यक्ति कुछ असामान्य अपवादों को छोड़कर रागात्मक तो हो सकते हैं, किन्तु बौद्धिक नहीं। वैज्ञानिक या दार्शनिक के स्तर तक पहुंचने वाली बुद्धि विरल ही होती है। शिशु अपने मूल रूप में राग-प्रधान ही होता है, शिक्षा और अभ्यास से उसकी बौद्धिकता उभरती और निखरती है। वैज्ञानिक या दार्शनिक बनने के लिए तो और भी विशिष्ट प्रकार के शिक्षण और प्रशिक्षण की आवश्यकता है। निष्कर्ष यह है कि मानव-मन में सामान्य बौद्धिकता के तन्तु विद्यमान होने पर भी उसका किसी विशिष्ट दिशा में असाधारण-विकास मनुष्य की प्रयत्न-साध्य उपलब्धि है, जबकि राग-तत्त्व उसे जन्म-जात रूप में सुलभ है। इसलिए रागात्मक अर्थ ही अर्थों के आदिम रूप हैं और इसी कारण प्राचीन भाषा अर्थों के अनुरूप प्रधानतः भावात्मक भाषा है। मनुष्य के मन के भाव मुख्यतः क्रिया-पदों द्वारा व्यक्त होते हैं। निरुक्त में क्रिया-पदों की भाव-प्रधानता पर प्रकाश डाला गया है।[12] शौनक ने भी अपने ग्रंथ में इसी तथ्य की पुष्टि की है।[13] प्राचीन भाषाओं में संज्ञा, विशेषण, क्रिया-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषण और सर्वनाम आदि की अपेक्षा क्रिया-पदों की प्रधानता होती थी। डॉ० ए० एस० डायमण्ड ने भाषा के विकास का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट किया है कि भाषा का विकास क्रियाओं से हुआ है। प्रत्येक भाषा की शब्दावली के मूल में निहित धातुएं वास्तव में क्रियाएं ही हैं। उन्होंने अंग्रेजी भाषा का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए बताया है कि अधिकतर संज्ञाएं क्रियाओं से, विशेषण प्रायः संज्ञाओं से और क्रिया-विशेषण विशेषणों से निर्मित हैं। उन्होंने निष्कर्ष निकाला यह है कि यदि शताब्दियों पूर्व तक की भाषा के स्वरूप का अध्ययन किया जाए, तो हम देखेंगे कि भाषा के प्राचीन रूप में क्रियाओं का अत्यधिक बाहुल्य है——यहाँ तक कि पुरानी भाषा में 50 प्रतिशत या उससे भी अधिक क्रियाएं हैं, किन्तु जैसे-जैसे सभ्यता के साथ-साथ बौद्धिकता का विकास होता गया है संज्ञाओं, विशेषणों और क्रिया-विशेषणों की संख्या सापेक्ष रूप में बढ़ती गयी है—यहाँ तक कि आधुनिक भाषा में क्रियाओं की संख्या दस प्रतिशत या उससे भी कम रह गयी है।[14]

उपर्युक्त विवेचन में भले ही अति-सरलीकरण अथवा अति-सामान्यीकरण की पद्धति अपनायी गयी हो, फिर भी इतना अवश्य सत्य है कि बौद्धिकता के उत्तरोत्तर विकास के कारण भाषा में चिन्तनपरक दार्शनिक शब्दावली और विश्लेषणपरक तकनीकी और वैज्ञानिक शब्दावली की संख्या बढ़ती गयी है और उसी अनुपात में भाषा की भावात्मक और काव्योपयोगी शब्दावली क्रमशः निर्जीव और गौण पड़ती गयी है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अर्थ ही भाषा के स्वरूप को निर्धारित करता है, वही भाषा का मूल जीवन-स्पन्दन है। शौनक ने इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा है—अर्थ ही प्रधान होता है, क्योंकि शब्द को अर्थ के गुणों पर निर्भर रहना पड़ता है, अतः अन्वय के विविध उपायों द्वारा हमें शब्दों को अर्थ के अन्तर्गत लाना चाहिए।[15] भाषा के विविध रूपों के पार्थक्य को समझने के लिए उन रूपों के मूल में निहित अर्थों का पृथक्-पृथक् अध्ययन आवश्यक है। अर्थ-तत्त्व के अतिरिक्त भाषा के स्वरूप के अनुशीलन का और कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। भाषा-विषयक चिन्तन का सम्बन्ध भाषा के उस मूल्यांकन से है, जिसमें यह देखा जाता है कि भाषा के विविध रूप विभिन्न प्रकार के अर्थों को व्यक्त करने के माध्यम के रूप में तथा विश्व की वास्तविकता के प्रतीक के रूप में कहाँ तक समर्थ है।

---

1. अथो वाक् सर्वमेवदं......। शौनक, वृहद्देवता (2,45)
2. ब्रह्म वाग् ब्रह्म सत्यं च ब्रह्म सर्वमिदं जगत्। शौनक, बृहद्देवता (2,40)
3. दे० ऋग्वेद (8,100; 10,11; 10,71,3; 10, 177, 2 तथा 1, 164,45)
4. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
   विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥
   —भर्तृहरि, वाक्यपदीय, (1,1)
5. दे० भर्तृहरि, वाक्यपदीय (1,117)
6. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि (पहला भाग), पृ० 195
7. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'वाक्-तत्त्व और विनायक धर्म', सम्पादक—शिवदान सिंह चौहान, आलोचना, जून, 1965, पृ० 11
8. "...Our Vocabulary is a reflection of the fact that 'reality' it-self, as coped with in language, is a vast system of interlocking Structures'. —Winifred Nowottny, The Language Poets Use, P. 137.
9. दे० W. M. Urban, Language And Reality, P. 21
10. मनसा वा इषिता वाग्वदति। ऐतरेय ब्राह्मण (2,5)
11. भर्तृहरि वाक्यपदीय (1,54)
12. भावप्रधानमाख्यातम् —यास्क, निरुक्त (1,1,9)
13. शौनक, बृहद्देवता, (2,121)
14. दे० A. S. Diamond, The History and Origin of Language, pp. 6,8.
15. प्रधानमर्थं शब्दो हि तद्गुणायत इष्यते।
    तस्मान्नानान्वयोपायैः शब्दानर्थवशं नयेत्॥
    —शौनक, वृहद्देवता, (2,99)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० मदनगोपाल गुप्ता
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
बड़ौदा विश्वविद्यालय
बड़ौदा

युगीन नवोन्मेष के प्रथम महाकवि —विष्णुदास

(भक्तिकाल की पृष्ठभूमि के नव मूल्यांकन के संदर्भ में विष्णुदास)

विष्णुदास का व्यक्तित्व एवं कृतित्व हिन्दी साहित्य के इतिहास के लिए एक अभिनव एवं महत्त्वपूर्ण उपलब्धि ही नहीं है, अपितु मध्यकालीन हिन्दी काव्य और उसकी युगीन पृष्ठभूमि पर नये सिरे से विचार करने का पथ प्रशस्त करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ में, जो काल-विभाजन प्रस्तुत किया है तदनुसार विष्णुदास को जिस काल (भक्तिकाल) में रखा जा सकता है उसके दो आधार हैं—प्रथम उसके पूर्व हिन्दी के वीरगाथा काल की मान्यता और दूसरे सन् 1318 ई० (1375 वि.) के कुछ पूर्व तक वीरगाथा काल की समाप्ति का अनुमान। इनमें से प्रथम आधार पर हिन्दी साहित्य के विद्वन्मनीषियों ने विस्तार से विचार किया है और वस्तुस्थिति यह हो गई है कि वीरगाथा काल का अस्तित्व ही संदिग्ध किंवा निराधार सिद्ध हो चुका है। ऐसी स्थिति में उसकी परिसमाप्ति को ही परवर्ती काल-भक्तिकाल का आरम्भ मान लेना उतना ही निराधार या संदिग्ध कहा जायेगा। शुक्लजी द्वारा इतिहास प्रस्तुत करने के पश्चात् जो भी हिन्दी साहित्य के इतिहास लिखे गये, उनमें एक-आध अपवाद को छोड़ कर वही बात दुहराई जाती रही। दूसरी ओर आदिकाल की जिन पांच काव्य प्रवृत्तियों को डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी का आदिकाल नामक ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है वे सन् 1318 ई० से लेकर लगभग कबीर की कविता तक निरन्तर गतिशील रहीं और भक्ति की कतिपय छिटपुट उक्तियों की तुलना में अधिक प्रधानता और उत्कृष्टता के साथ वर्तमान रहीं। इधर यहां से भक्तिकाल का आरम्भ मानने वालों ने सन् 1318 ई० से लेकर कबीर के युग तक के हिन्दी के भक्ति-काव्य के अविच्छिन्न प्रवाह को न तो प्रस्तुत किया है और न उसके अस्तित्व की कभी खोज-खबर ही ली। यदि एतद्विषयक विवेचनों का परीक्षण-विवेचन किया जाए तो संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वस्तुगत सत्य के स्थान पर दो आत्म-आरोपित तथ्यों को बलपूर्वक भक्तिकाल पर लाद दिया गया है। ये दो तथ्य इस प्रकार हैं—प्रथम तो भक्ति-काल की युगीन पृष्ठभूमि को उनके अनुसार निराश और हताश जनता की वाणी और उसका युगानुरूप उपचार का आधार वस्तुत: अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल को ही माना गया है, यद्यपि इसे स्पष्ट-तया स्वीकार नहीं किया गया है। दूसरे इस काल के काव्य का जो भी मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है वह अधिकांशत: सोलहवीं शताब्दी के बाद का है। इस प्रकार तेरहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग से लेकर चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ के दस-बीस वर्षों की युगीन पृष्ठभूमि को सोलहवीं शताब्दी तथा उसके बाद के हिन्दी काव्य के विवेचन के लिए उपयुक्त मान कर जिस भ्रमपूर्ण-पथ का सन्धान किया गया, उसी को न जाने कितने साहित्य के इतिहास लेखक राजमार्ग मान कर उस पर चलते आये हैं। विवेचन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सामग्री का विस्तार अवश्य अनेक लेखकों ने प्रस्तुत किया है किन्तु पृष्ठभूमि का पुनर्मूल्यांकन उपेक्षित ही रहा।

इस बीच में आदिकालीन सामग्री पर अनेकानेक शोधकार्य हो जाने के पश्चात् भी उसके आकलन की उपेक्षा कर सम्प्रति प्रकाशित एक और विशाल ग्रन्थ में उपर्युक्त समय-सीमा को ही दुहराया गया है।[1] आरम्भिक पृष्ठों में विद्वान् सम्पादक ने नये सिरे से इतिहास लेखन की आवश्यकता, तदर्थ संकल्प और नवीन संशोधनों के विनियोजन के जो आश्वासन दिए हैं[2], उनके प्रकाश में भक्तिकाल-विषयक विवेचन देख कर उपर्युक्त राजमार्ग की ही बात स्मरण हो आती है। वस्तुस्थिति यह है कि आदिकाल की प्रवृत्तियाँ 1400 ई० के कम से कम बीस-पच्चीस वर्ष पश्चात् तक प्रधान रूप से विद्यमान रहीं और इसके बाद कबीरदास और विष्णुदास लगभग एक ही समय में साहित्य-गगन को आलोकित करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि भक्तिकाल की आरम्भिक समय-सीमा का निर्धारण सन् 1425 या उसके आस-पास ही होना चाहिये और ऐसी स्थिति में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का पुनर्मूल्यांकन भी अनिवार्यतः अपेक्षित है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा मान्य आदिकाल की 1400 ई० सीमा को तथ्य के निकट ही कहा जायेगा। विष्णुदास और भक्तिकाल के सन्दर्भ में भक्तिकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर पुनर्विचार की आवश्यकता इसलिए भी है क्योंकि उनके काव्य में संघर्षशील हिन्दू-जाति की आत्म-गौरवपूर्ण विजगीषु मनोवृत्ति तथा उन्मेषपूर्ण स्वातन्त्र्यचेतना ही मुखर हुई है। कबीर ने भी आत्मविश्वास-पूर्ण अन्तःकरण को वाणी दी है जो निराशा की उपज नहीं मानी जा सकती।

इस युग की हिन्दी काव्य-धारा पर जो ऐतिहासिक पृष्ठभूमि आरोपित की गई है वह अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल की है और इसमें सन्देह नहीं कि उसने राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से देश की जनता को बहुत बड़े भाग को दयनीय और पंगु बना दिया था। भारतीय इतिहास के अनुशीलन द्वारा यह दृष्टिगत किया जा सकता है कि यह परिस्थिति पन्द्रह वर्षों से अधिक काल तक नहीं रही। अलाउद्दीन की मृत्यु सन् 1318 ई० अर्थात् उक्त तथाकथित निराशा-काल के आरम्भ (1380 ई० या 1375 वि.) के ठीक दो वर्ष पूर्व हो चुकी थी और 1316 ई० के बाद के केवल चार वर्षों के भीतर ही खिलजी वंश की समस्त राजशक्ति बिखर कर नष्ट हो गई। इसके ठीक छः वर्षों के अनन्तर दक्षिण में मुस्लिम-सत्ता को उखाड़ फेंकने के स्वाधीनता-संग्राम का श्रीगणेश किसी हिन्दू शासक द्वारा नहीं, बल्कि जन-नायक प्रलय के नेतृत्व में वहाँ के जन-साधारण द्वारा हो जाता है और इसे सन् 1335 ई. में विजयनगर साम्राज्य की स्थापना के रूप में पूर्णता प्राप्त होती है। दूसरी ओर अलाउद्दीन द्वारा चितौड़ के पतन के पश्चात् तथाकथित वीरगाथाओं की समाप्ति का पथ प्रशस्त करने वाली वीरदर्प-शून्यता की स्थिति भी भ्रामक है क्योंकि अलाउद्दीन के मरते ही उसके उत्तराधिकारी महमूद खिलजी से मेवाड़ के खोये हुए प्रदेशों को हमीर ने वापिस ले लिया और इतना ही नहीं बल्कि मारवाड़ और जयपुर जैसे राज्यों तथा बूंदी, ग्वालियर, चन्देरी, रामसीन, सीकरी, कालपी तथा आबू आदि के हिन्दू सरदारों ने उसकी अधीनता स्वीकार की।[3] यह उल्लेखनीय है कि यह वही समय (सन् 1316 ई० या सं. 1373 वि. के बाद का) है, जिसमें भारतीय इतिहास की समुचित दृष्टि के अभाव में पराक्रम, आशा, आकांक्षा, आत्मगौरव इत्यादि के लिए अवकाश ही न रह जाने की बात स्वीकार की गई है। इस समय से लेकर कम से कम पूरी दो शताब्दियों तक मेवाड़ राज्य हिन्दू राजशक्तियों का केन्द्र बना रहा। तद्विषयक परिस्थितियों का विस्तार से विवेचन करने वाले कर्नल टॉड के निम्नलिखित निष्कर्ष यहां उल्लेखनीय हैं :—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"Extensive as was the power of Mewer before the Tatar occupation of India, it could scarcely have surpassed the solidity of sway which she enjoyed during the two centuries following Hamir's recovery of the capital. From this event to the next invasion from the same Cimmerian abode, led by Babar, we have a succession of splendid names recorded in her annals, and though destined soon to be surrounded by new Mohammedan dynasties in Malwa and Gujarat as well as Delhi, yet successfully opposing them all."[4]

इस ऐतिहासिक साक्ष्य के प्रकाश में आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा प्रस्तुत हमीर के पश्चात् वीरगाथाओं की समाप्ति की कल्पना निराधार सिद्ध होती है।

उपर्युक्त तथ्यों से प्रकट है कि हमीर के पश्चात् राजस्थान की राजशक्तियों के पराभव के स्थान पर उनका निरन्तर आकांक्षापूर्ण अस्तित्व ही प्रकाश में आता है। अतः हमीर के पश्चात् भी निश्चित रूप से ऐसी ऐतिहासिक परिस्थिति नहीं थीं जो कि वीरगाथाओं की समाप्ति की भूमिका तैयार कर सकती थीं और न इन दो शताब्दियों के काल को गौरव और अभिमान से शून्य या हताश ही कहा जा सकता है। इस तथ्य पर विस्तार से विचार किया जाय तो वस्तुतः देश की परिस्थिति इसके ठीक विपरीत थी। सन् 1400 ईस्वी के आसपास दिल्ली के मुस्लिम शासन की निर्बल और असहाय स्थिति तथा हिन्दू भारत के अभ्युदय और उसके लगभग सौ वर्षों तक निरन्तर संघर्ष की शक्तिसम्पन्न अवस्था का निदर्शन के. एम. पाणिक्कर महोदय ने भी किया है।[5] ग्वालियर में सन् 1398 ईस्वी के आसपास स्थापित तोमर वंशीय शासन भी उक्त राजनीतिक एवं सांस्कृतिक नवोन्मेष की दृष्टि से उल्लेखनीय महत्त्व रखता है।[6] लगभग सवा सौ वर्षों तक इसकी समर्थ राजशक्ति के आश्रय में पुष्कल मात्रा में काव्य-रचना के साथ साथ मध्यभारत की जनता में आत्मगौरवपूर्ण स्थिति को बनाये रखने में योगदान अविस्मरणीय है। इसके अतिरिक्त डा. बेनीप्रसाद के अनुसार मध्यभारत के बहुत से हिन्दू राज्य बराबर बने रहे जिसमें से बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड तो दिल्ली या आगरे के किसी भी मुस्लिम शासक द्वारा पूरी तरह से न जीते जा सके।[7]

हिन्दू राजशक्तियों द्वारा शासित प्रदेशों की परिस्थिति के पूर्वनिर्दिष्ट संक्षिप्त अनुशीलन के उन प्रदेशों के जन-जीवन की स्थिति पर विचार कर लेना इस काल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के सम्यक् निदर्शन के लिए आवश्यक होगा। उत्तर भारत में दीर्घकाल तक प्रतिष्ठित मुस्लिम शासन की परिस्थितियों का विस्तार से आकलन करते हुए लेखक ने 'मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति' नामक पुस्तक में यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि सन् 1205 ईस्वी से लेकर 1560 ईस्वी तक गुलाम, ख़िलजी, तुग़लक, सैयद, लोदी आरम्भिक मुगल तथा सूरी आदि वंशों का शासनकाल इन राजशक्तियों के अस्थिर अस्तित्व तथा सतत संघर्षों और जनता के विद्रोहों का युग रहा है। इस युग के उत्तर भारत में मन्दिरों और मूर्त्तियों के तोड़फोड़, हिन्दुओं का अपमान, उन्हें कठोर दण्ड तथा उन पर राजनीतिक और आर्थिक अत्याचारों की अनेक घटनाएं इतिहास में मिलती हैं। बलपूर्वक तथा आर्थिक प्रलोभन दोनों ही प्रकारों से धर्मपरिवर्तन भी होते थे। किन्तु इसके बावजूद भी हिन्दी-प्रदेश में इस्लाम में दीक्षित होने वाले जन-समुदाय का प्रतिशत अल्प ही दिखाई पड़ता है। वस्तुतः अकबर के पूर्व तक कोई भी मुस्लिम राजवंश सुस्थिर तथा व्यवस्थित रूप से पचास वर्ष भी शासन न कर सका।[8] एक के बाद दूसरे सुल्तान को स्वयं के अस्तित्व की प्रतिष्ठा, रक्षण, अधिकार-प्राप्ति और विद्रोहों के शमन में अधिकांश समय बिताना पड़ा जिसके अपवाद में जो एक-आध सुल्तान रहे वे भी साम्राज्य-विस्तार में लगे रहे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरी ओर जनसामान्य का प्रतिरोध सदैव बना रहा। कभी यह प्रतिरोध धर्म-परिवर्तन के प्रति था तो कभी कर-वसूली के विरुद्ध। इसमें सन्देह नहीं कि इन विद्रोहों का उसे बहुत बड़ा मूल्य चुकाना पड़ता था। कभी-कभी तो कृषकों को घेर कर पशुओं की भांति मारा जाता था किन्तु दूसरे ही वर्ष लगान-वसूलने वाले कर्मचारियों को मार डालने में वे न चूकते थे। यह निःसंदेह है कि उनका बहुत अधिक आर्थिक शोषण हुआ। किन्तु समय-समय पर होने वाले विद्रोह इस तथ्य के निदर्शक हैं कि साधारण जनता हताश नहीं थी, अपितु दुष्परिणाम की चिन्ता किये बिना संघर्ष का अवसर नहीं चूकती थी। अतः दिल्ली-शासन की निर्बल स्थिति में इन प्रदेशों की हिन्दू जनता के अन्तःकरण में विद्यमान स्वातंत्र्य की चिनगारी निश्चय ही सप्राण हो उठती होगी। पंद्रहवीं शती के आरम्भिक भाग में तो अराजक परिस्थिति ने पुराने सरदारों और छोटे-मोटे जमींदारों के मन में दिल्ली-शासन को उखाड़ फेंकने की तीव्र लालसा उत्पन्न कर दी। केवल कटहर एवं इटावा जैसे छोटे से प्रदेश को अधिकृत करने में अत्यधिक यत्नशील खिज्रखां वहां की हिन्दू-शक्ति के अस्तित्व को समाप्त करने में असफल रहा।[9] अतः यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि जब देश में अन्य भागों में हिन्दू राज-शक्तियां प्रबल होती थीं तो हिन्दी प्रदेश में जन-विद्रोहों की मात्रा निश्चय ही बढ़ जाती होगी।

अतः उपरिनिर्दिष्ट तथ्यों के प्रकाश में यह युग जनसाधारण तथा हिन्दू राज-शक्तियों के मुस्लिम शासन के साथ सतत संघर्ष, देश के पर्याप्त भागों में हिन्दू राज्यों के अभ्युदय और एक समय तो उल्टे दिल्ली, आगरा और मालवा के सुलतानों को उनके आतंकपूर्ण प्रभाव तथा मुस्लिम सुल्तानों द्वारा शासित प्रदेशों में अत्याचारग्रस्त होकर भी जनता के विद्रोहों की परिस्थितियों से परिपूर्ण है। इसके परिणाम-स्वरूप इसे देश की जनता के आशा-आकांक्षाओं पर आघात-प्रत्याघातों के साथ-साथ उसके लिए आत्म-बलिदान की चेष्टाओं से परिपूर्ण नवोन्मेष का युग कहा जाता सकता है। इसलिए निराशाजनक परि-स्थिति की असंगत पृष्ठभूमि के साथ भक्तिकाल को जोड़कर इस सांस्कृतिक पुनर्जागरण के युग के साथ समुचित न्याय नहीं किया गया है। प्रश्न यह उठता है कि यदि हिन्दू राजशक्तियों के पराभव एवं तज्जन्य हताश मनःस्थिति को ही भक्तिकाल की निर्मात्री मान लिया जाय तो फिर अलाउद्दीन के शासनकाल में भक्तिकाव्य की पुष्कल रचना क्यों नहीं हुई? उक्त निराधार व्यवस्था के अनुसार तो सूर और तुलसी जैसे महाकवियों को अपने समय से दो-ढाई सौ वर्ष पहले होना चाहिए था।

कवि अपने युग का वरद पुत्र होता है। सामाजिक परिवेश में वह व्यक्ति के रूप में अपने आप को संस्कारित करता और अपने उत्कर्ष के प्रति सचेष्ट रहता है। तदुपरान्त आगे चल कर, प्रबुद्ध होकर समाज के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करता है। पन्द्रहवीं शताब्दी के आरम्भ से युगीन नवोन्मेष और अभ्युदय का जो निदर्शन पूर्ववर्ती पृष्ठों में किया गया है, उसकी एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि महाकवि विष्णुदास है। उनकी सुप्रसिद्ध कृति महाभारत के आधार पर संशोधक विद्वान् श्री हरि-हरनिवास द्विवेदी ने उनका कविता-काल सन् 430 ई. और सन् 1450 ई. के बीच निर्धारित किया है।[10] उनकी जीवनी, कवि-व्यक्तित्व एवं प्रदेय आदि के विविध पक्षों पर श्री द्विवेदी जी ने सम्पादित कृति 'महाभारत' (पांडव चरित) की भूमिका में विस्तार के साथ विचार किया है। प्रस्तुत निबंध में उनके युगीन परिवेश तथा कृतित्व के साहित्यिक काल-निर्धारण के परिप्रेक्ष्य में ही अनुशीलन किया जाता है।

पं० लोकनाथ द्विवेदी सिलाकरी ने विष्णुदास की तीन रचनाएं——महाभारत कथा, रुक्मिणी मंगल और स्नेहलीला मानी हैं और स्वर्गारोहण तथा स्वर्गारोहण-पर्व नाम की रचनाओं को महा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत कथा में ही अन्तर्भुक्त किया है।[11] स्वर्गारोहण तथा स्वर्गारोहण-पर्व निश्चय ही एक ही कृति के दो नाम होते हैं, किन्तु महाभारत के परिशिष्ट में प्रकाशित इस कृति के परीक्षण से पता चलता है कि स्वर्गारोहण एक स्वतंत्र लघु कृति है। श्री हरिहर-निवास द्विवेदी के अनुसार इस कृति की रचना का उद्देश्य महाभारत से सर्वथा भिन्न है। रुक्मिणी मंगल तथा स्नेहलीला की भाषा स्वयमेव इस तथ्य का साक्ष्य उपस्थित करती है कि 'महाभारत' तथा 'रामयन कथा' के रचयिता विष्णुदास इन दोनों रचनाओं के रचयिता विष्णुदास से सर्वथा भिन्न है।[12] इनकी भाषा पर्याप्त परवर्ती काल की ही कही जा सकती है। इस प्रकार इनकी तीन ही रचनाएं ठहरती हैं—महाभारत या पांडवचरित, स्वर्गारोहण तथा रामायन कथा।

विष्णुदास की रचनाओं के अन्तर्साक्ष्य के आधार पर श्री हरिहरनिवास द्विवेदी के उन्हें कर्ण-व्यास का पुत्र, ग्वालियर-नरेश डूंगरेन्द्रसिंह का सभाकवि तथा नाथपंथी योगी सुन्दरनाथ का शिष्य होना प्रमाणित किया है।[13] इस युग में दीर्घकाल तक ग्वालियर हिन्दू राजशक्तियों का एक सशक्त केन्द्र बनकर प्रतिष्ठित रहा। इसके दो स्वाभाविक परिणाम हुए—एक तो ग्वालियर के आस-पास के प्रदेश जो कि ब्रज, बुन्देली और यत्किंचित अवधी बोलियों के कहे जा सकते हैं, इस राजनीतिक स्थिति से प्रेरित और प्रभावित रहे तथा दूसरे ग्वालियर के दरबार में कला-कोविदों और हिन्दी कवियों को आश्रय और सम्मान मिलने के कारण पुष्कल काव्य-रचना को यहाँ अनुकूल अवसर प्राप्त हुआ। अतः विष्णुदास निश्चय ही इस महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की एक उल्लेखनीय देन हैं।

सर्वप्रथम यह उल्लेखनीय है कि विष्णुदास ने, नाथपंथी होकर भी, रामायण और महाभारत के कथानकों को अपने काव्य का विषय बनाया। इससे स्वयं-सिद्ध है कि कवि-कर्म का निर्वाह करते समय वे किसी प्रकार की साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रतिबद्ध नहीं होते। यह सर्वविदित ही है कि यह दोनों ही ग्रन्थ भारत की सांस्कृतिक परम्परा के संवाहक ही नहीं, अपितु इनके चरित्र चिरकाल से भारतीय जीवन को किसी न किसी रूप में प्रेरणा देते रहे हैं। इनके पात्र तथा विषयवस्तु देश के सभी स्तरों के जन-मानस से इतनी घुल-मिल गई है कि यहाँ आ कर मानो कालगत अन्तर समाप्त-सा हो जाता है। कवि के सम्बन्धित युग के राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक संघर्ष, जनता की आकांक्षा और उसके सन्धान एवं नयी चेतना के विकास के सन्दर्भ में तो यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि इनकी कथावस्तु के माध्यम से मानो उन सब की समष्टि को वह अभिव्यक्त ही नहीं करना चाहता, अपितु उक्त-अभियान में अपना सक्रिय-योग भी दे रहा है। इस दृष्टिकोण से उसकी 'महाभारत' नामक कृति विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

'महाभारत' की रचना की पृष्ठभूमि को अन्तर्साक्ष्य के आधार पर प्रस्तुत करते हुए श्री हरि-हरनिवास द्विवेदी ने इसे 'जयकाव्य' की अवतारणा के रूप में स्वीकार किया है जिसे नितान्त समीचीन कहा जा सकता है। इस सन्दर्भ में उनकी निम्न-लिखित पंक्तियां विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं——

"विजयदशमी के पश्चात्, विक्रम संवत् 1492, कार्तिक कृष्ण एकादशी, शुभ (मंगल) वार, 18 अक्तूबर 1435 ई० के दिन गोपालचलगढ़ के तोमर राजा डूंगरेन्द्रसिंह ने अपने राजकवि विष्णुदास को सम्मान के साथ ताम्बूल भेंट किया और आग्रह किया, "कवि विष्णुदास, भावपूर्ण भाषा और शैली में कौरव और पाण्डवों का आख्यान, पाण्डव-चरित्र सुनाइए। पाण्डव केवल पांच थे और कौरव सौ, फिर भी दुर्योधन किन कारणों से पराजित हुआ और नष्ट हो गया?" राजा डूंगरेन्द्रसिंह स्वयं पाण्डव-वंशी तोमर था। वह अपने पूर्वजों की जयगाथा सुनना चाहता था। विष्णुदास अपने-आपको 'व्यास'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहता था, वेदव्यास की परम्परा का उत्तराधिकारी। नवीन भाषा, नवीन देश-काल, नवीन वातावरण में अभिनव व्यास ने अपनी वाणी मुखरित की।....... जिनकी महिमामयी गद्दी पर बैठकर विष्णुदास ने अपना 'महाभारत' सुनाया था। उस वेदव्यास ने अपना पंचम-वेद देववाणी संस्कृत में लिखा था, तथापि विष्णुदास को इस बात से भी ग्लानि या हीन-भावना का अनुभव नहीं हो रहा था कि वह अपना काव्य 'भाखा' में सुना रहा था। उसका राजा कालपी के सुल्तान मुबारक खां पर विजय प्राप्त करके लौटा था और उसकी 'भाखा' भी जयशाली थी। उसके प्रयोग के कारण किसी हीन-भावना के उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं था।"

हिन्दी साहित्य के इतिहास के अध्ययन से स्पष्ट है कि मध्यकाल और उसके पूर्व कालीन संघर्ष तथा विदेशी शक्तियों के आक्रमण से उत्पन्न नवागत विपत्ति के प्रतिरोध में युगीन चेतना ही लोकभाषा अथवा देशी भाषा के काव्यों में मुखरित हुई है। यह उल्लेखनीय तथ्य है कि शास्त्र-चिन्तन, विविध सम्प्रदायों की दार्शनिक विचारधारा तथा उसकी ऊहापोह प्रायः देववाणी संस्कृत में प्रकट होती रही। किन्तु जन-जीवन की आशा-आकांक्षाओं, उसके अभियानों, संघर्षों तथा आगे चल कर भक्ति भी सर्वजनसुलभ सांस्कृतिक एवं सामाजिक चेतना के लिए कवियों ने जन साधारण की भाषा को ही अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। इस युग में जन्म लेने वाले कबीर की यह उक्ति सार्थक प्रतीत होती है :

संसकीरत तो कूप जल, भाषा बहता नीर।

सुदूर अतीत का कूपजल देववाणी में एकत्र होता रहा और युगीन चेतना जनभाषा की काव्य-धारा को प्रवाहशील बनाती रही। यह चेतना विष्णुदास के कुछ पूर्व आरम्भ हो चुकी थी। अतः पूर्वनिर्दिष्ट तथ्यों के प्रकाश में विष्णुदास का काव्य भारतीय जनसमुदाय की चेतना का काव्य कहा जा सकता है। जैसा कि प्रारम्भ में स्पष्ट किया जा चुका है कि पंद्रहवीं शती का काल हिन्दू भारत का अभ्युदय काल है और श्री हरिहरनिवास जी द्वारा प्रस्तुत विष्णुदास के महाभारत की उपरिनिर्दिष्ट पीठिका इसे प्रमाणित करती है कि महाभारत में उक्त अभ्युदय की ओर उन्मुख भारतीय जनता के संचेतना की ही सांसें हैं। उसे किसी पराजित, हीनता-गलित तथा हताश हृदय की वाणी कहना सत्य की उपेक्षा ही होगी। यहाँ यह उल्लेख कर देना प्रासंगिक ही होगा कि विष्णुदास के पुत्र नारायणदास के, 'छिताई चरित' नामक प्रबन्धकाव्य में यही नवोन्मेष ध्वनित होता है।

'स्वर्गारोहण' में कलियुग का वर्णन, समकालीन परिस्थिति का सजीव चित्रण है। गोस्वामी तुलसी दास जी के 'रामचरितमानस' में आये हुए कलियुग-वर्णन और स्वर्गारोहण के कलियुग-वर्णन में बहुत कुछ साम्य है और उल्लेखनीय है कि इस कृति का यह सामाजिक एवं सांस्कृतिक साक्ष्य उसके लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व का है। यदि काव्य को जीवन की आलोचना माना जाय तो इस दृष्टिकोण से यह वर्णन अत्यन्त ही विशद और अपने युग का आलोचना-भरा चित्र प्रस्तुत करने वाला है। इसमें कवि सांस्कृतिक परम्परा, सामाजिक, पारिवारिक, व्यक्तिगत तथा राजनीतिक जीवन पक्षों के अधःपतन से युक्त चित्रों को प्रस्तुत करता और अपनी तीक्ष्ण आलोचना द्वारा निजी दृष्टिकोण को प्रकारान्तर से प्रमाणित करता है।

'रामायन कथा' आख्यान-शैली की प्रबन्ध-कृति है। यह पूर्वनिर्दिष्ट महाभारत के सात वर्ष बाद की रचना है। इसकी शैली महाभारत तथा स्वर्गारोहण की ही भांति चौपाई-प्रधान तथा परम्परा के अन्य छन्दों के प्रयोग की है। अतः इन्हें निश्चय ही परवर्ती भक्तिकाल के प्रबन्ध काव्यों का पथ-प्रदर्शक कहा जा सकता है। रामायण कथा में युगीन नवोत्थान महाभारत के समान उतना मुखर नहीं है किन्तु प्रसंगों के उदात्त वर्णन, सुन्दर संवाद-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योजना तथा सांस्कृतिक जीवन-दृष्टि आदि के आलोक में उक्त नवोन्मेष को लक्ष्य किया जा सकता है। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि भाव-योजना, भाषा, छन्द-शैली, विचारधारा, विषय-वस्तु के चयन आदि के दृष्टिकोण से विष्णुदास की रचनाएं परवर्ती काल की प्रबन्ध कृतियों की पूर्व पीठिका का निर्माण करती हैं। अत: हिन्दी भाषा और साहित्य के मध्यकालीन उन्मेष, उसकी सांस्कृतिक चेतना तथा एक नया मोड़ लेती हुई इस युग की काव्य चेतना के परिप्रेक्ष्य में विष्णुदास का ऐतिहासिक महत्त्व अप्रतिम तथा अनुपेक्षणीय है।

पूर्ववर्ती पृष्ठों में हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन तथा उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के परिपार्श्व में विष्णुदास के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का जो संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि हिन्दी का भक्तिकाल निश्चय ही देश के नवोत्थान एवं स्वातंत्र्य-संघर्ष की देन है। वस्तुत: इस युग की समस्त राष्ट्रीय चेतना धर्माभिमुखी हो चुकी थी[14] अत: आगे चल कर भक्ति-भावना के माध्यम से देश के जन-जीवन की स्वातंत्र्य-चेतना अभिव्यक्त होने लगी, जब कि प्रारम्भिक काव्यों में युगीन संघर्ष अधिक मुखर रहा। उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में विष्णुदास एक ऐसे युग के कवि हैं जहां से हिन्दी के भक्तिकाल का आरम्भ माना जा सकता है। इस समय जहां एक ओर कबीर आदि की सुधारवादी विचारधारा प्राप्त होती है वहां दूसरी ओर विष्णुदास में देश की हिन्दू जनता तथा राजशक्तियों का आत्मगौरव एवं विजगीषु मनोवृत्ति से परिपूर्ण संघर्ष अभिव्यक्त होता है। वैसे कवि का सुधारवादी दृष्टिकोण भी इन कृतियों में प्रकारान्तर से प्रस्तुत हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि विष्णुदास के कृतित्व तथा उसके पूर्व आदिकालीन काव्य-प्रवृत्तियों की ही प्रधानता के आलोक में काल-विभाजन की रूढ़िग्रस्त स्थापनाओं को छोड़ कर नये सिरे से विचार करना अपेक्षित है।

ईस्वी सन् की पंद्रहवी और उसके बाद की दो शतियों की कृतियों के अन्तरंग के परीक्षण से एक बात यह प्रकाश में आती है कि इन काव्यों में युग की कसक, अस्तित्व के लिए सतत संघर्ष, आत्मगौरव एवं आत्मविश्वास तथा आशा-आकांक्षा भरा स्वर अधिक मुखर है। बाद की दोनों शतियों के काव्य में कलात्मक चेतना के विकास के साथ साथ सांस्कृतिक परम्परा की सम्यक् प्रतिष्ठा तथा उसके प्रति सजग निष्ठा की भावना स्पष्ट दिखाई देती है। जनता की स्वातंत्र्य-चेतना भरी आकांक्षा दोनों युगों में है किन्तु एक में वह राजनीतिक संघर्ष की उत्प्रेरक है तो दूसरे में सांस्कृतिक परम्परा की नींव को दृढ़ता से बनाये रखने में अधिक सजग है। दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि इस युग में केवल भक्ति-काव्य ही नहीं लिखा गया। सौ से अधिक तो प्रेमाख्यानक काव्य तथा पचास से अधिक ऐतिहासिक और पौराणिक आख्यानों का पता अब तक चल चुका है। सतत गतिमान संशोधनों से इससे अधिक सामग्री के उपलब्ध होने की आशा की जा सकती है। पंद्रहवीं शती के प्रेमाख्यानों में भी उपर्युक्त राजनीतिक संघर्ष और सांस्कृतिक गौरव की प्रतिष्ठा का स्वर प्रधान रूप से विद्यमान है, जबकि परवर्ती प्रेमाख्यानों में प्रेमकथा के साथ साथ सांस्कृतिक मूल्यों के संवहन के प्रति सजगता प्राप्त होती है। समग्रतया विचार करने पर यह कहा जा सकता है कि यह पूरा युग न तो पराक्रम से हताश जनता की विवशता भरी दीन वाणी है और न केवल धर्मसाधना के एक-पक्षीय क्रमिक विकास का ही प्रतिफल है। ऐसी भ्रान्त-धारणाओं को चिरकाल तक पोषित रखना वस्तुत: हमारे आज के अस्तित्व के लिए मर-मिटने वाले पूर्व-पुरुषों के बलिदानों तथा काव्य-मनीषियों के उदात्त कृतित्व के प्रति उपेक्षा ही कही जाएगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 73, सम्पादक डॉ० नगेन्द्र।
2. वही, भूमिका, पृ० 9 से 14।
3. Col. James Tod–Annals and Antiquities of Rajasthan, Page 218 to 221, Heading–Annals of Mewar.
4. वही, पृष्ठ 229।
5. K. M. Panikkar—A survey of Indian History, Ed. 1960, Chaper XIII, Page 121 to 123, Heading–Islam and India.
6. हरिहरनिवास द्विवेदी—मध्यदेशीय भाषा ग्वालियरी, पृ० 133 से 150।
7. द्रष्टव्य—मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति, पृ० 76 से 86 तक।
8. वही पृष्ठ 85—86।
9. वही पृष्ठ 92 से 96।
10. महाकवि विष्णुदास कृत महाभारत, भूमिका, पृष्ठ 46।
11. देखिए—रामायन कथा, प्रस्तावना, पृष्ठ 44।
12. महाकवि विष्णुदास कृत, महाभारत, भूमिका, पृष्ठ 23।
13. महाभारत, भूमिका, पृष्ठ 42 से 44।
14. विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य—डॉ० मदन गोपाल गुप्त—मध्यकालीन हिन्दी काव्य में भारतीय संस्कृति, पृष्ठ 120-21।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० श्रीमती राजेन्द्र खोसला
हिन्दी विभाग
राजकीय महाविद्यालय
मुक्तसर

धर्मवीर भारती की वैष्णव परकीया—कनुप्रिया

कनु की अंतरंग केलि-सखी, जन्म जन्मांतर की एकान्त संगिनी कनुप्रिया चरम साक्षात्कार के क्षण में जड़ और स्पन्दनहीन होने पर भी उस से पृथक् नहीं होती, कनु में ही लीन रहती है। उसका अंतरंग-सखा, रक्षक, लीला-बन्धु, आराध्य, गन्तव्य सभी कुछ कनु है। जो उसे अपनी बांहों के घेरे में तो गूंथता है, लेकिन उसे अपने इतिहास के पन्नों में नहीं गूंथता। अभागी कनुप्रिया के चरम सौभाग्य पर इतिहास की अमांगलिक छाया पड़ जाती है और कनु उस छाया में उससे छूट जाता है। उसके जीवन-क्षण में वे क्षण भी थे जब नित्य प्रवहमान यमुना का लीलाकमल कनु उसका समग्रता में अपना था। अपने प्रिय कनु को अपनी भुजाओं में घेरकर उसे लगता कि उसके आलिंगन में मानो देशकाल की सीमाएं तिरोहित हो गई हों। उसकी स्वयं की बांहें, शरीर के सारे मसृण और सुकुमार आवर्त्त, उसकी मृणमय चेतना के सभी स्तर उसे कनु के पास पहुंचाकर रीत-रीत जाते। कनु की मुरली की तान सुन वह लोकलाज, कुल-कानि को छोड़ कदम्ब की अभिराम छायाओं तथा अपने प्रिय कनु की भुजाओं के सांवले अंधेरों में खो जाती। उसे लगता कनु एक-मात्र उसका है और वह मानस की वायवी, रंगीन और स्वप्निल पगडण्डियों को पार कर अपने आराध्य में तन्मय और तदरूप हो जाती। उस बेचारी नादान अबला को क्या मालूम कि इतिहास उसके कनु को छलकर उससे दूर ले जाएगा और उसके पास शेष रह जाएंगी स्मृतियां जिन्हें वह अपने प्रिय कनु की अमानत मान हृदय में संजोए बैठी रहेगी।

आज भी दोपहर के सन्नाटे में यमुना के निर्जन घाट पर अपने सारे वस्त्र किनारे रखकर जब वह घण्टों जल में निहारती है तो यमुना की अथाह नीलिमा में उसे अपने प्रिय कनु का आभास होता है जो अपने श्यामल प्रगाढ़ अथाह आलिंगन में पोर-पोर उसे कसे हुए हैं :—

> यमुना के नीले जल में
> मेरा यह वेतसलता सा कांपता तन बिम्ब,
> और उसके चारों और सांवली गहराई का
> अथाह प्रसार, जानते हो
> कैसा लगता है............
> मानो यह यमुना की सांवली गहराई नहीं है
> यह तुम हो जो सारे आवरण दूर कर
> मुझे चारों ओर से कण-कण रोम-रोम
> अपने श्यामल प्रगाढ़ अथाह आलिंगन में पोर-
> पोर कसे हुए हो।[1]

सम्पुर्णता के लोभी कनु ने उसे अंशतः ग्रहण कर लौटा दिया। उसे क्या मालूम कनु द्वारा वह प्रणय की अस्वीकृति एक अटूट बन्धन बनकर रह जाएगी। उसकी प्रणाम-बद्ध अंजलियों में, कलाइयों में, इस तरह लिपट जायेगी कि कभी खुल ही नहीं पायेगी। प्रिय द्वारा अपने पांवों में महावर लगवा कर वह लाज से दोहरी हो जाती। उसका प्रिय उसके पांवों को गोद में रख पोई की जंगली लतरों के पके फलों को मसलकर उनकी लाली अपनी प्रिया के पांव में लगा देता। वह लज्जावश भाग जाती और घर आकर तम के प्रगाढ़ आवरण में,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दीपक के मन्द आलोक में अपने उन्हीं चरणों को निहारती और चूमती जिनका स्पर्श उसके प्रिय ने किया था। उस मृग-छोने कनु के स्पर्श की सरसराहट आज भी उसके अवयवों में होती है।

वह इतिहास पुरुष कनु से मान भी कर बैठती। वह आम के बोर से लदी डाली के नीचे टिक घन्टों उसका इन्तजार करता। अपनी वंशी से उसे टेरता रहता। लेकिन वह मान किए बैठी रहती। अज्ञात मधुर भय, अनजाना संशय, गोपन, निर्व्याख्या-वेदना और उदासी उस चरम सुख के क्षणों में ढीठ, चंचल, सरचढ़ी सहेलियों की भांति उसे घेर लेती, चाह कर भी वह अपने प्रिय कनु के पास न पहुंच सकती। लज्जा का त्याग कर जब वह पहुंचती तब तक उसका कनु चला गया और वह आम की उस डाली को, जिसके नीचे उसके कनु ने उसकी प्रतीक्षा की थी, घेरकर रोती रही। उसके अनजाने में ही उसका कनु उसकी उजली मांग को आम्र-बौर से भर गया। उसे यह क्या मालूम उसके कनु का मान इतना दारुण होगा कि वह नीचे की घाटी से ऊपर के शिखरों पर चला जाएगा और फिर कभी न लौटेगा और उसकी देह के बड़े-बड़े गुलाब उसके विरह में सदा के लिए टीसते रह जाएंगे :

तुम्हारे चन्दन कसाव के बिना मेरी देहलता के-बड़े-बड़े गुलाब धीरे-धीरे टीस रहे हैं।[2]

वह नादान बावरी राधा आज आम्र-बौर के अर्थ को समझ पा रही है। उसके चन्दनवासित केशों में पतली उजली मांग ही आखिरी पगडण्डी थी जिसे उसका प्रिय आम्र-मंजरी से भर देना चाहता था। वह आम की ताजी, कंवारी, तुर्श मंजरी; वही बावली राधा थी जिससे उसके प्रिय ने उसकी मांग भर दी थी। वह नासमझ राधा उस आम्रबौर का अर्थ कैसे समझ पाती जो अपने कनु के प्रेम में डूबी हुई साधारण भाषा भूलकर हाट में श्याम लेलो। श्याम लेलो। कहती फिरती। जो उसके प्रेम में भूली घड़े में अपनी चंचल आँखों की छाया देख उन्हें कुलेल करती मछलियां समझ सारा पानी ढुलका देती।

कनु उसका कौन है, क्या लगता है? यह प्रश्न उसके मन ने आग्रह से, विस्मय से, तन्मयता से पूछा, उसकी सखियों ने कटाक्ष से, कुटिल संकेत से पूछा, गुरुजनों ने डांट-डपट कर पूछा लेकिन वह निरुत्तर रही। समय के अनुसार वह अपने कनु से भिन्न-भिन्न सम्बन्ध जोड़ती रही। कनु कभी उसे अपना अंतरंग सखा लगा, कभी रक्षक, कभी लीला-बन्धु, कभी आराध्य और कभी लक्ष्य। कनुप्रिया स्वयं को कभी उसकी सखी, कभी साधिका, कभी बांधवी, कभी मां, कभी वधू और कभी सहचरी समझती रही। बार-बार एक सरिता की भांति उमड़-उमड़ कर अपने प्रिय तक आई और उसने हर बार उसे अथाह समुद्र की भांति धारण कर लिया—

विलीन कर लिया
फिर भी अकूल बने रहे
मेरे सांवले समुद्र
तुम आखिर हो मेरे कौन
मैं इसे कभी माप क्यों नहीं पाती ?[3]

कनुप्रिया आज कनु के साथ अपने सम्बन्ध के विषय में कुछ समझी हैं। उसे लगा कनु की असंख्य सृष्टियों का क्रम मात्र उनके प्यार का प्रगाढ़ विलास है और अतृप्त क्रीड़ा की अनन्त पुनरावृत्तियां है। यह निखिल सृष्टि कनु के आस्वादन के लिए उसी का लीलातन है। इस सृष्टि का संकल्प, प्रेरणा, कारण और उपादान वह है। तन्मयता के क्षणों में डूबी वह अपनी प्रगाढ़-केलि-कथा का अस्थायी विराम-चिह्न अपने अधरों से अपने प्रिय के वक्ष पर लिखकर शैथिल्य की बांहों में डूब जाना चाहती है। वह चाहती है कि समुद्र की उत्ताल लहरें उसके द्वार से टकरा कर लौट जाएं और दिशाएं उसके और कनु के मधुर कसाव में घुल जाएं।

तन्मयता के वे क्षण समाप्त हो गये। शेष रहँ गया उसका कांपता और लहराता हुआ जिस्म, बीते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए उत्सव सा, उजड़े हुए मेले सा। जिस कनु के आलिंगन में असंख्य सृष्टियां सो गई थीं, वह कनु चला गया, मन्त्राभिषिक्त बाण-सा, रह गई शेष वह कांपती हुई प्रत्यंचा सी—

अब सिर्फ मैं हूं, यह तन है
—और संशय है
बुझी हुई राख में छिपी चिनगारी सा
रीते हुए पात्र की आखिरी बूंद सा
पाकर खो देने की व्यथा भरी गूंज सा——[4]

कनुप्रिया आज भी उसी आम्र-वृक्ष के नीचे बैठकर अपनी अनमनी और भटकती उंगलियों से अनजाने में कनु का नाम लिखती है और फिर मिटा देती है। जहाँ उसे अपने कनु का अमित प्यार मिला था, वहीं पर बैठी कंकड़, पत्ते, तिनके चुनती है। कनु के जाने के पश्चात सब कुछ वैसा है। केवल नया है उसका सूनी मांग आना और सूनी मांग, शिथिल चरण, असमर्पिता लौट जाना। आज भी वह यमुना पर जाती है। यमुना के अथाह नीले जल में अपने बेतसलता-से कांपते तन बिम्ब को देखती है और नीलिमा के अनन्त प्रसार को और अपनी भावनाओं के शाश्वत प्रवाह को।

महाभारत का युद्ध प्रारम्भ हो गया। सेनाओं के स्वागत के लिए तोरण सजाने के लिए उसके प्रतीक पावन-अशोक वृक्ष को काटा जा रहा है। इसके लिए राधा से पूछा भी नहीं जा रहा। शायद राधा कनु के लिए पगडण्डी मात्र थी जो उसे युद्ध-क्षेत्र तक पहुंचाकर रीत गई। इतिहास उसके कनु को उससे छीनकर ले गया—

नीचे की घाटी से, ऊपर के शिखरों पर
जिसको जाना था वह चला गया—
हाय मुझी पर पग रख
मेरी बांहों से
इतिहास तुम्हें ले गया।
क्या मैं सिर्फ एक सेतु थी तुम्हारे लिए
लीला भूमि और युद्ध क्षेत्र के
अलंघ्य अन्तराल में।[5]

युद्धान्त में खिन्न, उदास, विस्मित, आहत कनु की थकान का आभास कनुप्रिया को होता है। युद्ध में थका-हारा कनु उसके वक्ष के गहराव में अपना चौड़ा माथा रखकर गहरी नींद सो रहा है; ऐसा आभास कनुप्रिया को होता है। अपने अवसान के क्षणों में क्या कनु ने उसे पुकारा था! वह अपने प्रिय की आतुर पुकार को सुनकर सब छोड़कर आ गयी। आज वह जमान्तरों की अनन्त पगडण्डी के कठिनतम मोड़ पर खड़ी होकर अपने प्रियतम का इन्तजार कर रही है ताकि इस बार इतिहास बनाते समय वह अकेला न छूट जाए—

तुमने मुझे पुकारा था न
मैं आ गयी हूं कनु
और जन्मान्तरों की अनन्त पगडण्डी के
कठिनतम मोड़ पर खड़ी होकर
तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूं
कि इस बार इतिहास बनाते समय
तुम अकेले न छूट जाओ।[6]

1. धर्मवीर भारती, 'कनुप्रिया' पृष्ठ 16
2. वही, पृष्ठ 30
3. वही, पृष्ठ 38
4. वही, पृष्ठ 49
5. वही, पृष्ठ 60
6. वही, पृष्ठ 78

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री कुलदीप चन्द अग्निहोत्री
एम० ए० (हि०, राज० शास्त्र)
एल० एल० बी०
मुकन्दपुर (जालन्धर)

गुरु अंगद देव जी के काव्य में ब्रह्म साधना

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्तिकाल और रीतिकाल दो भागों में बांटा है। सम्वत् 1375 से लेकर 1700 तक भक्तिकाल और सम्वत् 1700 से लेकर 1900 तक रीतिकाल। आचार्य शुक्ल के सामने हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते समय अनेक कठिनाइयां थीं एवं उपलब्ध सामग्री का अभाव था। इसलिए अनजाने में अनेक ऐसे कवि रह गये हैं जिनका जिक्र शुक्ल जी के इतिहास में नहीं मिलता है।

जिन दिनों भारत के सामाजिक एवं साहित्यिक दोनों क्षेत्रों में भक्ति का बोलबाला था उन दिनों भारत के प्रायः हर भौगोलिक खण्ड में भक्ति के गीत गाये गये। पंजाब में भी गुरु नानक देव व उनके परवर्ती गुरुओं ने भक्ति-भावना से सरोबार काव्य की रचना की। इनमें से दो का, गुरु नानक देव का भक्तिकाल में और गुरु गोविन्द सिंह का रीतिकाल में, जिक्र तो आचार्य शुक्ल ने भी किया है। हमारा उद्देश्य शुक्ल जी पर आरोप लगाना नहीं परन्तु इतना तो कहना पड़ेगा कि शुक्ल जी ने इतिहास लिखते समय पंजाब के गुरु-कवियों से न्याय नहीं किया, जबकि इनका काव्य भक्तिकाल के बड़े से बड़े कवि से टक्कर लेने में समर्थ है। गुरु अंगद देव की भाव-विह्वलता की रसखान से तुलना की जा सकती है :

जिसु पिआरे सिउ नेहु तिसु आगै मरि चलीऐ।
धिग जीवणु संसारि ता के पाछै जीवणा ॥[1]

अन्तिम गुरु, गोविन्द सिंह को छोड़ कर बाकी सभी गुरुओं की वाणी, जिन्होंने वाणी रचना की है, आदि-ग्रन्थ में संकलित है। अब यह ग्रन्थ गुरुमुखी एवं देवनागरी दोनों लिपियों में उपलब्ध है। इन गुरुओं की काव्य रचना को हिन्दी साहित्य में उचित स्थान न दिया जाने का एक कारण यह भी हो सकता है कि पहले यह ग्रन्थ केवल गुरुमुखी लिपि में ही उपलब्ध था।

जहां तक इस ग्रन्थ की भाषा का सम्बन्ध है, वह मध्यकाल के अनुरूप खिचड़ी भाषा ही है। उसमें पंजाबी के शब्दों का बाहुल्य भौगोलिक प्रभाव के कारण ही है। भक्तिकाल के कवियों की भाषा को सन्त भाषा अथवा सधुक्कड़ी भाषा भी कहा जाता है। ....इस भाषा में पश्चिमी हिन्दी, ब्रज बोली, अपभ्रंश, तत्सम और तद्भव शब्दावली तथा स्थानीय प्रत्ययों का समावेश हुआ है। गुरु नानक को तो लम्बी यात्राओं का श्रेय भी प्राप्त है। इसलिए इनकी भाषा में विभिन्न प्रदेशों का स्थानीय प्रभाव दिखाई पड़ता है। उनकी वाणी में सिन्धी, लहंदा, ब्रज और अरबी, फारसी के शब्द पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। मुसलमान पीरों, फकीरों, योगियों और अन्य विश्वासी पंडितों से परिचर्चा के कारण उनकी रचना में योगियों की शब्दावली, तत्सम और धर्मसंस्कार शब्दावली और फिर पंजाब प्रदेश के वासी होने के कारण पंजाबी शब्दावली भी पाई जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा के मामले में जो बात एक गुरु कवि के बारे में सही है, वह लगभग सभी के बारे में सही है। अतः हम निस्संकोच कह सकते हैं कि आदि-ग्रन्थ हिन्दी का महाकाव्य है। हिन्दी के इसी महाकाव्य में हमारे विवेच्य कवि गुरु अंगद देव जी का काव्य संकलित है। अंगद देव जी ने यद्यपि परिमाण की दृष्टि से बहुत थोड़ी काव्य रचना की तथापि साहित्यिक दृष्टि से उसका अपना ही महत्त्व है। अंगद देव जी ने कुल 62 श्लोक रचे हैं। 2 श्लोक श्री राग की वार में, 12 वार माझ में, 14 आसा की वार में, 1 सोरठ की वार में, 11 वार सूही में, 7 रामकली की वार में, 1 मारु की वार में, 9 वार सारंग में और पांच श्लोक वार मल्हार में।

गुरु अंगद देव जी ने ब्रह्म-मिलन को मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य माना है। उसके बिना जीवन निष्फल मानना चाहिए :

निहफलं तसि जनमसि, जावतु ब्रह्म न विंदते।[4]
॥ सिरी राग ॥

परन्तु असल प्रश्न तो यह है कि ब्रह्म से मिलन कैसे हो ? अंगद देव जी के अनुसार यह सब गुरु-कृपा से ही हो सकता है। भारतीय संस्कृति एवं दर्शन में भी गुरु-महत्ता को सर्वत्र स्वीकारा गया है। गुरु ही मार्ग दर्शक है जो ब्रह्म से मिलन का मार्ग बतलाता है। गुरु-कृपा के बिना ब्रह्म-मिलन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। कबीर जी तो गुरु को गोविन्द से भी ऊंचा मानते थे।

गुरु गोबिन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पाय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोबिन्द दियो
मिलाय ॥

उपनिषदों में गुरु के साक्षात् हरि माना गया है :

गुरुदेव हरिः साक्षान्नान्य इत्यब्रवीच्छ्रुति ॥3॥ ब्रह्मविद्योपनिषद् (गुरु ही साक्षात हरि है, कोई अन्य नहीं)

योगवशिष्ठ में गुरु की महत्ता का वर्णन करते हुए लिखा है।

दुर्लभो विषयेत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनं।
दुर्लभो सहजोवस्था सदगुरोः करुणा विना ॥

(बिना गुरु के विषयों का त्याग दुर्लभ है, तत्त्व दर्शन दुर्लभ है तथा सहजावस्था का प्राप्त होना भी दुर्लभ हैं।)

गुरुपदेशशास्त्रार्थे विना चात्मा न बुध्यते।
एतत्संयोगसत्तैव स्वात्मज्ञान प्रकाशिनी ॥

(शास्त्र अध्ययन एवं गुरु के उपदेश के बिना आत्म-ज्ञान नहीं होता। अधिकारी, जिज्ञासु, शास्त्राध्ययन एवं सद्गुरु इन तीनों के संयोग से ही आत्मज्ञान प्रकाश में आता है।)

गुरु अंगद देव जी ने भी गुरु-महत्ता पर बल दिया है। सैंकड़ों चन्द्रमा और हज़ारों सूर्य मिल कर भी प्रकाश करते रहें लेकिन गुरु के बिना घोर अन्धकार ही रहता है :

जे सउ चंदा उगवहि सूरज चड़हिं हज़ार।
एते चानण होंदिया गुरु बिनु घोर अधार ॥
—आसा की वार ॥[5]

अथवा

गुरु कुंजी पाहू निवलु मनु कोठा तनु छति ॥
नानक गुरु बिनु मनु का ताकु न उघड़े,
अवर न कुंजी हाथु ॥मारु वार ॥[6]

गुरु साधक का मार्ग दर्शक है। उसे कुमार्ग से बचाता है। विचलित या चंचल मन को संयम में रखता है। लक्ष्य से भटकने नहीं देता। उसे सांसारिक वृत्तियों एवं कामनाओं से परे मोड़ता है और उसकी लगन ब्रह्म की ओर निरंतर लगाये रखता है। ब्रह्म-मिलन का पथ लंबा है। बाधाएं अनेक हैं। वे साधक को बीच में रोकतीं है। सांसारिक प्रलोभन अपनी और आकर्षित करते हैं। "डगमगाय तो गिरी परे" वाली स्थिति हो जाती है। निश्चलता अत्यावश्यक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सबसे बड़ी बाधा 'हउमै, या अहं की है। हउमै, बंधन भी है और बंधन से छुटकारे का मार्ग भी। प्रश्न तो गुरु-कृपा का है :—

हउमै एहा जाति है हउमै करम कमाहि।
हउमै एई बंधना फिरि फिरि जे मनि माहि।
हउमै किथहु ऊपजै किंतु संजमि रह जाइं।
हउमै एहो हुकमु है पइए किरति फिराहि।
हउमै दीरघ रोगु है दारू भी इसु माहि।
किरपा करे जे आपणी तो गुरु का सबदु कमाहि ।। आसा दी वार ।।[7]

गुरु-कृपा से 'हउमै' से तो छुटकारा मिल गया। अब प्रश्न है मन के धवल-पक्ष के प्रकट होने का। मनुष्य का मन ही तो सब का नियन्ता है। कुकर्मों का भी और सुकर्मों का भी। गुरु-कृपा हो जाय तो मन का कृष्ण-पक्ष अवचेतना में ही दब जाता है और धवल-पक्ष प्रकट हो जाता है, जो साधना में सहायक है।

रतना केरी गुथली रतनी खोली आई।
वखर ते वणजारिया दुहा रही समाई।
जिन गुण पलै नानका माणक वणजहि सेइं —।। रामकली ।।[8]

साधना में जप, तप का भी अत्यन्त महत्त्व है लेकिन जप-तप की सार्थकता भी गुरु-कृपा से ही संभव है।

जपु तपु सभु किछु मनिउ अवरि कारा सभि वादि।
नानक मनिश्रा मनीऐ बुझीए गुरु प्रसादि ।। रामकली ।।[9]

वास्तव में गुरु एक ऐसा सेतु है जिस पर से गुजर कर आत्मा और परमात्मा का द्वैत समाप्त हो जाता है।

जब तक ब्रह्म मिलन नहीं हो जाता तब तक साधक विरह में जलता रहता है। उसके लिये प्रकृति दग्ध करने वाली बन जाती है। संसार की कोई वस्तु उसे अच्छी नहीं लगती। साधक ब्रह्म-मिलन के लिए व्याकुल है। कबीर ने अपने स्वामी अथवा ब्रह्म को 'भर्तार कहा था। गुरु अंगद देव जी उसे 'कंत' कहते है।

नानक तिना बसंतु है
जिन्हीं प्यार वसिया कंतु
जिनके कंत दिसापुरी
अहिनिसि फिरहि जलंत ।। वार सूही ।।[10]

वास्तव में साधना में विरहावस्था भी अत्यंत आवश्यक है। विरह से ही तो साधक के मन में ब्रह्म से मिलने की ललक बढ़ती है। वह उसी के विचार में बेचैन रहने लगता है। निशि-दिन ब्रह्म की ओर सुध लगी रहती है। विरह की भट्ठी में तपने के बाद साधक सोने से कुंदन बनकर निकलता है। गुरु अंगद देव जी विरह की इसी महत्ता को स्थापित करते हुए कहते हैं :

जो सिरू सांई ना निवै सो सिरु दीजै डारि।
नानकु जिस पिंजर माहि विरहा नहीं सो पिंजरा लै जारि ।।सिरी राग ।।[11]

जब तक कंत से मिलन नहीं हो जाता तब तक भला साधक को चैन कहां आ सकती है? वह जल-विहीन मीन की भाँति तड़पता है। ब्रह्म-मिलाप के बिना साधक, आँख और कान होते हुए भी अंधा और बहरा है।

अंधे एहिन आँखीअनि जिन मुखि लोइण नाहि।
और सेई नानका खसमहुं घुथे जाहि ।। रामकली की वार ।।[12]

सावन की ऋतु आ गई है। विरहाग्नि त्वरित हो गई है। स्वामी घर पर नहीं है। पल-पल बिताये नहीं बीतता। सौभाग्यशालिनी हैं वे जिन के 'कंत' घर पर हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सावण आइया हे सखि जलहरु बरसण हारु ।
नानक सुखि सवनु सोहागणी जिन्ह पति नाल पिआरू ।।

परन्तु साधक तो विरह-अग्नि में झुलस रहा है ।

सावण आया हे सखि कंते चिति करेहु ।
नानक झूरि दोहागणी जिन्ह अवरी लागा नेहु
।। वार मल्हार ।।[13]

साधक ने तो 'पर' या 'अवर' का ध्यान भी हटा दिया है ।' कंत, में चित्त भी लगा लिया है। ब्रह्म-मिलन फिर नहीं हो रहा । अनेक बार तो भ्रान्ति भी हो जाती है। पथ का भटकाव हो सकता है । साधक साधना के प्रकाश को ही ब्रह्म-ज्योति समझ कर वहीं लक्ष्य-सिद्धि मान सकता है। अतः गुरु अंगद देव जी सामयिक चेतावनी देते हैं—

मिलिऐ मिलिआ ना मिलै मिलै मिलिया जे होइ ।
अतर आतमै जो मिलै मिलिआ कहीए सोई
।। वार सूही ।।[14]

ब्रह्म से मेल तभी हो सकता है यदि आँखों के आगे छाया हुआ माया, मोह, लोभ, अहंकार, क्रोध एवं सांसारिकता का कोहरा छंट जाये, अन्यथा बार-बार के प्रयास भी निष्फल हो जायेंगे ।

नानक अंधा होई कै रतना परखण जाई ।
रतना सार न जाणई आपै आप लखाइ
।। वार सूही ।।[15]

ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए अपना सर्वस्व नष्ट करना पड़ता है । 'आपा' समाप्त करके उस प्रभु की सेवा में लीन होना पड़ता है ।

"आप गंवाई सेवा करे ता किछु पाए मानु"
।। आसा दी वार ।।[16]

अन्त में अंगद देव जी कहते हैं कि स्वामी से मिलाप होता है :

भै के चरण, कर भाव के, लोइण सुरति करेइ ।
नानक कहै सिआणीए इव कंत मिलावा होई
।। सिरी राग ।।[17]

'कंत', अथवा स्वामी से मेल हो गया है। सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है । द्वैत-भावना नष्ट हो गई। कबीर की 'फूटा कुंभ, जल में जल ही समाना', वाली आदर्श-स्थिति आ गई है।

अंगद देव जी का उद्देश्य 'कंत-मिलावा था, किसी दर्शन विशेष का खंडन मंडन नहीं । वे तो भाव विह्वल हो कर अपने पथ पर अग्रसर थे । रास्ता छोड़ कर इधर-उधर भटकने का न तो उनके पास समय था और न ही जरूरत । अंगद देव जी की वाणी की महत्ता इस में है कि उन्होंने अपने उदारत्त-दर्शन को जन-भाषा में जन-सुलभ कराया ।

---

1. वाणी गुरु अंगद देव जी (1970) भाषा विभाग, पटियाला पृ० 14
2. वाणी गुरु अंगद देव जी (उपर्युक्त) पृ० 16
3. वही पृ० 16
4. वही पृ० 19
5. वही पृ० 16
6. वही पृ० 18
7. वही पृ० 18
8. वही पृ० 18
9. वही पृ० 14
10. वही पृ० 19
11. वही पृ० 21
12. वही पृ० 18
13. वही पृ० 18
14. वही पृ० 17
15. वही पृ० 14

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री दिलजीत दिव्यांशु
अनुसन्धित्सु, हिन्दी विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़

व्यष्टि अथवा समष्टि : अनिर्णय की स्थिति

(नरेश मेहता कृत 'संशय की एक रात' का मिथक-शास्त्रीय अध्ययन)

मिथकों का आश्रय पाकर कवि नित्य नया सृजन करता रहा है और यह प्रक्रिया, जब तक साहित्य-सृजन होता रहेगा, प्रयुक्त की जाती रहेगी। इतिहासकार एक व्यक्ति-विशेष का विवरण काल-क्रम-बद्ध-रूप में संजोकर उसे एक विशिष्ट काल-खण्ड (जन्म से मृत्यु-पर्यन्त) की सीमा में बान्ध देता है। वह व्यक्ति-विशेष एक विशिष्ट समय के काल-चक्र से परिचालित होता है। उसकी संगति अन्य काल खण्डों में बैठा पानी आवश्यक नहीं, किन्तु मिथकीकरण की प्रक्रिया के द्वारा कवि अथवा साहित्यकार उस व्यक्ति विशेष को 'व्यक्ति विशेष' न रखकर एक सार्वकालिक व्यक्ति बना देता है। उसकी इस प्रक्रिया से काल-सीमा में बद्ध व्यक्ति मिथक के सोपानों पर सवार होकर कालमुक्त हो जाता है। वह व्यक्ति किसी काल-विशेष का व्यक्ति नहीं अपितु समग्र कालों में हो सकने वाला व्यक्ति बन जाता है। मिथक-स्रष्टा यह कदापि नहीं दर्शाता कि अमुक व्यक्ति अथवा पात्र ऐसा था अपितु उसकी कृति से उस व्यक्ति का सम्भाव्य व्यक्तित्व ही उद्-घाटित होता है। दाशरथि राम वाल्मीकि रामायण में एक इतिहास-पुरुष के रूप में हमारे समक्ष आते हैं किन्तु बाद के साहित्य में वह विभिन्न परि-कल्पनाओं से मण्डित व स्नात् कितने ही रूपों में प्रकट होते हैं। भवभूति के 'राम', 'अध्यात्म रामायण' के 'राम', तुलसी के 'राम', हरिऔध व मैथिलीशरण गुप्त आदि-आदि के 'राम' निरन्तर परिवर्तित रूपों में प्रकट हुए हैं परन्तु प्रत्येक कृतिकार ने उन पर कालजेयता को आरोपित कर उन्हें सार्वकालिक रूप प्रदान करने का अनुक्रम किया है। यही अनुक्रम राम को मिथकीय रूप प्रदान करता रहा है।

महाकवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने राम के अन्तस मन में संशय को जागृत कर उन्हें आज के यान्त्र-युगीन यन्त्रणाग्रस्त राम के रूप में प्रस्तुत किया है? वहां राम स्वयं निराला ही नहीं अपितु कोई भी सामान्य व्यक्ति हो सकता है। यही आवृत्ति एक अदभुत एवं नवीन रूप में श्री नरेश मेहता ने अपने लघु काव्य-नाटक 'संशय की एक रात' में की है। यहां राम एक ओर तो वही दाशरथि राम हैं जो हमें परम्परा से मिले हैं, किन्तु कवि ने मिथकीकरण की प्रक्रिया से दाशरथि राम को 'दाशरथि राम ही' नहीं रहने दिया है। दाशरथि राम तो सर्व-शक्ति-सम्पन्न निर्भीक एवं संशय-रहित मर्यादा पुरुषोत्तम ही नहीं अपितु साक्षात् ईश्वर के अवतार हैं किन्तु श्री नरेश मेहता की मिथकीय परिकल्पना ने राम पर संशय का आरोपण कर राम को काल की परिधि से निकाल एक सामान्य-व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है जो कि किसी भी काल में अवस्थित हो सकता है। संशय-वृत्ति साधारण एवं सहज मानवीय वृत्ति है। यही कारण है कि औपनिषदिक साहित्य में संशय की विशिष्ट विवेचना की गई है। जहां एक ओर संशय मानव-मात्र को अकर्मण्य बना देता है वहां

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह दूसरी ओर मानव को कर्मठता के सोपानों की ओर ले जाकर सफलता के किवाड़ की ताली भी थमा देता है। यदि मानव मन केवल मात्र संशयाश्रित ही है तो वह रुग्णावस्था को प्राप्त है ऐसी अवस्था में वह अपकर्ष की ओर अग्रसर होता है। किन्तु यही संशययुक्त मन उसे कर्मण्यता के सोपानों की ओर ले जाता है तो मानव निश्चय ही सफलता को प्राप्त होता है। यहां संशय के मिथकारोपण द्वारा श्री नरेश मेहता ने हमें दूसरी स्थिति का अवलोकन करवाया है जो कि स्वस्थ मानसिकता का चिह्न है।

यहां रामकथा के अन्य पात्र—लक्ष्मण, हनुमान, विभीषण आदि और छाया-मात्र दशरथ आदि राम की विभिन्न मनस्थितियों को प्रकट करते हैं जो उसके संशययुक्त चेतन-मन को बार-बार सत्य का साक्षात्कार करवाना चाहती हैं। सीता पर स्वत्वों का आरोपण कर कवि ने स्वतन्त्रता का मिथकीकृत किया है। यहां सीता मात्र राम की पत्नी नहीं अपितु वह स्वत्वों एवं अधिकारों के सम्पुट की संवाहिका है, यदि उसका (सीता-स्वतन्त्रता का) अपहरण हो जाता है तो मानव (राम) के लिए जीवन जी पाना एक यन्त्रणा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं रह जाता है।

राम का चेतन मन जागरूक है—युद्ध के परिणामों के प्रति और युद्ध के अपेक्षित-अनपेक्षित परिणाम उसके संशयों को बढ़ावा देते हैं किन्तु उसका अन्तर्मन इन सभी संशयों का निवारण कर उसे कर्मण्यता के पथ पर परिचालित करने में सतत प्रयत्नशील है। कभी तो वह लक्ष्मण, सुग्रीव, विभीषण और हनुमान आदि के रूप में प्रकट होते हैं तो कभी दशरथ की छाया के रूप में प्रकट होकर उसके (राम के) संशयों की निवृत्ति करते हैं। अन्ततः संशय-निवृत्त हो कर राम (मन) निर्णय की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। युद्ध के प्रश्न पर अनिर्णीत मन पर निर्णीत मन की विजय होती है। यही विजय कवि की सफलता की द्योतक है।

अतः 'संशय की एक रात' के राम मात्र एक इतिहास-पुरुष नहीं है अपितु मिथकीकृत होकर अधुनातन यान्त्रिक युग के यन्त्रणाग्रस्त मानव के रूप में चित्रित हुए हैं।

महाप्राण निराला ने 'देवी भागवत' के कथानक को आधार बनाकर "राम की शक्ति पूजा" की रचना की थी।[2] किन्तु 'देवी भागवत' के राम तथा 'राम की शक्ति पूजा' के राम में एक अन्तर विशेष का आरोपण निराला ने किया जिसके परिणामस्वरूप निराला के अपने संशय एवं तात्कालिक समाज की संशयवृत्ति का आरोपण राम पर हुआ है। शक्ति के मिथकीकरण के कारण अन्ततः राम की शक्तिपूजा सफल सिद्ध हुई। संभवतः श्री नरेश मेहता ने भी स्थितियों से अपने को एवं अपने समाज को आवृत्त होते अनुभव कर और युद्ध के अतंक को फैले देख रामकथा को लेकर एक सामान्य संशयवादी व्यक्ति की मनस्थिति को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। इसमें भारत तथा मानवीय अस्तित्व से सम्बद्ध युद्ध की समस्या के विभिन्न सन्दर्भ एक विवेकशील एवं प्रज्ञासम्पन्न महामानव के संशय के रूप में अंकित हुए हैं। इस कृति का समग्र परिवेश नवीन भावभूमियों एवं नवीन भावबोध से सम्पृक्त है। युद्ध की मूल समस्या के नवीन भावनात्मक सन्दर्भ हैं, युगीन प्रश्नों पर नये ढंग से विचार किया गया है। यही विचार आज की कवि-प्रज्ञा की नियति है कि वर्तमान की समस्त विसंगतियों अथवा विरोधाभासों को किसी मिथक-नायक अथवा महामानव में आरोपित किया जाए।

प्रबन्ध काव्य में जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है एक रात की कथा का विवरण है। इस संशय-धर्मा कथा को कवि ने चार सर्गों में विभक्त किया है, 'साँझ का विस्तार और बालूतट' शीर्षक प्रथम सर्ग में राम रामेश्वरम के बालूतट पर अपनी स्मृतियों में खो गए हैं। वह अपनी नियति और अदृष्ट नियमन के प्रश्नों में खोये हुए हैं।[3] अपनी जीवन-संगिनी जनकनन्दिनी को ध्यान करते समय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्हें अपने प्रथम परिणय की स्मृति घेर लेती है।[4] तभी लक्ष्मण पम्पा की सैनिक सहायता की उपलब्धि सम्बन्धी समाचार देते हैं और सुग्रीव को वार्तालप हेतु आमन्त्रित करते हैं।[5] वह लक्ष्मण को स्वयं ही वार्तालाप कर लेने का दायित्व सौंप कर पुन: उन्हीं विचारों में खो जाते हैं। वह लक्ष्मण से चाहते हैं कि वे सब जगत् के मिथ्यात्व के लिये इतिहास के बाण बनने की अपेक्षा अन्धेरों में ही यात्रा करते हुए खो जाएं।[6] सम्भावित युद्ध को औचित्य देना छल है। लक्ष्मण का मन राम की इस स्थिति के कारण विकल है। राम पुन: समझाते हैं कि द्वन्द्व का कारण है नियति के दारुण आयोजनों में उनका साधन बन जाना। उन्हीं के कारण सीता और लक्ष्मण वनों में भटके, सीता का हरण हुआ, जटायु की मृत्यु हुई, अंगद उपेक्षित हुए, हनुमान देह दाही और उर्मिला सी देवी विरहिणी बनी, माताएं वैधव्य को प्राप्त हुईं। एक व्यक्ति की नियति सभी के लिए अभिशाप बन गयी। इसी तरह युद्ध के अनौचित्य को दर्शाते हुए राम पुन: विचार-निमग्न हो जाते हैं।[7] 'बर्षा भीगें अन्धकार का आगमन' शीर्षक द्वितीय सर्ग में लक्ष्मण, राम को अकेला सिन्धु तट पर छोड़ कर हनूमान को साथ लेकर विभीषण के शिविर-द्वीप की ओर चले जाते हैं। क्षुब्ध मनस्थिति में राम एक बुर्जी पर आकर खड़े हो जाते हैं। तभी नील आकर सूचना देते हैं कि पूर्व दिशा के सेतुबन्ध के पीछे उन्हें दीपक की लौ की तरह एक अस्पष्ट एवं अदृश्य की छाया दिखाई दी है। उस माया की छाया का मन्त्रसिक्त बाण भी किसी अहित का द्योतक न हो! लगता है वह छाया किसी को खोज रही है। राम छाया की सूचना पाकर नील को लक्ष्मण को बुला लाने की आज्ञा देते हुए स्वयं उस छाया की ओर चलने का उपक्रम करते हैं। निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचते ही जामवन्त आदि सामन्त उनका अभिवादन करते हैं और उन्हें बतलाते हैं कि छाया अभी-अभी ईशान कोण की ओर गई है।[8] तभी बिजली चमकी है और कंगूरों के ऊपर छाया दिखाई देती है। राम छाया की ओर बढते हैं सशस्त्र सामन्त उनका अनुकरण करते हैं। राम छाया से उसके घूमने का प्रयोजन पूछते हैं।[9] छाया के अंक में जैसे एक पक्षी फड़-फड़ाने लगता है। राम पुन: छाया से अपने प्रश्न का उत्तर चाहते हैं और साथ ही सचेत करते हैं कि यदि छाया ने उनके प्रश्न का उत्तर नहीं दिया तो वह मन्त्रों द्वारा बांधकर उसे आकाश में ही स्थिर कर देंगे। इस पर छाया राम से कहती है कि वह अकेले ही उसके (छाया के) साथ जाएं। राम सभी को वहां से जाने का निर्देश देकर स्वयं उस छाया का अनुसरण करते हैं। छाया उन्हें बतलाती है कि वह उनके पिता दशरथ की आत्मा है। उनके फड़फड़ाने वाला पक्षी, जटायु की आत्मा है। दोनों उनके अग्निदाह से प्रसन्न हैं और उनका कल्याण चाहते हैं। पश्चाताप करते हुए राम से दशरथ की आत्मा कहती है कि परि-स्थितियों के वक्ष पर चरण धर उन्हें अपने अनुकूल बनाएं और किसी भी प्रकार के संशय को धारण न करें।[10] पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म बस एक महाप्रक्रिया ही हैं। राम इस पर भी संशय-ग्रस्त रहते हैं। तब जटायु की आत्मा (छाया) उन्हें बतलाती हैं कि प्रकृति के महानियम के सम्मुख उनकी शंकाएं व्यर्थ हैं। अन्ततः दोनों छायाएं उन्हें असत्य से लड़ने का उपदेश देकर आकाश में विलुप्त हो जाती हैं। 'मध्य-रात्रि की मंत्रणा और निर्णय' संज्ञक तीसरे सर्ग में राम अपनी युद्ध-परिषद् से मन्त्रणा करते हैं। सभी श्रमित तथा चिन्तित अवस्था में दिखाई देते हैं। लक्ष्मण परिषद् को सम्बोधित करते हुए स्वयं को समग्र दारुण आयोजनों का कारण मानने की राम की सोच पर विचार करने का आग्रह करते हैं। हनुमान ऐसी सोच एवं राम के संशय को निराधार प्रमाणित करते हुए सबको बतलाते हैं कि सीता का हरण हम सब साधारण-जनों की स्वतन्त्रता का अपहरण है जो अपने अधिकारों के लिए अन्याय के विरुद्ध संघर्षरत हैं। इसी तरह सुग्रीव और विभीषण भी युद्ध के औचित्य का प्रतिपादन करते हैं। राम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभी के मन्तव्यों का समाधान करना चाहते हैं, किन्तु अन्त में सभा के मन्तव्य को मानते हुए अपनी भी मौन तथा चिन्ता-मग्न स्वीकृति दे देते हैं।[11] 'संदिग्ध मन का संकल्प और सवेरा' शीर्षक चौथे सर्ग के प्रारंभ में सेना के अभियान एवं पार्थिव पूजन की तैय्यारियों की सूचना है। राम युद्ध के इस निर्णय को अपना नहीं सबका निर्णय स्वीकारते हैं। मौन-शक्तिमान उनका मुख सूर्योदय को देख रहा है। मुख पर तनाव कम हो गया है। इसी स्थिति में उनके जयजय-कार की प्रसन्न ध्वनियों के मध्य विराट् एवं विस्तीर्ण सूर्योदय के साथ संशय की यह रात समाप्त हो जाती है।

यहां मिथक तत्त्व कथा की पृष्ठ भूमि में है किन्तु श्री नरेश मेहता ने इसे नव्यतम रूप देते हुए इसका पुनर्सृजन किया है। राम द्वारा सेतुबन्ध एक मिथक-घटना है, इस बन्ध के उपरान्त आदि-कवि वाल्मीकि से लेकर मैथिलीशरण गुप्त तक के राम-विषयक काव्य-ग्रन्थों में राम-रावण संग्राम प्रारंभ हो जाता है किन्तु कवि श्री नरेश मेहता ने सेतुबन्ध और युद्ध के बीच के अन्तराल को ही अपने कथा-सन्धान हेतु चुना है। इस कथा की मौलिकता यह है—'यह अन्तरीय मन का स्थल तो है ही किन्तु दशरथ और जटायु की आत्माओं के नाटकीय अवतरण का आयोजन नितान्त नवीन एवं मौलिक उद्भावना है। दशरथ ने राम-वियोग में प्राण त्याग दिए हैं, जटायु ने सीता-हरण समय सीता की रक्षा हेतु, रावण के साथ युद्ध करते हुए, प्राण त्याग दिए हैं और राम ने स्वयं उनका अन्तिम संस्कार किया है। रावण-वध और सीता की अग्नि-परीक्षा के उपरान्त राजा दशरथ की आत्मा राम को अपना आशीर्वाद देने के लिए आती है और महादेव शंकर राम को दशरथ के प्रति प्रणाम करने का आदेश देते हैं। तदुपरान्त निर्मल वस्त्र धारण किए अपनी दिव्य-शोभा से देदीप्यमान विमानासीन राजा राम की प्रशंसा करते हैं तथा राम की प्रार्थना पर कैकेयी के प्रति अपने मरण से पूर्व कहे गए शब्दों "मैं पुत्र सहित तुम्हारा परित्याग करता हूं"[12] को वापिस लेते हैं और पुनः वापिस देव लोक को चले जाते हैं। तुलसी ने भी वाल्मीकि का अनुसरण करते हुए दशरथ द्वारा राजा राम को आशीर्वाद दिलवाया है। तुलसी ने इस संदर्भ का कारण भी प्रकट किया है। रामचरित-मानस के अनुसार प्राण-त्याग करते समय राजा दशरथ का मन राम के ध्यान में लगा था, इसी कारण उनकी मुक्ति नहीं हुई। जब प्रभु ने उन्हें अपने स्वरूप का दृढ़ ज्ञान करवा दिया और वह मग्न हो गए। सगुणोपासक मोक्ष नहीं चाहते, अतः राम उन्हें अपनी भक्ति प्रदान करते हैं, राम की इसी भक्ति को प्राप्त कर उन्हें इष्ट-देव-भाव से बार-बार प्रणाम करते हुए दशरथ पुनः देव लोक को चले जाते हैं।[13] इस प्रकार वाल्मीकि और तुलसी ने दशरथ का राम द्वारा रावण-विजयोपरान्त आगमन दर्शाया है; युद्ध पूर्व सेतुबन्ध के समय पर नहीं। श्री नरेश मेहता ने यह आगमन द्विधाग्रस्त राम को युद्ध के औचित्य के प्रति निश्चित एवं निर्णीत अवस्था पर पहुंचाने के लिए आयोजित किया है। पूर्ववर्ती राम काव्यों में मात्र दशरथ ही की आत्मा का आगमन दर्शाया गया है जबकि श्री नरेश मेहता ने साथ जटायु की आत्मा को भी आगमित किया है। इसके साथ ही दोनों का आत्मा रूप में आगमन भी श्री नरेश मेहता की ही उद्भावना है।

'संशय की एक रात' के मिथक-राम का संशयग्रस्त होना तथा दशरथ एवं जटायु की आत्माओं का आगमन अपने मूल उत्स से बहुत परे की बात है। जैसा कि हम पहले भी कह आए हैं कि वाल्मीकि रामायण, देवी भागवत तथा तुलसी के राम कहीं भी संशयग्रस्त नहीं होते, किन्तु निराला-कृत 'राम की शक्ति पूजा' के राम को शक्ति का रावण-पक्ष में होने का संशय स्थिरचित्त नहीं होने देता। यह संशय उन्हें बार-बार झिझोड़ता है। यह संशय विजय की समस्या को निज में समाहित किये हैं जबकि 'संशय की एक रात' में राम का संशय युद्ध-विजय नहीं अपितु युद्ध की विभीषिका तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके बीभत्स परिणाम तथा निज का इस समस्त युद्ध-काण्ड का निमित्त बनना संशय का कारण है। 'राम की शक्ति पूजा' में रावण-सेना का युद्ध में विजय पाते चले जाना संशय का कारण बनता है। वहां समस्या 'युद्ध' नहीं अपितु 'युद्ध-विजय' की है। 'राम की शक्ति पूजा' के राम एक विराट् व्यक्तित्व को निज में संयोजित किए हुए हैं जो कि शक्ति-पूजा के द्वारा विजयाशीष प्राप्त कर अपनी विजिगीषा को परितृप्त करना चाहते हैं। उनकी यही विजिगीष-तृप्ति उनके विराटत्व को सुरक्षित रख सकती है, किन्तु 'संशय की एक रात' के राम किसी विराटत्व के हेतु युद्ध लड़ना नहीं चाहते अपितु नर संहार के लिए 'हेतु' बनना उन्हें स्वीकार नहीं है। वह तो स्वयं को दशरथ, जटायु,अंगद, भरत, उर्मिला, लक्ष्मण, हनुमान आदि के दु:ख का हेतु मानते हैं।[14] वह इन सभी के अभिशप्त होने के कारण ही संशयग्रस्त हैं। एक व्यक्ति इतने बड़े युद्ध का आयोजन करे एवं उसमें होने वाले समस्त नर-संहार का कारण केवल एक व्यक्ति ही हो, यही राम को अनुचित प्रतीत होता है। यह प्रतीति ही आज समस्त मानव-जगत् की प्रतीति बन चुकी है। समस्त विश्व का मानव-समाज दूसरे विश्व-युद्ध से सन्त्रस्त होने के उपरान्त निरन्तर युद्ध को निवारित करने के लिए हीं प्रयत्नरत है। उसकी यही पीड़ा राम के संशय में आरोपित हैं।

यहाँ सीता मात्र राम की पत्नी ही नहीं अपितु साधारणजन की प्रतीक है। प्रतीक स्वतन्त्रता की, जिसका रावण ने हरण कर लिया है।[15] मानव समाज की स्वतन्त्रता का बोध ही तो अन्य जनों को परिबोधित करता है कि वे राम को युद्ध के लिए तैयार करें, युद्ध के औचित्य को स्थापित करें। व्यक्ति-स्वतन्त्रता निज में शाश्वतता को संयोजित किये हुए है। यदि एक व्यक्ति किसी की स्वतन्त्रता का हरण कर सकता है तो यह उस व्यक्ति के लिए नितान्त आवश्यक है। जिसकी स्वतन्त्रता का हरण हुआ है कि वह उसे पुनः प्राप्त करे और उसकी रक्षा करे। निजी स्वत्वों की रक्षा ही तो मानव का लक्ष्य है, जिसके बिना वह पंगु है। यदि एक समाज की स्वतन्त्रता का हरण किया जाता है तो उसी समाज का यही कर्त्तव्य है कि वह खोयी हुई स्वतन्त्रता को पुनः प्राप्त कर उसके रक्षण-हेतु शत्रुपक्ष को परास्त करे। यह जैविक मूल्य ही उसे स्वत्वों के साथ जीने देंगे अन्यथा उसकी लघुता लघुतम हो उसे विनष्ट होने के लिये विवश कर देगी। जीवन का जैविक संघर्ष (सट्राग्ल फॉर एग्ज़िस्टेंस) का सिद्धांत भी तो यही प्रकटाता है।

दशरथ एवं जटायु की आत्माओं का नल, नील एवं जामवंत आदि सामंतों को दिखाई देना सामाजिक मनोविज्ञान पर अवलम्बित है। संघर्षरत व्यक्ति का मानस आशंकाओं से ग्रस्त हो जाता है। जबकि नेता किसी संशय से अभिभूत हो तो वे अनिष्ट की आशंकाओं से ग्रस्त हो जाया करते हैं। ऐसे अवसर पर किसी अलौकिक वस्तु का दीखना संशयी एवं शंकित मानसिकता की परिणति है। एक व्यक्ति जब उस अप्राकृतिक वस्तु को देखता है तो दूसरे को बतलाता है, दूसरा व्यक्ति भी उन्हीं अवस्थाओं से घिरा होने के कारण वही कुछ देखता है और इस तरह वह दृश्य व्यक्ति-सापेक्ष न होकर समष्टि-सापेक्ष हो जाता है। स्थिति-विशिष्ट एवं समय-विशिष्ट पर हर उस व्यक्ति को वही कुछ दृष्टिगोचर होगा जो उसके मानस-पटल पर पूर्वद्रष्टा के विवरण के कारण अंकित हो चुका है और फिर उस अप्राकृतिक दृश्य का प्रभाव प्रत्येक मानव पर उसकी अपनी मन:स्थिति के अनुरूप ही दिखाई देता है। अवचेतन मन की स्थितियाँ एवं उसकी निजी चिन्तनाएं ही दृष्टिगत होती हैं। यहाँ राम संशय-ग्रस्त है। वह केवल अपने ही स्वत्वों की खातिर युद्ध नहीं लड़ना चाहते, किन्तु उनके सामन्त अपने नेता अथवा शासक को विजय-श्री प्राप्त करवाना चाहते हैं। ऐसी अवस्था में इशान दिशा की ओर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी ज्योतिर्मयी वस्तु का दीखना उनके मानस को उद्वेलित करता है। वह इसे रावण की माया होने की सम्भावना बतलाते हैं[16] जिसके पीछे कोई छल हो सकता है। शत्रु का आतंक किसी अप्राकृतिक वस्तु में आरोपित हुए पाना सहज मानस की ही स्थिति है। जब कोई भी अप्राकृतिक वस्तु कोई व्यक्ति देखता है और उस समय जबकि वह किसी शत्रु से आंतकित है, ऐसे अवसर पर उस अप्राकृतिक वस्तु के पीछे शत्रु की किसी नीति की आशंका करना स्वाभाविक है। यही मानसिक अवस्था नल, नील एवं जामवन्त आदि की है। किन्तु इधर राम के अवचेतन में दशरथ एवं जटायु की मृत्यु का स्मरण भी है। जटायु सीता की रक्षा करते-करते घायल होकर गिर जाता है। वह सीता को छुड़ा नहीं पाता किन्तु जब तक घायल होकर गिर नहीं जाता, उसकी शक्ति क्षीण नहीं हो जाती, वह रावण के साथ युद्ध करता है। राम ने यह समस्त विवरण स्वयं जटायु के मुख से सुना है और उसका अन्तिम संस्कार भी किया है। उनके अवचेतन में जटायु की मृत्यु भी अंकित है। जब वह उस अप्राकृतिक दृश्य को देखते हैं तो उन्हें उस ज्योति में एक स्पष्ट छाया दिखाई देती है। राम का अवचेतन उस छाया की समस्या का समाधान करता है। राम को छाया में दशरथ की आत्मा दिखाई देती है। दशरथ की गोद में उसके मित्र जटायु की आत्मा है। यहाँ राम के अवचेतन में विजिगीषा मुखरित होती है। राम का मानसिक द्वन्द्व राम के दशरथ की आत्मा के साथ वार्तालाप से प्रकट होता है। राम का चेतन चाहे कितनी ही बार क्यों न अन्य विकल्प प्रस्तुत करे-कि एक अकेले व्यक्ति की पत्नी एवं एक अकेले व्यक्ति के कष्टों के लिए किसी युद्ध का आयोजन न किया जाए, किन्तु उनके मन के किसी एक कोने में शत्रु को परास्त कर सीता को मुक्त करवाने की प्रबल इच्छा भी अपना अंकुर लिए हुए है। यही मानस-अंकुर दशरथ एवं जटायु की आत्माओं के मिथक को सार्थकता प्रदान करता है। यह मिथक रूप ही राम के संशय के निवारण का हेतु बनता है और परिस्थितियों से जूझने के लिए कटिबद्ध कर युद्ध के औचित्य को बल देता है।[17] इसी मानसिक संघर्ष का प्रतिफल राम को लक्ष्मण, हनूमान आदि के प्रस्ताव मानने पर विवश करता है। अवचेतन में स्थित विजिगीषा ही संघर्ष के लिए राम को उद्यत करती है। लक्ष्मण, हनुमान एवं विभीषण आदि के प्रस्ताव निश्चय ही राम के चेतन मन की संशयग्रन्थि को खोल देते हैं।

शाश्वत समस्याओं को लेकर चलते हुए मिथक नित्य ही निज में एक शाश्वतता संजोए रहते हैं। काल-विशेष पर अवलंबित होते हुए भी वह काल-विशेष में आबद्ध नहीं रहते अपितु काल की समस्त सीमाओं का अतिक्रमण कर सार्वकालिक बन जाते हैं। उनका काल, कालविशेष न होकर महा-काल हो जाता है। वह सदैव समकालीन ही प्रतीत होते हैं। प्रतिपल, प्रतिक्षण अपनी ताजगी को प्रकट करते हैं। यहाँ दशरथ और जटायु की आत्माओं का मिथक भी निज में एक ताजगी लिए हुए है—प्रेतात्माओं के प्रति विश्वास मानव की आदिम प्रवृत्ति है जो कि मानव के अवचेतन में कहीं न कहीं स्थान बनाए हुए हैं। दूसरे—मानव के अवचेतन में उसकी समस्याओं के समाधान के औचित्य की तार्किक संगतियाँ भी उसे नित्य उद्वेलित करती हैं। बाह्य परिस्थितियों से ग्रस्त होते हुए भी उनसे छुटकारा पाने की इच्छा उसे कचोटती रहती है। दशरथ की आत्मा के अवतरण की घटना मात्र एक पात्र-राम के जीवन की घटना ही नहीं रह जाती। यहाँ तो भावक अथवा पाठक राम के साथ साधारणीकृत हो जाते हैं और राम का संशय इस शक्ति-सन्तुलन की होड़ में लगे मानव-समाज का नित्य का संशय हो जाता है और निरन्तर की परिणति को प्राप्त होता है। दशरथ की आत्मा के अवतरण का हेतु संशय-निवृत्ति है जो कि मानव मन के निरन्तर संघर्ष को उजागर करती है। मानव संघर्षरत होता है और उन संशयों की निवृत्ति इसी अन्तसमन के द्वारा ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है किन्तु अबल मन बाह्य जगत् बनता है। अत: यह समस्या और उसका समाधान मानस-जगत् में निरन्तर चलता रहता है। दशरथ की आत्मा के अवतरण की आदिम-कथा एक शाश्वत सत्य बन जाती है जब प्रत्येक काल में उसे अपने समक्ष उजागर होता देखते हैं। काल की सीमाओं को लांघकर हम मिथक को महाकाल में पर्यवसित होता पाते है जहाँ विश्वास और पवित्रता की भावना मिथक को सार्वकालिकता प्रदान करती है। दशरथ की आत्मा का इन्द्रलोक से आगमन (वाल्मीकि-रामायण—लंका कांड) एक ऐतिहासिक परिकल्पना है जिसमें कि केवलमात्र राम को आशीर्वाद देने का आश्वासन है किन्तु मिथक रूप से पर्यवसित होकर यह गाथा मानव को शाश्वत समस्याओं से जूझने के लिए उद्यत करती है।

आज के सन्दर्भ में 'संशय की एक रात' के राम के संशय एवं दशरथ की आत्मा को मिथक-प्रयोग को देखने पर श्री नरेश मेहता की उद्भावना की उपयोगिता एवं सार्थकता साफल्य के सोपानों को निर्द्वन्द्वता से पार करती प्रतीत होती है। मेहता ने सफलता पूर्वक राम के पवित्रतामय कथानक को नवीन रूप में संयोजित कर मिथक मूल्यों में संशय को स्थान दिया है। युद्ध युग-युग के मानव समाज का ज्वलन्त प्रश्न रहा है, जैसाकि हम पहले भी कह आए हैं—जैविक संघर्ष में ही युद्ध का मूल निहित है। इस जैविक संघर्ष में जो सफलता प्राप्त कर लेता है वही जीने का अधिकारी है। युद्ध, मानव समाज का बाह्य युद्ध ही नहीं मानव मन की आन्तरिक स्थितियों में भी निरन्तर युद्ध चलता रहता है। मानव-देह भी युद्ध का कुरुक्षेत्र है जहां निरन्तर दैवी एवं आसुरी शक्तियों के मध्य युद्ध चलता रहता है। यदि आधुनिकतापरक शब्दावली में इसी बात को और अधिक स्पष्ट कहना चाहें तो हम कह सकते हैं -देह के भीतर जीवन को परिसमाप्ति की ओर ले जाने वाले कितने कीटाणु अपनी विध्वंसक कार्यवाहियों में निरन्तर लगे हुए हैं, उनके विरोध में लहू के श्वेत कण (व्हाइट-बलॅड कार्पस्स्लज़) इन विरोधी गुणों वाले कीटाणुओं को समाप्त कर जीवन को बनाए रखने में संलग्न है। ये व्हाइट ब्लड कार्पस्स्लज़ रेड ब्लॅड कार्पस्स्लज़ से ऊर्जा प्राप्त करते हैं। अत: देवासुर संग्राम का नैरन्तर्य बना रहता है, भले ही यह बाह्य क्षेत्र का राम-रावण युद्ध हो अथवा कौरव-पाण्डव युद्ध, इस युद्ध से किसी भी प्रकार का पलायन औचित्यपूर्ण नहीं है। दशरथ और जटायु की आत्माओं का राम के प्रति सम्बोधन इसी जैविक संघर्ष में जुट जाने की सतत प्रेरणा देता है। युद्ध से इतर 'कोई पथ नहीं पथान्त हैं' और 'वह भी युद्धाभिमुख'।[18] इसका आभास राम को ही नहीं अपितु सभी को है, यही आभास हम में आत्म-रक्षण की भावना एवं जैविक-शक्ति संवरण करने का संकल्प अंकुरित करता है। किन्तु राम को इस परिणति के अतिरिक्त किसी अन्य परिणति को जानने का भी औत्सुक्य है—परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग भी तो नहीं है। जीवन की सभी आवश्यकताएं—कीर्ति, यश, धरा, जय, लक्ष्मी किसी की भी कृपा अथवा अनुदान से प्राप्त नहीं होती अपितु आज पर्यन्त यह वर्चस्व के बल पर ही प्राप्त की जाती रही हैं।[19] परिस्थिति-रूपिणी धेनु को निष्ठुर अंगुलियों से दुहना ही कर्त्तव्य है।[20] यह कर्त्तव्य सन् बासठ में चीन के विरुद्ध लड़ते हुए अपनी जान पर खेल जाना है। सन् पैंसठ में पाकिस्तान के द्वारा बलात् थोपे गए युद्ध में विजयी-श्री को प्राप्त करना है। सन् इकहत्तर में बाँगला-उदय एवं भारत विजय, इसी दोहन के द्योतक है। भारत की जनता की यन्त्रणा को भोगते हुए वर्चस्वी जय प्रकाश नारायण द्वारा तानाशाही प्रवृत्तियों के विरुद्ध जन-समूह को आह्वान देना एवं जन-समूह द्वारा यन्त्रणाएं भोगते हुए तानाशाही के खिलाफ़ विजय-श्री को प्राप्त करना तो परिस्थितियों का दोहन है। यह युद्ध अनिवार्य है जब भी अनय एवं बर्बरता जन्म लेगी मानव-संकल्प उसके विरुद्ध उठेगा जरूर। यही 'संशय की एक रात' के माध्यम से श्री नरेश मेहता ने कहना चाहा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1. स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा संशय
   रह रह उठता जग जीवन में रावण-जय-भय !
   'राम की शक्ति पूजा', सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला
   —अपरा—संकलन; पृ. 45 ।
2. लक्ष्मण दत्त गौतम : 'औदात्त्य का लघु वीर काव्य' (निबन्ध) 'आधुनिक साहित्य : विविध परिदृश्य (सं: लाल कथूरिया) पृ. 17-18 ।
3. श्री नरेश मेहता : संशय की एक रात : पृ. 8 ।
4. वही : पृ. 5 ।
5. वही : पृ. 8 ।
6. वही : पृ. 10 ।
7. वही : पृ. 24 ।
8. वही : पृ. 33-34 ।
9. वही : पृ. 37 ।
10. वही : पृ. 41-42 ।
11. वही : पृ. 59-60 ।
12. वाल्मीकि रामायण : युद्ध काण्ड : 119 ।
13. राम चरितमानस : लंका काण्ड ।
14. श्री नरेश मेहता : संशय की एक रात : पृ. 20-27 ।
15. वही : पृ. 64 ।
16. वही : पृ. 23-24 ।
17. वही : पृ. 46 ।
18. वही : पृ. 44 ।
19. वही : पृ. 46 ।
20. वही : पृ. 46 ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० वीरेन्द्र मेहंदीरत्ता
हिन्दी विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़ ।

भारत दुर्दशा तथा आधे अधूरे की वेशभूषापरक रंगयुक्तियां

नाटक एक रंग विधा है। जिस नाटककार ने इस तथ्य को स्वीकार किया उसने रंग-उपकरणों का प्रयोग ठीक उसी तरह से किया जैसे कवि शब्दों का प्रयोग करता है। जिस तरह अन्य साहित्यिक विधाओं में शब्द-सम्प्रेषण के साधन बनते हैं, ठीक उसी तरह नाटक में शब्द-इतर अनेक साधन सम्प्रेषण के माध्यम बनते हैं। मंच-सज्जा, प्रकाश-योजना, ध्वनि-प्रभाव, संगीत, नृत्य, मूक-अभिनय इत्यादि सभी नाट्य-वस्तु के सम्प्रेषण में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। इन सब के केन्द्र में अभिनेता होता है। अभिनेता के सन्दर्भ में ही सभी रंग-उपकरण अर्थ पाते हैं। अभिनेता की वेशभूषा, उसके कार्य-व्यापार, उसकी अनेक चर्याएं तथा मुद्राएं सम्पूर्ण नाट्य-वस्तु के रहस्य को खोलती चलती हैं। भारतीय नाट्य-चिन्तन में भी नेता का अतिरिक्त महत्त्व है। इसीलिए नाटक और रंगमंच का आपसी सम्बन्ध बैठाते हुए नाट्य वस्तु की अपेक्षाओं के अनुरूप सजृनशील नाटककारों ने कुछ प्रयोग किए हैं। यह प्रयोग अपने समय में भले ही अटपटे लगे हों, किन्तु जटिल नाट्य-वस्तु की चुनौतियों को नाटककार सदा स्वीकार करते रहे हैं और उन की सर्जनशील प्रतिभा नयी से नयी रंग-युक्तियों को जन्म देती रही हैं। इन रंग-युक्तियों के पीछे नाटककार के रचना-संघर्ष को आंकना जहाँ आवश्यक है वहाँ इन के माध्यम से नाट्य-वस्तु की परतों को खोलना भी उतना ही ज़रूरी है। इस सीमा को भी स्वीकार करना आवश्यक है कि नाटक को पढ़ते समय इन रंग-युक्तियों की सभी संभावनाओं का परिज्ञान भी संभव नहीं। किस सीमा तक यह प्रभावशाली हो कर नाटककार के लक्ष्य की पूर्ति में सहायक सिद्ध हो सकती हैं इस का परिचय केवल रंगमंच पर ही संभव हैं। रंगयुक्ति से मेरा अभिप्राय है जटिल नाट्य वस्तु को सम्प्रेषित करने के लिए उपकरणों का चमत्कारपूर्ण, मौलिक तथा सोद्देश्य प्रयोग। वेश-भूषा, मंच-सज्जा, ध्वनि-प्रभाव, प्रकाश योजना—इन में से किसी के साथ रंगयुक्ति का सम्बन्ध हो सकता है। इस लेख में भारतेन्दु तथा मोहन राकेश की वेशभूषा से सम्बन्धित रंगयुक्तियों की चर्चा करूंगा।

भारतेन्दु के नाटक भारत दुर्दशा में भारत दुर्दैव का 'आधा क्रिस्तानी आधा मुसलमानी वेश' एक अद्भुत रंगयुक्ति है। इस रंगयुक्ति के माध्यम से नाटककार ने बड़ी कुशलता से अंग्रेज़ों की तत्युगीन दमन-नीति से बचाव करते हुए जन-जागृति पैदा करने का सफल प्रयास किया। इस रंगयुक्ति में कार्य-व्यापार आश्रित व्यंग की योजना है। असल में उस युग में अंग्रेजों की दमन-नीति के कारण यह सम्भव नहीं था कि सीधे अंग्रेज़ी राज्य की आलोचना की जा सके। भारतेन्दु ब्रिटिश राज्य के दमनचक्र से बचते हुए शोषित तथा पीड़ित भारतीय जनता में जागृत्ति उत्पन्न करना चाहते थे। इसी कारण उन्होंने व्यंग तथा विडम्बना (आयरनी) का आश्रय लिया। 'भारत दुर्दशा' नाटक की समूची संरचना के पीछे नाटककार की व्यंग-चेतना ही कार्यशील है। इस की विडम्बना पूर्ण नाट्य स्थितियों तथा पात्र-सृष्टि के भी मूल में यही व्यंग-चेतना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सक्रिय है। यही कारण है कि 'आधा क्रिस्तानी' भारत दुर्दैव तत्कालीन ब्रिटिश राज्य की सभी नीतियों पर चोट करते हुए साथ में सुरक्षा के लिए आधे-मुसलमानी रूप को भी लिए है। जनसामान्य में चेतना फूंकने के लिए आधा-क्रिस्तानी रूप ही असल दुर्दैव का रूप है। यही रूप तत्कालीन ब्रिटिश शासन का भी प्रतीक है क्योंकि इस शासन के अन्तर्गत भारत की दुर्दशा का चित्रण इस नाटक का मूल प्रतिपाद्य है। इसी लिए मुसलमानी अत्याचार तथा धार्मिक हस्तक्षेप के कारण क्षोभ के अनेक चित्र इस नाटक में नहीं है। इसके विपरीत अंग्रेज़ों की अर्थतन्त्र सम्बन्धी नीति और अन्याय के प्रति विरोध को शक्तिशाली रूप से व्यक्त करने के उद्देश्य से ही भारत दुर्दैव को आधा क्रिस्तानी वेश पहनाया गया है। महंगाई, अकाल और सूखा अंग्रेज़ी शासन की अर्थतन्त्र सम्बन्धी कूटनीति का ही परिणाम थे। इसीलिए आधे क्रिस्तानी वेशधारी भारत दुर्दैव की यह चिन्ता है कि कहीं 'शस्य' नामक फौजदार भारत में बच तो नहीं गया। निम्न पंक्तियों की विडम्बना क्रिस्तानी वेशधारी दुर्दैव की चर्याओं द्वारा बहुत गहरा प्रभाव डाल सकती है :—

> कौड़ी कौड़ी को करूं मैं सब को मोहताज।
> भूखे प्राण निकालूं इनका, तो मैं सच्चा राज।
> काल भी लाऊं, मंहगी लाऊं और बुलाऊं रोग।
> पानी उलटा कर बरसाऊं, छाऊं जग में सोग।[1]

यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि जहां एक ओर क्रिस्तानी वेशधारी पात्र की चर्याएं ब्रिटिश अर्थनीति पर गहरी चोट कर रही हैं, वहां साथ ही आधा मुसलमानी वेश प्रत्येक स्थिति में नाटककार की रक्षा भी कर रहा है। आवश्यकता पड़ने पर यही दोष मुसलमानी-शासन पर आरोपित कर नाटककार प्रैस-एक्ट तथा नाटकों पर लगाए प्रतिबन्ध की जकड़न से बच सकता है।

भारत दुर्दैव 'विकरालवदन' है, देखने में 'क्रूर' और हाथ में नंगी तलवार लिए है। क्रिस्तानी वेशधारी दुर्दैव के मूक-अभिनय द्वारा भी अभिनेता वह कुछ व्यक्त कर सकता है जिसे ज़बान पर लाना भी सम्भव न हो और जो प्रैस-एक्ट की पकड़ में भी न आ सके। इस दृष्टि से भारतेन्दु की यह रंग-युक्ति बड़ी सूझ-बूझ वाली थी। साथ ही पांचवें अंक में सात सभ्यों की बैठक में बंगाली का कथन, हमारा देश में भारत-उद्धार नामक एक नाटक, बना है। उसमें अंग्रेज़ों को निकाल देने का जो उपाय लिखा, सोई हम लोग दुर्दैव का वास्ते काहे न अवलम्बन करें।[2] तत्पश्चात् अंग्रेज़ों को निकालने की युक्तियों की चर्चा करके 'अंग्रेज़ों की आंख में धूल' डालने का सकेत भी दिया गया है। इस से स्पष्ट है कि क्रूर विकरालवदन भारत दुर्दैव के आधे क्रिस्तानी रूप द्वारा अंग्रेज़ी शासन की आंखों में धूल डालकर भारतवासियों को इस शासन के कुप्रभाव के प्रति सचेत करना था। उपरोक्त संवाद में लेखक ने भारत दुर्दैव तथा अंग्रेज़ों को एक ही धरातल पर रखा है। इससे और भी स्पष्ट हो जाता है कि मूल रूप में भारत दुर्दैव अंग्रेज़ी शासन का ही प्रतीक था।

आधे क्रिस्तानी रूप वाले भारत दुर्दैव के सैनिकों में रोग और आलस्य के साथ मदिरा भी है। सेना के बल से भारत पर आधिपत्य स्थापित करने वाले शासक किस तरह देश में फैल रहे रोग की चिन्ता न कर अपनी स्वार्थ-सिद्धि में तत्पर थे। रोग से मुक्त न हो पाने का एक कारण अन्धविश्वास और रूढ़िवादिता भी थी। भारत दुर्दैव को यह कहना कि 'महर्ष और टिकस भी यहां आते होंगे, सो उनको साथ लिए जाओ' स्पष्ट करता है कि अंग्रेज़ी शासन के कारण भारत की दुर्दशा का चित्रण भारतेन्दु संकेतों द्वारा करना चाहते हैं। जिस तरह के लम्बे संवादों के द्वारा रोग और आलस्य अपनी विजय-गाथा का ब्योरा देते हैं उस प्रकार महर्घ और टिकस आकर ब्योरा नहीं दे सकते। सरकार की टैक्स-नीति किस तरह देश की दुर्दशा में सहयोग दे रही है, इस का परिचय मदिरा के निम्न कथन से होता है :—

> सरकारहि मंजूर जो मेरो होत उपाय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो सब सों बढ़ि मद्य पै देती कर बैठाय ।।
हमहीं को या राज की परम निसानी जान ।
कीर्ति-खंभ सी जग गड़ी, जब लौं थिर ससि भान ।।[3]

मदिरा को अंग्रेज़ी राज्य की 'निसानी' समझ-कर यदि उस के संवादों की परीक्षा की जाए तो इस पात्र का सारा वक्तव्य अंग्रेज़ी शासन की आलोचना करता दीखेगा। मदिरा अपना जाल कुछ इस प्रकार फैला रही है कि छोटे-बड़े सब इसे अपने 'गले का हार' बना लेंगे। क्रिस्तानी रूप-धारी भारत दुर्दैव की योजना है कि भारत में मदिरापान का विस्तार हो तथा सभी भारतवासी अपनी सुध-बुध भूले रहें। भारतेन्दु ने शांपिन, ब्रांडी, होटल आदि शब्दों के प्रयोग-मात्र से मदिरापान की प्रवृत्ति पर चोट की है। इसी अंक में अंधकार नामक पात्र भी आता है। अंधकार भारत में फैले अज्ञान का ही प्रतीक है। इस से स्पष्ट होता है कि अज्ञान के अन्धकार का लाभ उठा कर भारत दुर्दैव अपनी सफलता चाहता है। आधे क्रिस्तानी भारत दुर्दैव की अन्धकार के प्रति दृष्टि तत्कालीन अंग्रेज़ों की 'पालिसी' को प्रकट करती है।

'भारत दु०—आओ मित्र! तुम्हारे बिना तो सब सूना था। यद्यपि मैंने अपने बहुत से दोस्त भारत विजय को भेजे हैं पर तुम्हारे बिना सब निर्बल हैं। मुझको तुम्हारा बड़ा भरोसा है, अब तुमको भी वहां जाना होगा।'[4]

'आओ मित्र'! कहते हुए भारत दुर्दैव ने क्रिस्तानी-वेशधारी भुजा उठाई होगी। उसी बाजू को अन्धकार के कन्धे पर रखकर यदि यह संवाद बोला जाए तो इस का अर्थ एक गहरी व्यंजना करने लगता है। इस संवाद के सन्दर्भ में भारतेन्दु के आधे क्रिस्तानी वेश की प्रभाव-क्षमता का अनुमान लगाया जा सकता है। भारतेन्दु की इस रंगयुक्ति की क्षमता इस प्रकार के अनेक स्थलों पर देखी जा सकती है।

धर्म के क्षेत्र में आ गई तत्कालीन रूढ़िवादिता तथा सामाजिक कुरीतियों पर चोट करने के लिए भी भारतेन्दु की यह रंगयुक्ति उनकी रक्षा कट्टर-पंथियों से करती थी। सत्यनाश फौजदार जिस बेबाकी से हिन्दू धर्म के विकृत रूप पर प्रहार करता है वह सम्भवत: इस युक्ति के कारण ही है। इस से संभवत: भारतेन्दु की योजना थी कि कट्टर पंथियों के रोष को अंग्रेज़ शासकों की ओर प्रत्यावर्तित कर दिया जाए और जागरूक प्रेक्षक आत्मान्वेषण करके राष्ट्र-हित में लग सके। साथ ही इस युक्ति द्वारा नाटककार ने यह भी सम्प्रेषित किया कि जातिवाद तथा धार्मिक कट्टरता के कारण हिन्दुओं की आपसी फूट का लाभ यह क्रिस्तानी वेशधारी भारत दुर्दैव उठा रहा है। विधवा विवाह निषेध तथा कूप-मंडूकता इत्यादि सामाजिक कुरीतियों का प्रयोग भी यह शासक अपने हित में कर रहे हैं। इस से स्पष्ट है कि इस रंगयुक्ति के कारण भारतेन्दु जहां निर्भय हो कर धर्म तथा समाज की विकृतियों पर चोट कर सके वहां इस रंग-युक्ति द्वारा यह भी संकेत देते रहे कि हमारी आपसी फूट धार्मिक कट्टरता तथा सामाजिक कुरीतियों के कारण ही अंग्रेज़ अपने पांव इस देश में मजबूत कर रहे हैं। आधे क्रिस्तानी वेशधारी भारत दुर्दैव की इन कुरीतियों और विकृतियों का परिचय पाने पर प्रसन्नता का भाव, विडम्बना द्वारा सामान्य भारतवासी की जड़ता और उदासीनता को भेद कर, राष्ट्रीय भावों की प्रेरणा देने में समर्थ हुआ होगा। इस रंगयुक्ति तथा नाट्य संरचना की यह विशेषता है कि पूर्ण-रूप से भारतवासियों की जिन कमियों, दोषों असंगतियों, विसंगतियों का चित्रण सत्यानाश फौजदार तथा अन्य प्रतीकात्मक पात्र करते हैं, सभी का सीधा सम्बन्ध ब्रिटिश शासन से जाकर जुड़ता है और फलस्वरूप राष्ट्रहित की प्रेरणा प्राप्त होती है। भले ही ये कमियां सन्तोष, निरुद्यमता और आलस्य ही क्यों न हों।

भारत दुर्दशा की सब से बड़ी विशेषता इस बात में है कि अंग्रेज़ों की शोषण-नीति का चित्रण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़े सर्जनात्मक ढंग से किया गया है। संवेदनशील साहित्यकार किस तरह तत्कालीन अर्थ-व्यवस्था तथा ब्रिटिश शासन की शोषण प्रक्रिया से परिचित था और उस के प्रति जन-सामान्य को सचेत करना चाहता था, इसका अनुमान 'भारत दुर्दशा' के गम्भीर विश्लेषण द्वारा प्राप्त हो सकता है। भारतेन्दु जब भारत दुर्दैव को विकराल और भयानक रूप में दिखाते हैं तो उनका आशय उसके शोषक रूप को प्रमुखता देने का होगा। भारत दुर्दैव का परिचय देती हुई निम्न पंक्तियां भी इसी आशय को स्पष्ट करती हैं :—

"उपजा ईश्वर कोप से, औ आया भारत बीच।
छार-खार सब हिन्द करूं, मैं, तो उत्तम नहीं नीच।।
मुझे तुम सहज न जानो जी, मुझे एक राक्षस मानो जी।
कौड़ों-कौड़ी को करूं, मैं सब को मुहताज।
भूखे प्राण निकालूं इनका, तो मैं सच्चा राज।"[5]

इस पद्यांश की अन्तिम दो पंक्तियां क्रिस्तानी वेशधारी अंगों द्वारा सोद्देश्य मुद्राओं तथा चर्याओं के साथ विडम्बना को निकालती हुई बोली जाएं तो 'अंगरेज राज को सुख साज' मानने वाले जन-सामान्य के मन में 'धन के विदेश' चले जाने की चिंता उत्पन्न हो सकती थी। इसी नाटक में भारत की 'धन की सेना को' पूरब से पच्छिम और पच्छिम से पूरब तक पीछा कर के—भगाने के लिए अपव्यय, अदालत, फैशन और घूस के गोलों का प्रयोग——यह संकेत करता है कि ब्रिटिश राज्य में प्रशासकीय अपव्यय भारत के धन को पश्चिम की ओर ले जा रहा है और देश गरीब हो रहा है। इसी संवाद की अन्तिम पंक्ति वस्तुस्थिति पर प्रकाश डालकर मार्मिक व्यंग कर रही है। 'धन की सेना ऐसी भागी कि कब्रों में भी न बची, समुद्र के पार ही शरण मिली।' इतनी सीधी और स्पष्ट भाषा में प्रहार भारतेन्दु इस रंगयुक्ति के कारण ही कर सके थे। असल में भारतेन्दु की यह रंगयुक्ति रक्षा का वह कवच सिद्ध हुई जिसमें सुरक्षित रहकर उन्होंने ब्रिटिश शासन पर करारी चोट की और उन के प्रति जन-सामान्य को सचेत किया।

इस में सदेह नहीं कि राजभक्ति की उक्तियां भी कवच का काम देती थीं। साथ ही यह भी स्पष्ट था कि मुग़ल शासकों की अपेक्षा ब्रिटिश राज्य से उन्हें उम्मीद अधिक थी। भले ही प्रत्यक्ष रूप में भारत-वासी महसूस कर रहे थे कि अंगरेज़ कम से कम मुसलमान शासकों की भांति धर्म के नाम पर ध्वंस और कत्लेआम तो नहीं करते। किन्तु प्रबुद्ध साहित्यकार यह जान गये थे कि इन का शोषण भी कत्लेआम से कम नहीं। इसी लिए आधे-मुसलमानी तथा आधे क्रिस्तानी रूप को साथ-साथ रख कर, इस रंगयुक्ति द्वारा भारतेन्दु जन-सामान्य को अंगरेज़ शासकों के परोक्ष अत्याचार के प्रति सचेत कर रहे थे। मुग़ल शासकों तथा अंग्रेज़ शासकों में कोई अन्तर नहीं, एक कत्लेआम करते हैं और दूसरे शोषण। इतनी तल्ख बात इस रंगयुक्ति के कवच में ही कही जा सकती थी।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इस नाटक की संरचना के मूल में वेशभूषा सम्बन्धी यह रंगयुक्ति है जो इस की नाट्य वस्तु को प्रभावपूर्ण ढंग से सम्प्रेषित करने में सफल हुई है। आधे क्रिस्तानी वेशधारी भारत दुर्दैव की रंगयुक्ति के सन्दर्भ में 'भारत दुर्दशा' नाटक के पुनर्मूल्यांकन की आवश्कता है। इस नाटक द्वारा प्रक्षेपित भारतेन्दु की राष्ट्रीय चेतना एक ओर उन्हें प्रबुद्ध युगचेता साहित्यकार के रूप में प्रतिष्ठित करती है और दूसरी ओर उनके नाट्य एवं रंग-शिल्प पर अधिकार को रेखांकित करती है।

नाटक की वेशभूषा में परिवर्तन लाकर एक ही अभिनेता से चार भूमिकाएं करवाने की युक्ति में मोहन राकेश को भी एक सीमा तक सफलता मिली थी। मोहन राकेश के तीसरे नाटक 'आधे-अधूरे'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में इस रंगयुक्ति का प्रयोग हुआ है। संयोग की ही बात है कि जहाँ भारतेन्दु ने अपने युग की सामाजिक धार्मिक तथा राजनीतिक विपत्तियों के प्रति जन-सामान्य को सचेत करने के लिए आधे-क्रिस्तानी तथा आधे मुसलमानी भारत दुर्दैव की योजना की थी, वहाँ आज के महानगरीय मध्यवर्गीय जीवन में परिवेशगत दबावों के कारण आ रहे परिवर्तन को आंकने के लिए मोहन राकेश ने लगभग उसी तरह की रंगयुक्ति का प्रयोग किया है। इस में संदेह नहीं कि जहाँ भारत-दुर्दैव समस्याओं को सतही धरातल पर छूता है वहाँ मोहन राकेश का काले सूट वाला जो अलग-अलग तरह के कोट पहन कर भूमिकाएं बदलता हुआ मंच पर आता है और जीवन के अमूर्त एवं गहन वास्तव को सामने लाता है। भारतन्दु की रंगयुक्ति राजनीतिक ठहराव को भंग करती हुई शासकों की आँखों में धूल डालते हुए जन-सामान्य में चेतना की लहर दौड़ाने में सफल हुई तथा उस ने तत्कालीन साहित्यकार को एक दिशा दी थी। ठीक इसी तरह का ठहराव सन् 60-65 तक हिन्दी नाटक में भी था। उन दिनों नाटककार इतिहास का आश्रय लेकर सम-सामयिक जीवनानुभूतियों को अभिव्यक्ति दे रहे थे। साथ ही कुछ साहित्यकार सामाजिक समस्याओं को विचारात्मक धरातल पर प्रस्तुत कर रहे थे। इस के विपरीत मोहन राकेश के नाटक 'आधे-अधूरे' में महानगरीय मध्यवर्ग के जीवन का सीधा साक्षात्कार है। बदले हुए इस जीवन के दबाव में विभिन्न परिस्थितियों में अलग-अलग इन्सानी चेहरों की पहचान—मोहन राकेश ने एक अभिनेता से अनेक भूमिकाएं करवा के दी हैं। परिस्थितियों की प्रबलता और मनुष्य की विवशता का परिचय इस रंगयुक्ति द्वारा बड़ी सफलता से प्रस्तुत किया गया है। विवश परिस्थितियाँ ही व्यक्ति के रूप को बदलती रहती हैं; मूल रूप में शायद आदमी एक है। इसीलिए मोहन राकेश ने नाटक की योजना इस प्रकार की है कि का०सू०वा० (काले सूट वाला आदमी) पुरुष एक, पुरुष दो, पुरुष तीन तथा पुरुष चार की भूमिकाएं भी करता है और इसी का० सू० वा० की प्रस्तावना इस रंगयुक्ति के पीछे के चिन्तन को प्रकट करती है। एक ओर इस में एक ही व्यक्ति द्वारा अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग रूप लेकर सामने आने को आंका गया है दूसरी ओर परिस्थिति के अनुरूप सहज परिवर्तन की भी परीक्षा की गयी है। यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि नाटककार का आशय स्वार्थसिद्धि से लिए आम आदमी द्वारा बदले जा रहे चालाक पैंतरों की ओर संकेत करना नहीं है। यहाँ अलग-अलग परिस्थितियों की सहज मांग के अनुरूप स्वयं को बदल कर अपने अस्तित्व को बचाने की विवशता की ओर संकेत है। का० सू० वा० का कथन इस सत्य को व्यक्त करता है, 'जो मैं इस मंच पर हूं, वह यहाँ से बाहर नहीं हूं और जो बाहर हूं......' इस तरह से जितनी अलग-अलग भूमिकाएं अपनानी पड़ेंगी, उतना उस के व्यक्तित्त्व में विखण्डन होगा। वह खण्ड-खण्ड में जीने को विवश होगा। अलग-अलग सन्दर्भों में उसके व्यक्तित्व के अलग-अलग रूप ही उजागर होंगे——जो अधूरे होंगे। यही मनुष्य अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए एक प्रकार की परिस्थितियों को निरन्तर झेलेगा तो दूसरी तरह की जीवन स्थितियों को झेलने वाले पुरुष से उसका व्यक्तित्व भिन्न प्रकार का हो जाएगा। एक-सा चेहरा लिए मनुष्य परिस्थितियों से अलग-अलग मुखौटों को पहनकर जीने को अभिशप्त है। इसलिए प्रस्तावना में का० सू० वा० का यह कथन "शायद अपने बारे में इतना कह देना ही काफी है कि सड़क के फुटपाथ पर आप अचानक जिस आदमी से टकरा जाते हैं, वह आदमी मैं हूं। आप सिर्फ घूर कर मुझे देख लेते हैं—इस के अलावा मुझ से कोई मतलब नहीं रखते कि मैं कहाँ रहता हूं, क्या काम करता है, किस-किस से मिलता हूं और किन-किन परिस्थितियों में जीता हूं। आप मतलब नहीं रखते क्योंकि मैं भी आप से मतलब नहीं रखता, और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टकराने के क्षण में आप मेरे लिए वही होते हैं जो मैं आपके लिए होता हूं। इस लिए जहां इस समय मैं खड़ा हूं, वहां मेरी जगह आप भी हो सकते थे.....,, उपरोक्त संवाद के इसी भाव को व्यक्त करने के लिए एक अभिनेता से अनेक (पांच) भूमिकाएं करवा कर इसे उन परिस्थितियों का नाटक बना दिया है जो व्यक्तित्व को निरन्तर रूप देती हैं। इसी रंग-युक्ति द्वारा नाटककार ने यह भी स्पष्ट किया है कि हर व्यक्ति विसंगत जीवन-स्थितियों को भोगता हुआ एक अनिश्चित सी भूमिका अदा कर रहा है। समान जीवन-स्थितियां भोगने वालों में बहुत अन्तर भी नहीं होता। सम्भवतः इसी लिए का० सू० वा० के निम्न कथन के सन्दर्भ में यह रंगयुक्ति अधिक अर्थ देने लगती है :—

> "बात इतनी ही है कि विभाजित होकर मैं किसी न किसी अंश में आप में से हर व्यक्ति हूं और यही कारण है कि नाटक के बाहर हो या अन्दर मेरी कोई भी निश्चित भूमिका नहीं है।"

असल में योजना-विहीन ज़िन्दगी के इस अनिश्चित नाटक के हम सभी ऐसे पात्र हैं जिन की कोई निश्चित भूमिका नहीं है। अस्तित्ववादी दर्शन द्वारा पहचाने गये इस जीवन-वास्तव को नाटककार मोहन राकेश ने एक अभिनेता द्वारा अनेक भूमिकाएं करवा कर प्रक्षेपित किया है। यह सवाल बिल्कुल दूसरा है कि इस रंगयुक्ति में प्रस्तुत जीवन-सत्य को प्रक्षेपित करने की कितनी क्षमता है? क्या एक अभिनेता द्वारा अलग-अलग भूमिकाएं करने मात्र से प्रस्तावना में उठाए गये सभी प्रश्न सम्प्रेषित होते हैं? अथवा नहीं? यह रंगयुक्ति कहां तक सफल रही है? इस में सन्देह नहीं कि बिना प्रस्तावना के अलग-अलग अभिनेताओं द्वारा यदि चारों भूमिकाएं करवा दी जाएं तो 'आधे अधूरे' एक सामान्य सामाजिक नाटक के रूप में तो सामने आता है जहां सावित्री चार अलग-अलग पात्रों में घिरी है; किन्तु तब यह सावित्री का नाटक है और इस का नाम 'सावित्री' रखना ही अधिक उपयुक्त होगा। प्रस्तावना के सन्दर्भ में एक अभिनेता से चारों भूमिकाएं करवाने पर ही यह 'आधे-अधूरे' की आधुनिक जीवन-दृष्टि सम्प्रेषित करने वाला महत्वपूर्ण नाटक बनता है। श्रीमती अमाल अलाना की प्रस्तुति में अलग-अलग नाट्य स्थितियों के अनुरूप प्रस्तावना को बांट कर कोरस की तरह का प्रयोग भी इस रंगयुक्ति के अनुरूप, मूल-कथ्य को प्रभावशाली ढंग से सम्प्रेषित करने की दृष्टि से किया गया लगता है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि मोहन राकेश के नाटक 'आधे-अधूरे' में एक अभिनेता द्वारा पांच अलग-अलग भूमिकाएं करवाने की रंगयुक्ति मूल कथ्य की अनेक परतों को खोलने वाली है यदि नाटक प्रस्तावना के सन्दर्भ में देखा जाए। इस से उन आलोचकों की शंकाओं का निदान भी हो सकता है जो प्रस्तावना को आरोपित मानते हैं। यह रंग-युक्ति प्रस्तावना को मूल नाटक का संश्लिष्ट अंग भी बनाती है।

भारतेन्दु के नाटक 'भारत दुर्दशा' तथा मोहन राकेश के नाटक 'आधे-अधूरे' की रंगयुक्तियों के अध्ययन द्वारा यह स्पष्ट होता है कि रंग-उपकरण तथा रंग-तन्त्र की विविध प्रक्रियाओं का परिचय तथा उन की प्रभाव क्षमताओं की पहचान नाटककार को आज के जटिल जीवन-वास्तव को सम्प्रेषित एवं प्रक्षेपित करने में किस सीमा तक सहायक सिद्ध हो सकती है। रंगतन्त्र की समझ नाटककार की प्रयोग-शीलता को नये क्षितिज देती है।

1. भारत दुर्दशा, गोरखपुर, विश्वविद्यालय प्रकाशन, 1953, पृ. 25।
2. वही—पृ. 40।
3. वही—पृ. 34।
4. वही—पृ. 30, 36।
5. वही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० ब्रह्मदत्त शर्मा
राजकीय उच्चतर विद्यालय
नादौन

कबीर-काव्य में उनके व्यक्तित्व की अभिव्यंजना

कविता का उसके रचयिता के व्यक्तित्व से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। दोनों के सम्बन्ध को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हमें सर्वप्रथम "व्यक्तित्व" का अर्थ स्पष्ट कर लेना आवश्यक होगा। व्यक्तित्व सामान्य अर्थ में व्यक्ति का भाववाचक रूप है। वस्तुतः यह व्यक्ति से सम्बन्धित सभी विशेषताओं एवं गुण-दोषों के लिए प्रयुक्त होता है। साहित्यिक क्षेत्र में यह आँग्ल-भाषा के 'पर्सनैलटी' के पर्याय के रूप में प्रचलित है। 'पर्सनैलटी' के अन्तर्गत व्यक्ति की शारीरिक विशेषताओं से लेकर उसकी वेश-भूषा तक की सभी प्रवृत्तियों का समावेश किया जाता है। किन्तु कविता में कवि के शारीरिक रूप, रंग या उसकी वेश-भूषा का स्थान नगण्य होता है। कविता के माध्यम से कवि अपनी बौद्धिक वृत्तियों एवं भावात्मक प्रवृत्तियों—जीवन दृष्टि, विचार-धारा, भावनाओं-अनुभूतियों आदि की अभिव्यक्ति प्रमुख रूप से करता है। कवि के व्यक्तित्व का निर्माण एकाएक नहीं हो जाता वरन् वह अनेक तत्त्वों के आधार पर शैनः शैनः विकसित होता है। इन तत्त्वों में से तीन प्रमुख हैं—वंश-परम्परा, वातावरण और द्वन्द्व। कविता में कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यंजना का अर्थ है—उसकी पूर्व-परम्पराओं, वातावरण एवं द्वन्द्व की क्रिया-प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति। कवि अपनी कविता में चाहे किसी भी व्यक्ति की भावनाओं एवं अनुभूतियों को व्यक्त करे, उनमें भी अप्रत्यक्ष रूप से उसके निजी व्यक्तित्व की छाप विद्यमान रहती है। वे वस्तुतः उसके व्यक्तित्व एवं जीवन की ही प्रमुख भावनाएं होती हैं अतः कहने का तात्पर्य यह है कि कविता में उसके रचयिता के व्यक्तित्व की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में अभिव्यक्ति अवश्य होती है। इस प्रकार कविता और कवि के व्यक्तित्व में घनिष्ठ सम्बन्ध की स्थापना सिद्ध होती है। यहां हम कबीर-काव्य में उनके अभिव्यक्त-व्यक्तित्व का विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं:-

कबीर एक प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। यही प्रतिभा ही उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग थी। कवि और अकवि में सबसे मूलभूत अन्तर प्रतिभा का ही होता है। यद्यपि यह गुण सभी व्यक्तियों में न्यूनाधिक रूप में विद्यमान रहता है। (अन्तर केवल परिमाण का है) तथापि कवि के व्यक्तित्व का यह एक ऐसा विशिष्ट गुण है जिसके बल पर कवि काव्य-सर्जना करता है। प्रतिभा क्या है? इसका स्पष्ट उत्तर अभी तक नहीं दिया जा सका है। प्राचीन आचार्यों ने इसे 'दैवी शक्ति' या 'ईश्वर प्रदत्त' शक्ति के रूप में ग्रहण किया है। किन्तु आधुनिक विद्वान इस नूतन-सर्जन क्षमता के अर्थ में ग्रहण करते हैं फिर भी इस तथ्य को सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं कि यह एक नैसर्गिक या प्राकृतिक देन है। किसी व्यक्ति में बाह्य साधनों द्वारा प्रतिभा उत्पन्न नहीं की जासकती। अध्ययन एवं अभ्यास के द्वारा प्रतिभा का विकास सम्भव हैं। प्रतिभा कल्पना-शक्ति का एक विशिष्ट प्रकार है जिसे सर्जनात्मक कल्पना के नाम से अभिहित किया जा सकता है। इसी सर्जनात्मक कल्पना (प्रतिभा) के द्वारा कवि विषय-वस्तु का आविष्कार, प्रस्तुतीकरण और साधारणीकरण करता हुआ उसे कलात्मक रूप प्रदान कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देता है। सर्जनात्मक कल्पना का प्रारम्भिक रूप वह है जो विभिन्न प्रकार के नूतन विषयों का अनुसंधान एवं चित्रण कर सके। कबीर ने इस क्षेत्र में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित दोहा उनकी इस सफलता का परिचायक है——

माली आवत देख के कलियां करे पुकारि।
फूले-फूले चुनि लिए कालिह हमारी बारि ॥[1]

उपर्युक्त दोहा किसी पूर्व-रचना पर आधारित नहीं है इनसे कबीर की नूतन विषयों की सर्जन-क्षमता का परिचय मिलता है। सर्जनात्मक कल्पना का दूसरा कार्य विषयवस्तु को बिम्बात्मक रूप में प्रस्तुत करते हुए उसे आकर्षक रूप प्रदान कर देना है। कतिपय क्षेत्रों, विशेषतः विचारों के क्षेत्र में कबीर की कल्पना-शक्ति ने इस लक्ष्य की पूर्ति सफलता पूर्वक की है, यथा—

कबीर मनिषा जनम दुर्लभ है, देह न बारंबार।
तरवर तै फल झड़ि पड़या, बहुरि न लागे डार ॥[2]

कबीर का व्यक्तित्व एक विशिष्ट एवं अनूठे प्रकार का था। उन्होंने अपने उदात्त व्यक्तित्व की दिव्यज्योति से किस ब्राह्मण को नहीं ललकारा— 'मैं कासी का जुलाहा बूझहू मोरा गियाना'। किस योगी को नहीं फटकारा? और किस काजी और मुल्ला को नहीं झाड़ा या दूसरे शब्दों में यों कहिए कि कबीर ने अपने विलक्षण व्यक्तित्व के द्वारा सब को डांट-फटकार कर अपनी सीधी और मर्मस्पर्शी-वाणी से अपनी ओर सहज रूप से ही आकर्षित कर लिया है। ऐसे गुण प्रायः बहुत कम कवियों में ही होते हैं। अतः यह कहने में तनिक भी सन्देह न होगा कि कबीर का व्यक्तित्व साधारण और सामान्य लोगों के व्यक्तित्व से भिन्न था। डॉ० धर्मपाल मैनी ने उनके व्यक्तित्व का सूक्ष्म ढंग से विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए कहा है[3] कि यह कहा जाता है कि उन्होंने कोरी के घर जन्म लिया, लेकिन माँ-बाप का पता नहीं, जीवन भर गृहस्थी रहे लेकिन पत्नी का बोध नहीं, मगहर में भगवान् के दर्शन पाए लेकिन जन्म स्थान का ज्ञान नहीं, जन्म भर कपड़ा बुनते रहे लेकिन भाव का पता नहीं, उमर भर मूर्तियों का विरोध करते रहे किन्तु किसी भी मूर्ति से परिचय नहीं, आयु भर अत्याचारियों से जूझते रहे पर थोड़ा भी परेशान नहीं। अक्षर भर पढ़े नहीं पर सब को पढ़ा दिया। लिखना आता नहीं था पर ब्रह्म-गुणगान में सात समुद्रों को स्याही बनाकर समाप्त कर दिया। उपदेश नहीं दिया परन्तु उपदेशक बने रहे। वेद सुने नहीं पर उनका सार सुना दिया। इतना ही नहीं माँ ने उन्हें सुधारने का भरसक प्रयत्न किया परन्तु उससे सुधरे नहीं, परन्तु स्वयं समाज-सुधारक के रूप में कहे जाने लगे। काव्य के विषय में स्वयं अनभिज्ञ रहे परन्तु काव्य लिखकर सबको जना दिया। गृहस्थी में रह कर धन कमाया नहीं परन्तु माता-पिता का एकत्रित किया धन खर्च कर दिया। भूखे भक्ति करने की चेष्टा की नहीं, भिक्षा लेना पाप समझा, अधिक क्या करते मरते-समय काशी रहे नहीं परन्तु फिर भी काशी-वास का फल प्राप्त किया। यही है उनकी महानता कि जीवन भर महान बने नहीं पर अनायास ही महत्ता ग्रहण कर ली। यही था कबीर का कबीरत्व या व्यक्तित्व। वस्तुतः उनकी मौलिक प्रतिभा, उनका अद्भुत ज्ञान एवं सरल अभिव्यक्ति इतनी सबल एवं सशक्त थी कि कबीर ने अनायास ही साहित्य के क्षेत्र में लोक-प्रियता प्राप्त कर ली।

कबीर का व्यक्तित्व एक प्रकार से क्रान्तिकारी व्यक्तित्व था। उस समय समाज में विविध प्रकार के अन्धविश्वास, कुरीतियां, कुप्रथाएं और आडम्बर आदि प्रचलित थे। कबीर ने इन सबका डटकर विरोध किया। यहां पर कबीर के विषय में यह कहना तर्क संगत ही है कि सूरदास ने यदि सोते हुओं को सहलाया था तो दूसरी ओर तुलसी दास ने उन्हें जगाया था लेकिन कबीर ने जागते हुओं को झकझोरा था। उस समय कबीर ने समाज को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

झकझोरा न होता तो न जाने समाज की क्या दुर्दशा होती।[4] कबीर वास्तव में क्रान्ति की एक सजीव प्रतिमूर्ति थी। उन्होंने समाज के विभिन्न क्षेत्रों में क्रान्ति की जो भावना जागृत की उस से न जाने कितने ही आडम्बरों का उन्मूलन हो गया। उनके क्रान्तिकारी व्यक्तित्व के कारण से ही समाज में पवित्रता, नैतिकता और स्वच्छता का संचार हुआ, उसे देख कर विद्वानों ने कबीर को कभी समाज-सुधारक तो कभी धर्म-सुधारक का राग अलापना आरम्भ कर दिया। यह सब कुछ उनके क्रान्तिकारी व्यक्तित्व का ही परिणाम था। उसमें परस्पर विरोधी तत्वों का अद्भुत सम्मिश्रण दिखाई पड़ता है। एक ओर जब वे काशी के पण्डित को ललकारते हैं तो चट्टान की भांति सुदृढ़ और अडिग दिखलाई पड़ते हैं पर दूसरी ओर रमैया की सेज की ओर अग्रसर होते समय उनके पद किसी नवीन किशोरी के चरणों से भी अधिक कोमल और लचकदार प्रतीत होते हैं। वहां पहुंचकर वे सौ-सौ बल खाने लगते हैं। बड़े-बड़े दार्शनिक एवं विद्वानों के कथन को मात्र कागद-लेखी कहकर ठुकरा देने वाला कबीर जब अपने आराध्य के सम्मुख पहुंचता है तो दैन्य और हीनता की भावना से इस प्रकार गद्गद् हो जाता है कि वह उसे छूने का साहस भी नहीं कर पाता। तार्किकता के क्षेत्र में अत्यन्त शुष्क, तीक्ष्ण, उग्र, आक्रामक, कठोर, उपदेशक और हृदय-हीन प्रतीत होने वाला कबीर भक्ति की भाव-धारा में बहते समय सब से अग्रसर दिखाई पड़ते हैं और अपनी निरक्षरता की खुले-आम घोषणा करते हुए भी जब आवेश में आ जाते हैं तो रूपकों, अलंकारों और प्रतीकों की ऐसी झड़ी लगा देते हैं मानों वे काव्य-शास्त्र में पारंगत हों। ऐसे अद्भुत व्यक्तित्व का आविर्भाव कोई साधारण बात नहीं है। अवश्य ही वे युगावतार की विशेष क्षमता को लेकर अवतरित हुए थे। आचार्य द्विवेदी ने उनके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में यह उचित एवं समीचीन ही लिखा है कि वे भगवान् के नृसिंहावतार की मानो प्रतिमूर्ति थे। नृसिंह की भांति नाना असम्भव समझी जाने वाली परिस्थितियों के मिलन-बिन्दु पर अवतीर्ण हुए थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध-दिशा में गए मार्गों के दोष-गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे। वस्तुतः ऐसा व्यक्तित्व अपने आप में खोज एवं मनन की वस्तु है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर के व्यक्तित्व का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उन्होंने कबीर के काव्य के अन्तराल में बैठकर कबीर के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं[5] उनके विचारानुसार कबीर स्वभाव से फक्कड़, बेपरवाह, उग्र, कुसुमादपि कोमल, वज्रादपि कठोर, सिर से पैर तक मस्तमौला, आदत से अक्खड़, भक्त के सामने निरीह, भेषधारी के सामने प्रचण्ड, दिल के साफ, दिमाग के दुरुस्त, भीतर से कोमल, बाहिर से कठोर, जन्म से अस्पृश्य, कर्म से वन्दनीय थे। इसी प्रकार से द्विवेदी जी ने अन्त में कहा है कि हिन्दी साहित्य के हजारों वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक उत्पन्न नहीं हुआ। महिमा में केवल एक ही प्रतिद्वन्द्वी जानता है—तुलसी दास......मस्ती, फक्कड़ाना स्वभाव और सब कुछ को झाड़-फटकार कर चल देने वाले तेज ने कबीर को हिन्दी साहित्य का अद्वितीय व्यक्ति बना दिया।

कबीर का व्यक्तित्व उदात्त गुणों से परिपूर्ण था क्योंकि जिस साहित्यकार का व्यक्तित्व उदात्त और विशिष्ट या सामान्य लोगों के व्यक्तित्व से ऊपर उठा हुआ हो, उसी के विचार एवं भाव औदात्य-गुण से ओत-प्रोत होते हैं। जहां तक कबीर का सम्बन्ध है, कबीर क्षुद्र और हीनतर विचारों से सर्वथा विमुक्त थे, क्योंकि यह संभव नहीं है कि जीवन भर क्षुद्र उद्देश्यों तथा अधम विचारों से ग्रस्त साहित्यकार कोई स्तुत्य एवं अमर रचना का सर्जन कर सके। कबीर तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन भर हीनतर एवं संकीर्णतम विचारों से जूझते रहे हैं। उनका उन्होंने डटकर खण्डन भी किया है। उनके सामने एक महान् आदर्श था। उसी की प्राप्ति के लिए अपना जीवन लगा दिया। कबीर के काव्य में ऐसे अनेक स्थल है जो उनके व्यक्तित्व पर कुछ न कुछ प्रकाश डालते हैं। यदि वास्तव में देखा जाए तो 'कबीर' शब्द स्वयं महानता का द्योतक है। उनके व्यक्तित्व की महानता 'कबीर' शब्द से ही स्पष्ट हो जाती है। प्रायः यह कहा भी जाता है कि जैसा किसी का नाम है वैसे ही उसके काम होते हैं, यह उक्ति कबीर पर पूर्णरूपेण घटित होती है।

कबीर जहां एक ओर मस्त मौला फक्कड़ और अक्खड़ व्यक्तित्व वाले थे वहां दूसरी ओर वे एक स्वतन्त्रचिन्तक भी थे। उनका गम्भीर चिन्तन कई स्थानों पर इतना गूढ़ और रहस्यात्मक हो गया है कि वह अद्भुत और विचित्र प्रतीत होने लगता है[6]—(।) इतना निगूढ़ कि अच्छे-अच्छे विचारक तक उसकी गहराई में गोते लगाकर उसको समझने में असफल रहते हैं। यदि यह कह दिया जाए कि कबीर अपने राम की भांति ही साधारण बुद्धि के परे की वस्तु है तो अत्युक्ति न होगी। जिस प्रकार कबीर ने अनेक शब्दों में राम के स्वरूप को प्रस्तुत करने का भरसक प्रयास किया है, उसी प्रकार अनेक विद्वानों ने कबीर के व्यक्तित्व को स्पष्ट करने की चेष्टा की है किन्तु यदमित्थम् कह कर कोई उसकी इति पर पहुंचने का दावा नहीं कर सका है। उनको भक्त-ज्ञानी और योगी के व्यक्तित्व में देखकर आलोचक अपनी-अपनी बात कह गए हैं—किसी ने उनमें ज्ञानी के रूप को देख कर अपना एकांगी मत स्थापित कर लिया है। किन्तु कोई भी एक रूप कबीर के व्यक्तित्व को सम्पूर्ण रूप में व्यक्त नहीं कर सकता।

कबीर मूलतः सत्य के अन्वेषी थे और वे जीवन में इसी खोज में व्यस्त रहे। स्वभाव से 'फक्कड़ होने के कारण रूढ़ियों से चिपके रहना उन्हें बिल्कुल पसन्द नहीं था। चाहे कुछ अच्छा हो या बुरा, खरा हो या खोटा, उनसे आयु भर चिपके रहने का सिद्धांत उन्हें मान्य नहीं था। वे तो सत्य के जिज्ञासु और असत्य के कट्टर विरोधी थे। जहां कहीं असत्य का आधिपत्य देखा वहीं उसमें प्रहार करना आरम्भ कर दिया। उन्हें इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं थी कि इस कार्य में सफलता मिलेगी या असफलता। कबीर का उच्च जातियों ने डटकर विरोध किया किन्तु कबीर जैसा मस्तमौला व्यक्ति उनसे कब घबराने वाला था? वे जीवन में कई बार अपने कार्यों की पूर्ति में असफल होने पर भी कभी निरुत्साहित नहीं हुए, निरुत्साहित होते भी कैसे? क्योंकि वे अपना घर ही जलाकर हाथ में मुराड़ा पकड़ कर बाहिर निकल पड़े थे। और उसी को अपना साथी बनाने के इच्छुक थे जो उनके हाथों अपना घर जलवा सके। कबीर का व्यक्तित्व कुछ विचित्र ही ढंग का था। वह ज्ञान, भक्ति और कर्म की सामग्री के अनुपात से तैयार हुआ था।

डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने कबीर के व्यक्तित्व का विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए कहा है[7] कि कबीर का व्यक्तित्व बड़ा विशिष्ट और विचित्र है। यह न मालूम कितनी सत्य और विषम बातों का मिलन-बिन्दु है। सत्य के उस अनन्य उपासक में श्रेष्ठ दार्शनिक, बुद्धिवादिता और चिन्तना, कट्टर क्रान्तिकारी की क्रान्ति और कठोरता, अनन्य भक्त की विनम्रता और प्रेमानुभूति सच्चे आलोचक की स्पष्टवादिता, सच्चे साधु की आचरण-प्रियता, आदर्श-पुरुष की कर्तव्य-परायणता, योगियों की अक्खड़ता और पक्के फकीर की फक्कड़ता थी। वेस्कट् महोदय ने कबीर के विषय में यह उचित ही लिखा है कि साधारणतः यह बात मान ली गई है कि समस्त बड़े-बड़े हिन्दु-संस्कारों में कबीर और तुलसीदास का प्रभाव उत्तरी और मध्य हिन्दुस्तान की अशिक्षित जातियों में स्थायी रूप से अधिक है। सर विलियम हंटर ने बहुत उचित रीति से कबीर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दास को पन्द्रहवीं शताब्दी का 'भारतीय लूथर' कहा है क्योंकि जिस प्रकार मार्टिन लूथर ने रोम के पोपों के आडम्बरों का भण्डा-फोड़ करके उसका विरोध किया, उसी प्रकार कबीर ने भी तत्कालीन हिन्दु और इस्लाम धर्म के परिवर्द्धित बाह्याचार का भरपूर खण्डन करके एकेश्वरवाद का समर्थन किया।

अन्ततोगत्वा, कबीर के व्यक्तित्व का विश्लेषण करने के अनन्तर यही कहा जा सकता है कि कबीर का व्यक्तित्व दिव्य-गुणों से ओत-प्रोत था। वह व्यक्तित्व उदात्त-गुण से युक्त था। विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टि कोण से उनके व्यक्तित्व को अंकित करने की चेष्टा की है। उनके व्यक्तित्व से विषय में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि उनका व्यक्तित्व दिव्य, अनूठा एवं अद्वितीय प्रकार का था। इस प्रकार के व्यक्तित्व वाले कवियों की संख्या साहित्य में नगण्य ही होती है।

1. कबीर ग्रन्थावली—पृ० 30।
2. कबीर ग्रन्थावली—पृ० 70।
3. सन्तों के धार्मिक विश्वास—डॉ० धर्म पाल मैनी, पृ. 250।
4. वही।
5. कबीर—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, उपसंहार
6. कबीर: व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धांत डॉ० सरनाम सिंह पृ० 9, 45।
7. कबीर की विचारधारा—डॉ० त्रिगुणायत पृ० 5, 98।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री रघुनाथ
एम. ए.
हिन्दी विभाग
गुरु नानक देव विश्वविद्यालय
अमृतसर

साहित्यकार के सन्दर्भ में प्रतिबद्धता की चर्चा

साहित्य के क्षेत्र में प्रतिबद्धता की चर्चा नयी नहीं है। पिछले 30—35 वर्षों में प्रतिबद्धता के प्रश्न को जितनी बार और जितने दृष्टिकोणों से उठाया गया है, शायद ही किसी अन्य प्रश्न को उठाया गया हो।

साहित्य में प्रतिबद्धता की चर्चा का आरम्भ प्रगतिवादी साहित्यकारों द्वारा हुआ और इन्होंने ही प्रतिबद्धता शब्द को उसके आधुनिक सन्दर्भों में प्रस्तुत किया। इन लेखकों ने उसी लेखक को प्रतिबद्ध घोषित किया, जो किसी निश्चित 'राजनीतिक दर्शन या विचारधारा' से ज्ञात एवं घोषित रूप से बंधा हुआ हो, तथा वह उसी एक आस्था एवं लेखन-मूल्य के लिए शेष सभी धर्मों को आनुषांगिक महत्त्व देता हो। इन प्रगतिवादी साहित्यकारों के लिए 'किसी निश्चित राजनीतिक दर्शन या विचारधारा से अभिप्राय निश्चित रूप से मार्क्सवादी राजनीतिक दर्शन एवं विचारधारा से था। अतः इनकी दृष्टि में वही लेखक प्रतिबद्ध हुआ, जो मार्क्सवादी विचार या दर्शन से ज्ञात एवं घोषित रूप से बंधा हुआ था। जब इस प्रकार मार्क्सवादी राजनीति से जोड़ कर प्रतिबद्धता की बात की गई तो साहित्यकारों के एक वर्ग द्वारा इस प्रकार की प्रतिबद्धता का दो आधारों पर विरोध किया गया। प्रथम तो उन्होंने कहा कि 'प्रतिबद्धता शब्द को एक विचारधारा-विशेष से जोड़ कर प्रस्तुत करना, इस शब्द के अर्थ को संकुचित करना है, दूसरे इस प्रकार की प्रतिबद्धता लेखकीय स्वतंत्रता पर अंकुश लगाती है। इस आधार पर 'प्रतिबद्धता' को अस्वीकार करने की प्रक्रिया भी आरम्भ हो गयी।

मेरी समझ में 'प्रतिबद्धता' शब्द जहाँ एक बड़े उत्तरदायित्व की ओर संकेत करता लगता है, वहीं इससे ऐसा आभास भी होता है कि कहीं यह शब्द साहित्यकार को किन्हीं निश्चित रेखाओं में बांध कर उसे अन्य सन्दर्भों से काट तो नहीं रहा है? 'प्रतिबद्धता' शब्द का संकुचित अर्थ, उसके इसी प्रकार के प्रयोग का फल है। वस्तुतः आज हम अपनी सकारात्मक एवं नकारात्मक प्रवृत्ति के अनुकूल किसी शब्द का आशय गढ़ने एवं ग्रहण करने लगे हैं, जिससे कई बार वह शब्द अपनी मूल अर्थवत्ता ही खो बैठता है। 'प्रतिबद्धता' शब्द के विषय में भी यही हुआ है। इसी प्रवृत्ति के कारण यह शब्द शब्दकोश में अलग एवं साहित्यिक नेताओं के भाषणों में एक अलग अर्थ प्रस्तुत करने लगा है। जहां तक मैं समझ पाया हूं 'प्रतिबद्धता' शब्द न तो अपने अर्थ में संकुचित है और न ही छोटा। वस्तुतः यह हमारी आत्म-प्रवृत्ति कही जा सकती है, जिसके अनुकूल हम शब्द को उसके विस्तृत एवं संकुचित अर्थों में ग्रहण करने लगे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हुए महत्त्वपूर्ण सवाल यह उठता है कि साहित्यकार के लिए प्रतिबद्धता की मूल्यवत्ता क्या है? क्या किसी निश्चित दर्शन या विचारधारा से बंध कर ही वह किसी ऐसे मूल्य को अभिव्यक्त करना चाहता है, जो जीवन को मंगल-आलोक देगा? क्या ऐसे मूल्य की अभिव्यक्ति इस प्रकार की संकुचित प्रतिबद्धता के बिना संभव नहीं हो सकती? निश्चित रूप से हो सकती है। हमारे विचार में इस प्रकार की घोषित प्रतिबद्धता की अपेक्षा अघोषित गहरी संलग्नता के परिणाम अधिक प्रभावी होंगे।

वस्तुत: जब साहित्यकार किसी विचारधारा या दल की राजनीति से प्रतिबद्ध होकर अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को उसके प्रति समर्पित कर देता हैं तो ऐसी स्थिति में क्या वह अपनी स्वतंत्रता एवं रचनात्मक दायित्व को बनाए रख सकता है? क्या ऐसी प्रतिबद्धता लेखकीय स्वतंत्रता पर हावी नहीं हो जाती? निश्चित रूप से होती है। वस्तुत: साहित्यकार पर कहीं बाहर से नियंत्रण एवं संगठन किया नहीं जा सकता, क्योंकि साहित्यकार प्रचारक नहीं, चिंतक है, जो अपने अन्तर्विवेक पर चलता है, किसी नेता की नीति पर नहीं। इसलिए साहित्यकार के लिए उसके सत्य को आप बाहर से निर्धारित नहीं कर सकते। उसका सत्य तो वही है जिसका साक्षात्कार उसने स्वयं किया है। आप यह देख-मात्र सकते हैं कि उसका सत्य कहीं से चुराया हुआ, उड़ाया हुआ या फिर उधार लिया हुआ तो नहीं है और या फिर यह कि उसने अपने सत्य का साक्षात्कार कितनी गहनता से किया है। स्पष्ट है कि साहित्यकार के लिए आदेश या संगठन की आवश्यकता नहीं है, क्यों दल या प्रतिष्ठान द्वारा आरोपित प्रतिबद्धता, अन्तत: उसके सृजन-कर्म में बाधा पहुंचती है, एवं उसको छोटा करती है। दूसरे इस प्रकार की आरोपित प्रतिबद्धता का ही परिणाम है कि हम, किन्हीं निश्चित मान्यताओं को किसी साहित्यकार की रचना पर थोप कर, उन्हें अपने अनुकूल न मिलने पर, झट से उस साहित्यकार की साधना को नकार कर, उसे घटिया घोषित कर देते हैं।

इतना होने पर भी प्रतिबद्धता के प्रश्न को अर्थहीन नही कहा जा सकता तथा साहित्यकार के लिए उसकी निश्चित रूप से महत्ता है। परन्तु जहां प्रतिबद्धता के स्वीकार की बात किसी खास तरह की राजनीति के सन्दर्भ में की जाती हैं, तो वहां प्रश्न साहित्यिक नहीं रहता। इसलिए प्रतिबद्धता शब्द को एक विचारधारा-मात्र से बांध कर संकुचित कर देना उचित नहीं है और आवश्यकता है उसे विस्तृत अर्थ देने की। हमारे विचार में वह प्रत्येक व्यक्ति, जो समाज में रहता है, उसके परिवेश से जुड़ा है, प्रतिबद्ध कहलाने का हकदार है। वस्तुत: राष्ट्र की राजनीति, अर्थ, शिक्षा आदि के प्रति जो व्यक्ति थोड़ा सा भी सचेत है, जो अपने परिवार, मित्रों एवं सम्बन्धियों के बीच जी रहा है, वह अप्रतिबद्ध होकर रह ही नहीं सकता। प्रतिबद्धता का वास्तविक अर्थ लगाव से है, जुड़ाव से है और वह लेखक जो समाज तथा उसके परिवेश से जुड़ा हैं, प्रतिबद्धता को अस्वीकार नहीं कर सकता।

अत: आज का साहित्यकार शब्द के विस्तृत अर्थ में प्रतिबद्ध तो है परन्तु किसी एक वर्ग एवं विचारधारा के प्रति अति-प्रतिबद्धता की स्थिति से उसे अपने को बचाए रखना होगा। जब साहित्यकार किसी दल या विचारधारा से बंध जाता है, तो फिर वह कई बार उस विचारधारा की गलत बातों को भी सही प्रमाणित करने का प्रयास करता है तथा वही बातें कहता और दुहराता है जो उस दल की विचारधारा के अनुकूल होती हैं। इस प्रकार की सीमित एवं संकुचित राजनीति से बंधे साहित्यकार की रचनाएं क्षणिक महत्त्व भले ही प्राप्त कर लें पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे न तो दीर्घ-प्रभाव वाली हो सकती हैं और न ही टिकाऊ।

उपर्युक्त के आधार पर यही कहा जा सकता है कि लेखक को समाज से जुड़ना है, किसी दल या धारा-विशेष से नहीं। समाज से इसलिए, क्योंकि समाज की व्यवस्था सबके लिए है, सबके हित के लिए है। अतः प्रतिबद्धता समाज के प्रति ही होनी चाहिए, किसी दल, वर्ग या वाद के प्रति नहीं, क्योंकि ऐसा करने से ही साहित्यकार साहित्य के लक्ष्य को एक ओर रख कर उसे पार्टी या मतवाद के प्रचार का माध्यम-मात्र बना देता है जिसमे साहित्य निश्चित रूप से ऐकान्तिक होगा। इसी के साथ समाज एवं सम्पूर्ण मानव-समुदाय से कटाव की स्थिति भी स्वीकारी नहीं जा सकती। प्रत्येक साहित्यकार समाज से जुड़ा होने के कारण स्वतः प्रतिबद्ध है, परन्तु उसे अति-सीमा में प्रतिबद्ध नहीं होना है। ऐसी विवेकपूर्ण स्थिति को स्वीकारने पर ही साहित्यकार सही तरीके से सामाजिक का दायित्व निभा पाएगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री राजेन्द्र स्वरूप वत्स
सर्वेक्षण अधिकारी
भाषा विभाग, हरियाणा
चण्डीगढ़

अहमद बख्श कृत रामायण

कुरुक्षेत्र को सांग-परम्परा के संबंध में अभी तक कोई विशेष शोध-कार्य नहीं हुआ है। कतिपय शोधकों ने इस क्षेत्र के कवियों द्वारा रचित सांगों का छिट-फुट उल्लेख मात्र करके ही चुप्पी साध ली है। उसके साहित्यक सौष्ठव को उद्घाटित करने की बात तो एक ओर रही, लोक-नाट्य के अन्तर्गत उसका मूल्यांकन करने अथवा स्थान निर्धारित करने का भी कोई प्रयास नहीं किया गया है। किशन लाल भाट, नेतराम, लखमीचन्द, हरदेवा, दीपचन्द, बाजे भक्त मांगेराम आदि रोहतक, सोनीपत और उनके निकटवर्ती क्षेत्रों के सांगियों की चर्चा तो प्रायः सुनी गयी है। उन पर कुछ शोधकर्ता शोध कर भी चुके हैं अथवा शोध-रत है, परन्तु कुरुक्षेत्र की सांग परम्परा के संबंध में कोई चर्चा नहीं सुनी गयी और न ही उसको लोक-नाट्य परम्परा के साथ जोड़ने की बात ही किसी ने सोची है। वास्तव में देखा जाये तो यह सांग परम्परा लोक-नाट्य परम्परा में कालक्रम, प्रचुरता, अभिनेयता, सम्प्रेषणीयता आदि की दृष्टि से अग्रणी स्थान रखती है। इसके अतिरिक्त इस नाट्य-परम्परा के अन्तर्गत आने वाले कवियों की रचनाओं में उच्च-कोटि के काव्य-गुण भी परिलक्षित होते है जिसे हम सांग-साहित्य की महती उपलब्धि कह सकते हैं।

कुरुक्षेत्र-भूमि में रचित दो-तीन दर्जन से भी अधिक वृहत् सांगों में अहमद बख्श कृत 'रामायण' के सांग को शीर्ष-स्थान प्राप्त है। यहां यह कह देना आवश्यक है कि यहां की सांग-परम्परा निश्चित रूप से लगभग 175 वर्ष पुरानी है। आज हम इस सांग-परम्परा को विस्मृत कर चुके हैं। इस ऐतिहासिक नगर में अन्तिम बार सांग सन् 1946 के आस-पास खेला गया था। कंवर बाल-कृष्ण 'मुज़तर' के कथनानुसार "सन् 1862 ईस्वी से सन् 1920 ईस्वी तक थानेसर में राग-रंग का साम्राज्य था"। यहां कई अखाड़ों में कई-कई दिनों तक लगातार सांग मंचित किये जाते थे। परन्तु कुछ सांगों के अन्तः-साक्ष्य से यह ज्ञात होता है कि यह सांग-परम्परा सन् 1800 के आस-पास शुरू हुई होगी। सन् 1795 में रचित एक सांग की प्रति कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के हस्तलेख-विभाग में मौजूद भी है और फिर अहमद कृत चन्दकिरण के सांग की दूसरी भेंट की अन्तिम पंक्तियों—'अहमद नित दासी, रहे लड़के सुखबासी, चैत बदी तिथ चौथ सांग छेड़ा सन् ब्यासी,' में उल्लिखित तिथि को यदि हम विक्रमी संवत् मानते हैं, जैसा कि सांग परम्परा के खिलाड़ी श्री हरि नारायण प्रेमी का विचार है, तो इस सांग का रचना काल सन् 1825 बनता है। और फिर भादर या बहादुर सिंह कवि अहमद के गुरु थे जिनका कार्य-काल लगभग सन् 1800 रहा होगा।

कुरुक्षेत्र में सांग के दो प्रमुख अखाड़े थे। एक 'भादर अथवा बहादुर का अखाड़ा' के नाम से विख्यात था तो दूसरा 'नानक का अखाड़ा' के नाम से जाना जाता था। वैसे तो इन अखाड़ों और

CC-0. In Public Domain, Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुरुक्षेत्र के निकटवर्ती अखाड़ों के अनेक कवि हुए है जिन्होंने दो-तीन दर्जन बृहत्-आकार के सांगों की रचना की है। इन में योगेश्वर बालक राम, गोवर्धन दास उर्फ गोगी मिश्र, कृष्ण गोस्वामी, समाई नाथ चुनीलाल आदि मुख्य सांग-रचयिता हुए है, परन्तु इन सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी कवि अहमद बख्श हैं जिन्होंने रामायण, जयमल फत्ता, गूगा, चौहान, सोरठ पद्मनी, चन्द किरण, नवलदे, और कंस-लीला आदि उत्कृष्ट सांगों की रचना की है। हमारा मत है कि यदि इन सब सांगों की निष्पक्ष समालोचना प्रस्तुत की जाये तो उन की परिगणना उच्च-कोटि के साहित्य के अन्तर्गत की जा सकती है। कम से कम 'लोक-नाट्य' शीर्षक के अधीन सब को सम्मानित स्थान तो अवश्य प्राप्त होगा। और फिर उपर्युक्त किस्सों की यदि हम काव्य-तत्त्वों की दृष्टि से समीक्षा करें तो 'रामायण को शीर्षस्थ स्थान प्राप्त होना चाहिये।

रामायण का रचयिता

कुरुक्षेत्र निवासियों में पं० हरि नारायण प्रेमी, पं० प्रेम नाथ कौशिक, श्री माधोराम सारस्वत और अन्य लोगों से जो जानकारी प्राप्त हुई है उसके अनुसार अहमद का जन्म सन् 1800, के आस-पास हुआ होगा, ऐसा माना जा सकता है। वह जाति का मिरासी था। उसकी माता गाने-बजाने का काम करती थी। वह थानेसर के मकबरे वाले स्कूल में पढ़ता था। उसने सात-आठ कक्षा तक शिक्षा ग्रहण की थी। गाने-बजाने का शौक तो उसे पैतृक परम्परा से मिला ही था। बालक अहमद की बचपन से ही कविता लिखने में रुचि थी। वह प्रायः ब्राह्मणों की संगति में बैठा करता था। जहां कहां भी कोई कथा-वार्ता होती तो बालक अहमद लुक-छिप कर इसे सुनता। कहते हैं श्री अहमद बख्श ने रामायण की कथा पं० बूल चन्द जी से सुनी थी, जो पं० केशव दास के पूर्वज थे। रामायण की कथा सुनने के पश्चात् पं० बूल चन्द जी को उसने विधिवत् गुरु-दक्षिणा भी दी थी। कहा जाता है कि बालक अहमद को लाला श्री निवास की दुकान पर राम-कथा सुनते समय अपमानित भी होना पड़ा था। इससे स्पष्ट है कि वह जन्म से मुसलमान जरूर था किन्तु उसकी हिन्दू-धर्म में गहरी आस्था थी, तभी तो वह रामायण की कथा को इतने सुन्दर ढंग से काव्य-बद्ध कर पाया। वह गुरू भादर अथवा बहादुर सिंह का शिष्य था जिन का उल्लेख कवि अहमद अनेक स्थानों पर करता है। अनुमान है कि अहमद की मृत्यु आज से लगभग 117-18 वर्ष पूर्व सन् 1860 के आस-पास हुई होगी।

ग्रन्थ

कुछ लोगों का विचार है कि कवि अहमद अपनी सांग-रामायण के पूरे छः काण्ड लिख नहीं पाये थे। इससे पहले ही उनका निधन हो गया। बहुत से लोग उनकी रामायण के लंका काण्ड का कुछ भाग अथवा कुछ सौ दोहे पं० शंकर लाल एवं देवीकृष्ण द्वारा रचित मानते हैं। ऐसा संभव भी है परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि इस ग्रन्थ के पहले पांच काण्ड और छठे अर्थात् लंका काण्ड का अधिकांश भाग कवि अहमद द्वारा रचित है। यह तथ्य इसकी भाषा एवं शैली से स्पष्ट भी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि कुरुक्षेत्र नगर निवासी पं० प्रेमनाथ कौशिक उर्फ दानों के घर से प्राप्त हुई है। इसके संकलन एवं लेखन का कार्य उनके पिता पं० बेलूराम जी ने, जो स्वयं एक महान् कला-प्रेमी एवं सांग के खिलाड़ी थे, अपनी देख रेख में करवाया था। कातिब का नाम पं० जगदीश मिश्र था। पाण्डुलिपि के दूसरे काण्ड के प्रारम्भिक पृष्ठ पर कातिब ने 24 अप्रैल, 1916 की तिथि अंकित की है जिससे स्पष्ट है कि उस दिन उसने अयोध्या-काण्ड का लिखना आरम्भ किया था। इस प्रकार सभी काण्डों के आवरण-पृष्ठों पर कातिब ने 22-5-17 को तिथि अंकित की है जिसका अर्थ है कि इस तिथि को कातिब ने लिखने का काम समाप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर लिया था। इस प्रकार द्वितीय काण्ड से लेकर छठे काण्ड तक की प्रतिलिपि तैयार करने में उसे लगभग एक वर्ष और एक मास का समय लगा था। इस अनुपात से बाल-काण्ड की प्रतिलिपि तैयार करने में भी कातिब को अढ़ाई-तीन मास लगे होंगे। अतः कुल मिलाकर उस ने प्रतिलिपि तैयार करने का काम वर्ष 1916 के जनवरी मास के मध्य में शुरू करके उसे 22-5-1917 को सम्पूर्ण किया। यह ग्रंथ कितना बड़ा है इसका अनुमान इसी बात से ही लगाया जा सकता है कि कातिब को इसकी प्रतिलिपि तैयार करने में सवा-वर्ष से भी अधिक समय लगा था।

इस 'ग्रंथ' में बड़े रजिस्टर के आकार के 450 से भी अधिक पृष्ठ हैं। पाण्डुलिपि फारसी लिपि में तैयार की गई है, परन्तु इसकी भाषा खड़ी बोली है जिस पर कुरुक्षेत्र की स्थानीय बोली अर्थात् अम्बालवी/कौरवी बोली की स्पष्ट छाप है। समस्त पुस्तक चौमोलों में लिखी गई है। चौमोले के इस प्रकार को "डेढ़ कली का चौमोला" के नाम से अभिहित किया जाता है। सांग के पात्र साज़ की धुन पर इन्हें उच्च स्वर से गाते थे। सभी चौमोलों का किसी न किसी पात्र ने उच्चारण किया है जैसा कि अभिनय एवं सांग को मंचन करने की दृष्टि से अनिवार्य भी है। समस्त ग्रंथ छः काण्डों अर्थात् बाल-काण्ड, अयोध्या काण्ड, बन काण्ड, किष्किन्धा काण्ड, सुन्दर काण्ड और लंका काण्ड में विभक्त है, जिन में क्रमशः 327, 372, 376, 155, 194 और 402 चौमोले हैं। प्रत्येक चौमोले में प्रायः 8 पंक्तियां हैं। अब हम विभिन्न काण्डों से चौमोलें के कुछ नमूने उद्धृत करते हैं। रामायण की बालकाण्ड की प्रथम भेंट इस प्रकार है :—

नमो गणेश नमो सारदा नमो हंस बाहनी देव
नमो रामचन्द्र जी नमो सिया नमो शक्ति नमो
देव
नमो लक्ष्मण जी हनुमत के जत को
नमो भरत नमो शत्रुघन जी नमो माई कौशल्या
पत को
नमो शेष भुजंग नमो पुरजन नमो महि-
सुर नमो सूरज रथ को
नमो तुलसीदास नमो बाल्मीक नमो सब शाय-
रन की मत को
मेरी ढको नादानी, नमो आदर गुरु ज्ञानी

नमन सभन को करत राम लीला मनठानी

दूसरी भेंट इस प्रकार है :—

एक दन्त दयावन्त जती गुरु गौरी पुत्र गणेश
तुम्हें रटतत मुनि जन गुणी सकल सत नाम
आदेश
गुरु तुम बिन कोई कारज नहीं थपता
सत नाम आदेश दातिये सारद जिन कृपा ज्ञान
घट में खपता
सत नाम आदेस तपे सूरज जो पूरब पच्छम
तक तपता
सत नाम आदेस दास तुलसी मुख बरणी राम-
यण जपता
लीला कथ गाता, करो मिल देव सहाता

बहादर सिंह का सिस मुक्ष पद अहमद प्रभु
पाता

उपर्युक्त दोनों चौमोलों से हम इस ग्रंथ की विषय-वस्तु का भली भांति अनुमान लगा सकते हैं। अहमद ने पहली भेंट में आदि-कवि वाल्मीकि, तुलसी दास एवं समस्त कवि-जन समुदाय को नमस्कार करते हुए उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की है। जब हम इस ग्रंथ के कथानक एवं विषय वस्तु की तुलना वाल्मीकि रामायण एवं तुलसी कृत रामचरितमानस से करते हैं तो स्पष्ट पता चल जाता है कि अहमद कृत रामायण के कथानक की मोटी रूप रेखा अधिकतर रामचरित मानस से साम्य लिए हुए हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु यह भी स्पष्ट है कि यह उसका रूपान्तरण मात्र नहीं है। कवि ने अपने ही ढंग से कथा-वस्तु-विन्यास एवं चरित्र-चित्रण किया है। कहीं-कहीं तो मानस की विषय-वस्तु से परे हट कर स्वतन्त्र-ढंग से विषय का वर्णन भी किया गया है। कई स्थानों पर कवि की मौलिक उद्भावनाएं द्रष्टव्य है। उदाहरणार्थ कवि ने नितांत नवीन ढंग से रामचन्द्र की जन्म-कुण्डली का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है। इससे कवि के ज्योतिष-शास्त्र का पंडित होने का पता भी चलता है।

राम-जन्म से सम्बन्धित और उनकी जन्म-कुण्डली का वर्णन जिन चौमोलों में किया गया है, उनमें से कुछ चौमोलों को नमूने के तौर पर यहां उद्धृत किया जाता है :—

दोहा खिलाड़ी का नं० 99

आज इक्ष्वाक के बंस में दशरथ के घर बीच
श्री राम चन्द्र प्रकट हुए शस्त्र धर्म का खींच
प्रकट असुरों का विघ्न बिसारन को
भौम भार ग्रह के टारन को भगतों का कष्ट निवारन को
सतजुग के बचन सुधारन को कौशल्या लाड़ लड़ारन को
दसरथ घर जाये गगन में शब्द बजाये
बैठत देव विमान आन हरि दर्शन पाये

दोहा गुरु वशिष्ट मुनि का नं० 108

अरे राजन राम चन्द्र के जन्म का हम से सुनो बखान
करक के बृहस्पति चन्द्रमा पड़े लगन अस्थान
तृतीय घर राहू कन्या का आया
फिर चौथे शनि तुला का सब सुख दायक कारज छाया
फिर पंचम मंगल मकर का है घर सातम में फेरा पाया
फिर शुक्र मीन के सहित केतू और सूरज मेघ का बतलाया
वृष का बुध प्यारे, ग्रह अच्छे हैं सारे
राम चन्द्र से लाल सफल है जन्म तुम्हारे

इस प्रकार दोहा संख्या 104 से 118 तक में श्री राम चन्द्र जी की जन्म-कुण्डली का ज्योतिष-शास्त्र के आधार पर राजा दशरथ और गुरु वशिष्ट के संवाद के माध्यम से सविस्तार विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसकी तुलना में गोस्वामी तुलसीदास जी ने बालकाण्ड के दोहा संख्या 194 में राम-जन्म का वर्णन इस प्रकार किया है।

जोग लगन ग्रह वार तिथि सकल भये अनुकूल।
चर अरु अचर हर्षजुत, राम जनम सुखमूल ॥

अतएव स्पष्ट है कि जहां तुलसी ने केवल कुछ पंक्तियों में एक विषय का उल्लेख मात्र किया है, वहां पर अहमद ने कई पृष्ठों में उसका विस्तार किया है और यह विस्तार पाठक अथवा श्रोता को अरुचिकर न लगाकर बड़ा मनोरंजक एवं हृदयग्राही लगता है।

कवि अहमद ने विषय का प्रतिपादन बड़े रोचक, सरल एवं सरस ढंग से किया है। चूंकि इस ग्रन्थ की रचना लोक-भाषा के माध्यम से पद्य में की गई है, अत: यह श्रोता अथवा पाठक को मन्त्र-मुग्ध कर लेती है। ग्रन्थ में यथास्थान वीर, शांत, श्रृङ्गार एवं करुण आदि रसों का सफल परिपाक हुआ है। यहां करुण-रस का प्रतिपादन करने वाले कुछ मार्मिक चौमोले सुन्दर काण्ड से उद्धृत किए जा रहे हैं :

दोहा तारा रानी नं० 61

लोथ पास तारा खड़ी सर के पाड़त केस
प्रीतम मुझ को त्याग तू गया कौन से देस
पास में किस के छोड़ी हूं बलमां

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो यूंही छोड़ जाना था काहे को पाई थी गल मां
तू कहता था मुझ सा बली नी हाये यह आज
जान दे दई पल मां
दो तीन वार सर धरन मार मैं भी दूं प्राण इसी
थल मां
मुक० प्रीतम संग जाना न यहां कोई रहा ठिकाना
हो बस में सुग्रीव नहीं सुपने सुख पाना

तारा रानी नं० 65

हा पिया तू नित कहे था मुझे नहीं सकता कोई मार
मोड़ रहीं फिर मुड़ा नी लड़ा बांध हथियार
हृदय बल पराक्रम का अभिमान हुआ
सुग्रीव मदद पर रामचन्द्र आये कह रही नर ज्ञान
हुआ
पिस भावी प्रबल अगार बीच बुद्धवान से आज
नादान हुआ
खा हरि बाण हुआ मूर्छास किया देव लोक अस्थान
हुआ
क्यों नहीं बताता पूछे अंगद की माता
मुझ से विधवापना हाय भुगता नहीं जाता

रामचन्द्र नं० 66

तारा तू हर भगतनी नाहक करत कलेस
काल आगाड़ी जाल को नहीं चल सकती पेश
हमेशा से यही बिध होती आई
कहां गया सगर सौ पुत्र सहित अस्वमेध यग
करता माई
कहां गया देख हरनाकस वो जैसे असुर बुध चित
पर ठाई
कहां धरू तपधारी, कहां गये बावन ब्रह्माचारी
कहां नर सिंह अवतार कच्छ मच्छद अवतारी

तारा रानी नं० 67

हा हा प्रीतम कहां गये नहीं बोलत मुझ साथ
अंगद तुमरे पुत्र के कौन धरे सर हाथ
उम्र नादान सताया बच्चे को
न इल्म पढ़ाया परनाया न शास्त्र सिखाया बच्चे
को
न होश खमोश जोश रण का ऐसा दुख छाया
बच्चे को
न राजनीत की जाने रीत किस के गल लाया
बच्चे को
मुक-आ अग्ङद बेटा, हुआ तू सब से हेटा
ले तेरा बाबल देख आज जंगल में लेटा

उपर्युक्त उद्धरणों से हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुंच जाते है कि अहमद-कृत रामायण उच्च-कोटि की काव्य-कृति है जिसमें उत्तम काव्य के सभी गुण विद्यमान है। आशा है कि जब हिन्दी-जगत् के प्रबुद्ध विद्वान इस कृति का अध्ययन करेंगे तो उसे सत्साहित्य की कोटि में समादृत कर सम्मान-जनक स्थान देंगे।

पुस्तकालय
111505

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा पीएच० डी० के लिए स्वीकृत शोध-विषय
अक्तूबर १९७६ से मार्च १९७८ तक

संख्या	नाम	विषय
1.	सत्यव्रत द्विवेदी	हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में चरित्र और वातावरण
2.	स्वर्ण कान्ता	ए सिनक्रोनिक सीमांटक स्टडी आफ़ दि रामचरितमानस
3.	सरिता भगत	अमृतलाल नगर के उपन्यास-साहित्य में सामाजिक-चेतना का स्वरूप
4.	उमा शशि चोपड़ा	उपन्यासकार प्रेमचन्द तथा नानक सिंह के उपन्यासों में चित्रित समस्याओं का तुलनात्मक अध्ययन
5.	सीता सैनी	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी प्रबन्ध-काव्यों में नैतिक मूल्यों का स्वरूप
6.	सोम दत्त	ऐ कम्पैरिटिव अनैलेसिस आफ खड़ी बोली एण्ड बांगरू
7.	सरिता सूद	महिला कथाकारों के कथा-साहित्य में प्रेम का स्वरूप-विकास (1950 से 1975 तक)
8.	सन्तोष गुप्ता	ए डिसक्रोनिक सीमांटिक स्टडी आफ़ तुलसीज़ अवधी लिट्रेचर
9	जसविन्दर कौर	मध्यकालीन हिन्दी कृष्ण भक्ति काव्य में राधा, रास और रहस्य तत्त्व का अध्ययन एवं स्वरूप-विश्लेषण
10.	सुशीला अरोड़ा	प्रसादोत्तर कालीन नाटक में नायिका की परिकल्पना
11	निर्मल गुप्ता	आधुनिक हिन्दी कविता तथा मानव मूल्य (1943 से 1973 तक)
12.	जसबीर कौर	मुनि आत्मा राम, पंडित श्रद्धा राम फिल्लौरी ओर भाई काहन सिंह नाभा का गद्य-लेखन ; पंजाब में नव-जागरण के विशिष्ट सन्दर्भ में
13.	विश्व बन्धु	हिन्दी का आत्मकथा साहित्य, स्वरूप-विवेचन तथा विकासक्रम
14.	सरोज सन्धीर	खेड़ापीठ के आद्याचार्य श्री रामदास जी महाराज—व्यक्तित्व, वाणी और दर्शन
15.	विनोद कुमार मिश्र	समकालीन नाटक और मनोविश्लेषण
16.	चंचल रानी	हिन्दी के मध्यकालीन नाटकों का अध्ययन—हनुमन्नाटक, विचित्र नाटक एवं देव माया प्रपंच नाटक के विशिष्ट सन्दर्भ में
17.	शहनाज़	हरियाणवी तथा पंजाबी लोक गीतों का तुलनात्मक अध्ययन
18.	ज्ञान सिंह मान	हिन्दी काव्य-नाटकों में नाटकीयता का स्वरूप
19.	प्रेमभूषण गोयल	श्री गुरुवाणी तथा सन्तवाणी के सन्दर्भ में पक्षी-चित्रण का मूल्यांकन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

अप्रैल १९७७ से मार्च १९७८ तक

संख्या	शोधक का नाम	विषय
1.	दर्शन जैन	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक और आधुनिकता
2.	चन्द्रकला गुप्ता	जायसी के काव्य का सौंदर्यशास्त्रीय अध्ययन
3.	ओम प्रकाश आर्य	हरियाणा प्रदेश की लोकोक्तियां, मुहावरे एवं लोक कथाएं ।
4.	लाजवन्ती भटनागर	मीरा का धर्म सम्प्रदाय एवं भक्ति का विवेचन
5.	उषा रानी जैन	हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्यों की स्वच्छन्दतामूलक प्रवृत्तियां
6.	रेखा साहनी	घनानंद के काव्य का सौन्दर्यशास्त्रीय अध्ययन
7.	रमेश गुप्त	भारतेन्दु के साहित्य के आधार पर उनके जीवन-दर्शन का अध्ययन
8.	रमेश मिश्र	प्रसाद के काव्य में बिम्ब-विधान का स्वरूप तथा विशेषताएं
9.	सुनीता मुंजाल	स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी नाटक साहित्य : नाट्य-भाषा के सन्दर्भ में ।

115805

सत्ताइसवां अंक, मार्च, १९७८

मूल्य : पांच रुपया

प्रकाशक तथा वितरक
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

डा० धर्मपाल मैनी द्वारा सम्पादित और अकाल प्रिंटमैटिक्स, एस.सी.ओ. 81,
सैक्टर 24-सी, चण्डीगढ़ द्वारा मुद्रित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar